385

उच्चतर माध्यमिक

नाट्यकला

विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्

राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान

385

उच्चतर माध्यमिक स्तर

नाट्यकला

विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्

राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान

(शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार के अंतर्गत एक स्वायत्त संस्थान)

ए-24-25, संस्थागत क्षेत्र, सेक्टर- 62

नोएडा - 201 309 (उत्तर प्रदेश)

वेबसाइट : www.nios.ac.in निर्मूल्य दूरभाष- 18001809393

आईएसओ 9001: 2008 प्रमाणित

© राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान National Institute of Open Schooling

प्रथम संस्करण 2023 First Edition 2023 (Copies)

ISBN (Book 1)

ISBN (Book 2)

सचिव, राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान, ए-24-25, संस्थागत क्षेत्र, सेक्टर- 62 नोएडा - 201309
(उत्तर प्रदेश) द्वारा प्रकाशित। .... द्वारा मुद्रित।

सलाहकार समिति

प्रो. सरोज शर्मा
अध्यक्ष
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान
नोएडा, (उत्तर प्रदेश)-201309

डॉ. राजीव कुमार सिंह
निदेशक (शैक्षिक)
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान
नोएडा, (उत्तर प्रदेश)-201309

पाठ्यचर्या निर्माण समिति

प्रो. गिरीश्वर मिश्र (समिति अध्यक्ष)
पूर्व-कुलपति
महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, वर्धा
महाराष्ट्र-442005

प्रो. राम नाथ झा
आचार्य, संस्कृत तथा प्राच्य विद्या संस्थान,
जे.एन.यू. नई दिल्ली

प्रो. बलराम शुक्ल
आचार्य, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

श्री अमिताभ श्रीवास्तव
नाट्यकला विशेषज्ञ, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली

डॉ. राम नारायण मीणा
सहायक निदेशक (शैक्षिक)
एवं समन्वयक-भारतीय ज्ञान परंपरा पाठ्यक्रम
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान, नोएडा, (उत्तर प्रदेश)

श्री अर्जुन देव चारण
उपाध्यक्ष, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली
एवं संस्थापक रम्मत थियेटर ग्रुप, जोधपुर (राजस्थान)

प्रो. रजनीश मिश्रा
आचार्य, संस्कृत तथा प्राच्य विद्या संस्थान,
जे.एन.यू. नई दिल्ली

प्रो. पवन कुमार शर्मा
आचार्य,
चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय,
मेरठ, उत्तर प्रदेश

डॉ. प्रवीण तिवारी
सह-आचार्य,
महात्मा ज्योतिबा फुले रोहिलखण्ड
विश्वविद्यालय, बरेली, उत्तर प्रदेश

श्री आसिफ अली हैदर खान
नाट्यकला विशेषज्ञ, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली

पाठ लेखक

प्रो. मीरा द्विवेदी
आचार्य, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

डॉ. विजेन्द्र सिंह
सहायक आचार्य, संस्कृत तथा प्राच्य विद्या संस्थान,
जे.एन.यू. नई दिल्ली

डॉ. दानिश इकबाल
सहायक आचार्य (थियेटर), एजेकेएमसीआरसी
जामिया मिलिया इस्लामिया केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली

डॉ. राम नारायण मीणा
सहायक निदेशक (शैक्षिक)
एवं समन्वयक- भारतीय ज्ञान परंपरा पाठ्यक्रम
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान, नोएडा, (उत्तर प्रदेश)

डॉ. योगेश शर्मा
सह-आचार्य,
कलाकोश विभाग, इन्दिरा गांधी कला केन्द्र, नई दिल्ली

डॉ. मुकेश कुमार मिश्रा
सहायक आचार्य, देशबंधु कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

सुश्री प्रियंका रस्तोगी
अनुसंधात्री,
संस्कृत, दर्शन एवं वैदिक अध्ययन विभाग
बनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

सम्पादक मण्डल

प्रो. राम नाथ झा
आचार्य, संस्कृत तथा प्राच्य विद्या संस्थान,
जे.एन.यू. नई दिल्ली

प्रो. रजनीश मिश्रा
आचार्य, संस्कृत तथा प्राच्य विद्या संस्थान,
जे.एन.यू. नई दिल्ली

डॉ. राम नारायण मीणा
सहायक निदेशक (शैक्षिक)
एवं समन्वयक- भारतीय ज्ञान परंपरा पाठ्यक्रम
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान, नोएडा, (उत्तर प्रदेश)

डॉ. राम चंद्र
सहायक आचार्य, श्यामा प्रसाद मुखर्जी कॉलेज ऑफ वीमेन
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ. राम नारायण मीणा
सहायक निदेशक (शैक्षिक)
एवं समन्वयक- भारतीय ज्ञान परंपरा पाठ्यक्रम
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान, नोएडा, (उत्तर प्रदेश)

ग्राफिक डिजाइनर एवं टीटीपी कार्य

मल्टी ग्राफिक्स
करोल बाग, नई दिल्ली

आप से दो बातें...

समन्वयक वचन

प्रिय जिज्ञासु,

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु सह वीर्य करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

परम्परा को आधार मानकर यह प्रार्थना है कि हमारा अध्ययन विघ्नों से रहित हो। अज्ञान का नाश करने वाला तेजस्वी हो। द्वेष भावना का नाश करने वाला हो। विद्या लाभ के द्वारा सभी कष्टों का निवारण करने वाला हो।

'भारतीय ज्ञान परम्परा' पाठ्यक्रम के अङ्गभूत नाट्यकला का यह पाठ्यक्रम उच्चतर माध्यमिक कक्षा के लिए निर्धारित किया गया है। इस पाठ्यक्रम की अध्ययन सामग्री आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए मैं परम हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ।

विद्वानों का अभिप्राय और अनुभवों के आधार पर नाट्य का फल रस का आस्वादन है। आनंद रस स्वरूप ही है। सभी प्राणियों का सभी कार्य आनंद और सुखपूर्वक सम्पन्न हों, यहीं प्रबल इच्छा है।

इस नए पाठ्यक्रम का उद्देश्य आपके मन में देश और संस्कृति के प्रति गौरव की भावना का विकास करना, संस्कृति की रक्षा के लिए उचित प्रयत्न करने वाले श्रद्धावान शिक्षार्थियों को प्रेरित करना है तथा प्राचीन भारतीय ज्ञान, संपदा, वैज्ञानिकता, सभी मनुष्यों के प्रति उपकारिकता की भावना का गर्व से जगत में प्रचार-प्रसार कर पाने में सक्षम बनाना, हमारे देश की नाट्य परंपरा को सामान्य जन मानस के लिए सर्व-सुलभ बनाना, भारतीय नाटककारों तथा उनकी कृतियों के प्रति सम्मान की भावना का विकास करना, नाट्य के विविध तत्त्वों (कथावस्तु, पात्र, रस, अभिनय, रंगमंच) से शिक्षार्थियों को परिचित कराना, नाट्य निर्माण से संबंधित यथा- नाट्य चयन, नाट्य निर्माण, नाट्य क्रियान्वयन हेतु मंच सज्जा, प्रकाश-ध्वनि-प्रभाव आदि से अवगत कराना है। यह पाठ्यक्रम शिक्षार्थी को एक उत्तम 'सहृदय' के रूप में परिवर्तित करने में भी सक्षम होगा।

शिक्षार्थी पाठों को अच्छी तरह से पढ़कर पाठ में आये प्रश्नों के उत्तरों पर स्वयं विचार कर अन्त में दिए हुए प्रश्नों के उत्तरों को देखें, और उन उत्तरों को अपने उत्तरों से मिलाएं। प्रत्येक पत्र में दिए हुए रिक्त स्थान पर टिप्पणी करनी चाहिए। पाठ के अन्त में दिये प्रश्नों के उत्तरों का निर्माण करके परीक्षा के लिए तैयार हो जाएँ।

शिक्षार्थी अध्ययन काल में किसी भी कठिनता का अनुभव करते हैं, तो अध्ययन केन्द्र में किसी भी समय जाकर के समस्या के समाधान के लिए आचार्य के समीप जाएँ या राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान के साथ ई-पत्र द्वारा सम्पर्क करें। वेबसाइट पर भी संपर्क व्यवस्था है। वेबसाइट www.nios.ac.in इस प्रकार से है।

यह पाठ्य विषय आपके ज्ञान को बढ़ाए, परीक्षा में सफलता को प्राप्त करवाए, आपकी विषय में रुचि बढ़ाए, आपका मनोरथ पूर्ण करे, ऐसी कामना करता हूँ।

अज्ञानान्धकारस्य नाशाय ज्ञानज्योतिषः दर्शनाय च इयं में हार्दिकी प्रार्थना
ॐ असतो मा सद् गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

भवत्कल्याणकामी,
पाठ्यक्रम समन्वयक
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान

अपने पाठ कैसे पढ़ें!

नाट्यकला विषय, उच्चतर माध्यमिक स्तर की इस पाठ्य सामग्री को विशेष रूप से आपकी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए निर्मित किया गया है। आप स्वतंत्र रूप से स्वयं पढ़ सकें इसलिए इसे एक प्रारूप में ढाला गया है। निम्नलिखित संकेत आपको सामग्री का सर्वोत्तम उपयोग करने का तरीका बताएंगे। दिए गए पाठों को कैसे पढ़ना है आइए, जानें।

पाठ का शीर्षक : इसे पढ़ते ही आप अनुमान लगा सकते हैं कि पाठ में क्या दिया जा रहा है। इसे पढ़िए।

भूमिका : यह भाग आपको पूर्व जानकारी से जोड़ेगा और दिए गए पाठ की सामग्री से परिचित कराएगा। इसे ध्यानपूर्वक पढ़िए।

उद्देश्य : प्रस्तुत पाठ को पढ़ने के बाद आप इस पाठ के उद्देश्यों को प्राप्त करने में समर्थ हो जाएंगे। इन्हें याद कर लीजिए।

पाठगत प्रश्न : इसमें एक शब्द अथवा एक वाक्य में पूछे गए प्रश्न हैं तथा वस्तुनिष्ठ प्रश्न हैं। ये प्रश्न पढ़ी हुई इकाई पर आधारित है इनका उत्तर आपको देते रहना है। इसी से आपकी प्रगति की जाँच होगी। ये सवाल हल करते समय आप हाथ में पेंसिल रखिए और जल्दी-जल्दी सवालों के समाधान ढूँढ़ते रहिए और अपने उत्तरों की जाँच पाठ के अंत में दी गई उत्तरमाला से मिलाइए। उत्तर ठीक न होने पर इकाई को पुनः पढ़िए।

आपने क्या सीखा : यह पूरे पाठ का संक्षिप्त रूप है- कहीं यह बिंदुओं के रूप में है, कहीं आरेख के रूप में तो कहीं प्रवाह चार्ट के रूप में। इन मुख्य बिंदुओं का स्मरण कीजिए। यदि आप कुछ अपने मतलब की मिलती-जुलती नई बातें जोड़ना चाहते हैं तो उन्हें भी वहीं बढ़ा सकते हैं।

पाठांत प्रश्न : पाठ के अंत में दिए गए लघु उत्तरीय तथा दीर्घ उत्तरीय प्रश्न हैं। इन्हें आप अलग पृष्ठों पर लिखकर अभ्यास कीजिए। यदि चाहें तो अध्ययन केन्द्र पर अपने शिक्षक या किसी उचित व्यक्ति को दिखा भी सकते हैं और उन पर नए विचार ले सकते हैं।

उत्तरमाला : आपको पहले ही बताया जा चुका है इसमें पाठगत प्रश्नों और क्रियाकलापों के उत्तर दिए जाते हैं। अपने उत्तरों की जाँच इस सूची से कीजिए।

पाठयक्रम

नाट्यकला

मॉड्यूल-1 नाट्यकला का परिचय

1. भारत की नाट्य परम्परा : परिचय तथा इतिहास
2. नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय
3. नाट्य तथा अन्य कलाएँ
4. नाट्य का सौन्दर्यशास्त्र

मॉड्यूल-2 नाट्य के प्रमुख अंग

5. कथावस्तु परिचय
6. पात्र-योजना
7. अभिनय परिचय

मॉड्यूल-3 रस विमर्श

8. रस की अवधारणा
9. रससूत्र का परिचय तथा सहृदय की अवधारणा

मॉड्यूल-4 भारतीय नाटकों का परिचय

10. अभिज्ञानशाकुंतल
11. मृच्छकटिक
12. ध्रुवस्वामिनी
13. प्रबोधचंद्रोदय

मॉड्यूल-5 रंगमंचः तकनीक और अभिकल्पना

14. रंगमंच : परिचय तथा प्रकार
15. रंगसंगीत
16. नवरस साधना
17. मुद्राभिनय एवं मुखाभिनय

मॉड्यूल-6 लोकनाट्य का स्वरूप और प्रकार

18. भारत के प्रमुख लोक नाट्य और लोक नृत्य
19. लोकनाट्य में संगीत की भूमिका

प्रायोगिक पक्ष

मॉड्यूल-7 अभिनय के प्रकार : प्रायोगिक पक्ष

1. आंगिक अभिनय
2. वाचिक अभिनय
3. आहार्य अभिनय
4. सात्विक तथा चित्राभिनय

मॉड्यूल-8 नाट्य का प्रायोगिक पक्ष

5. रंगमंच तकनीक : एक परिचय
6. मुद्राराक्षस

पाठयक्रम

क्र. सं.	विषय सूची	पृष्ठ संख्या
मॉड्यूल-1	**नाट्यकला का परिचय**	
1.	भारत की नाट्य परम्परा : परिचय तथा इतिहास	01-26
2.	नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय	27-60
3.	नाट्य तथा अन्य कलाएँ	61-76
4.	नाट्य का सौन्दर्यशास्त्र	77-92
मॉड्यूल-2	**नाट्य के प्रमुख अंग**	
5.	कथावस्तु परिचय	93-106
6.	पात्र-योजना	107-118
7.	अभिनय परिचय	119-136
मॉड्यूल-3	**रस विमर्श**	
8.	रस की अवधारणा	137-160
9.	रससूत्र का परिचय तथा सहृदय की अवधारणा	161-182
मॉड्यूल-4	**भारतीय नाटकों का परिचय**	
10.	अभिज्ञानशाकुंतल	183-196
11.	मृच्छकटिक	197-210
12.	ध्रुवस्वामिनी	211-224
13.	प्रबोधचंद्रोदय	225-238
मॉड्यूल-5	**रंगमंच: तकनीक और अभिकल्पना**	
14.	रंगमंच : परिचय तथा प्रकार	239-262
15.	रंगसंगीत	263-282
16.	नवरस साधना	283-294
17.	मुद्राभिनय एवं मुखाभिनय	295-310
मॉड्यूल-6	**लोकनाट्य का स्वरूप और प्रकार**	
18.	भारत के प्रमुख लोक नाट्य और लोक नृत्य	311-328
19.	लोकनाट्य में संगीत की भूमिका	329-346

- पाठयचर्या
- आदर्श प्रश्नपत्र तथा अंक योजना
- फीडबैक फॉर्म

टिप्पणी: पाठ्यक्रम को दो भागों में विभाजित किया गया है-

i अनुशिक्षक अंकित मूल्यांकन पत्र (टीएमए) के लिए पाठ

ii सार्वजनिक परीक्षा के प्रश्नपत्र हेतु पाठ

भाग (ii) के पाठों को पुन: दो भागों में इस प्रकार विभाजित किया गया है-

i वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के लिए पाठ

ii विषयनिष्ठ प्रश्नों के लिए पाठ

राट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संथान

विषय- नाट्यकला (385)

पाठयक्रम विभाजन- नाट्यकला (385) उच्चतर माध्यमिक स्तर		
कुल पाठ - 19		
मॉडयूल कुल अंक-60	शिक्षक अंकित मूल्यांकन पत्र (TMA)	सार्वजिनक परीक्षा (Public Examination)
1. नाट्यकला का परिचय (अंक-12)	1. भारत की नाट्य परंपरा : परिचय तथा इतिहास 2. नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय	3. नाट्य तथा अन्य कलाएँ 4. नाट्य का सौन्दर्य शास्त्र
2. नाट्‍य के प्रमुख अंग (अंक-10)	5. कथावस्तु परिचय	6. पात्र-योजना 7. अभिनय परिचय
3. रस-विमर्श (अंक-8)	-	8. रस की अवधारणा 9. रससूत्र का परिचय तथा सहृदय की अवधारणा
4. भारतीय नाटकों का परिचय (अंक-12)	12. ध्रुवस्वामिनी 13. प्रबोधचंद्रोदय	10. अभिज्ञानशाकुंतल 11. मृच्छकटिक
5. रंगमंच : तकनीक और अभिकल्पना (अंक-12)	14. रंगमंच : परिचय तथा प्रकार 17. मुद्राभिनय एवं मुखाभिनय	15. रंगसंगीत 16. नवरस साधना
6. लोकनाट्य का स्वरूप और प्रकार (अंक-6)	-	18. भारत के प्रमुख लोक नाट्य और लोक नृत्य 19. लोकनाट्य में संगीत की भूमिका

मॉडयूल	**सार्वजिनक परीक्षा (प्रायोगिक पक्ष)**	**कुल अंक-40**
7. अभिनय के प्रकार: प्रायोगिक पक्ष	1. आंगिक अभिनय : भेदोपभेद 2. वाचिक अभिनय 3. आहार्य अभिनय 4. सात्विक तथा चित्राभिनय	25
8. नाट्‍य का प्रायोगिक पक्ष		15
	5. रंगमंच तकनीक : एक परिचय 6. मुद्राराक्षस	

मॉड्यूल-1

नाट्यकला का परिचय

इस मॉड्यूल में भारत की नाट्य परंपरा का परिचय तथा इतिहास के विषय में शिक्षार्थियों को अवगत कराते हुए नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय भी प्रस्तुत किया जाएगा। साथ ही नाट्य का अन्य कलाओं से किस प्रकार से संबंध है, इस विषय को भी रेखांकित किया गया है। इसके अलावा नाट्य का सौंदर्यशास्त्र, नाट्य प्रयोजन, चतुर्विध अभिनय जैसे बिन्दुओं पर भी बल दिया गया है।

1. भारत की नाट्य परंपरा : परिचय तथा इतिहास
2. नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय
3. नाट्य तथा अन्य कलाएँ
4. नाट्य का सौन्दर्यशास्त्र

1

भारत की नाट्य परम्परा : परिचय तथा इतिहास

भारत में नाट्य की एक गौरवशाली परम्परा रही है। आचार्य भारत के नाट्यशास्त्र को पञ्चम वेद कहकर नाट्यशास्त्र को विशिष्ट सम्मान प्रदान किया गया है। इस पाठ में हम भारत की नाट्य परम्परा के विभिन्न पक्षों पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप-

- नाट्यकला का सामान्य परिचय जानते हैं;
- भारत की नाट्य-परम्परा को जानते हैं;
- वेदों में नाट्य तत्त्वों के उल्लेख को जानते हैं;
- नाट्यकला के प्रयोजन को जानते हैं;
- नाट्यकला पर लिखे गए प्रमुख ग्रन्थों को जानते हैं;
- नाट्यकला से संबंधित कृतियों और उनके लेखकों को जानते हैं;
- नाट्य-रचनाओं के कालक्रम और इतिहास को जानते हैं; और
- संस्कृत के प्रमुख नाटककारों को जानते हैं।

टिप्पणी

1.1 नाट्यकला का सामान्य परिचय

'नाट्य' शब्द नृत्य, गीत और वाद्य के समुदाय रूप अर्थ को प्रकट करता है। कोशकारों ने नृत्य, गीत और वाद्य की सह-प्रस्तुति को 'नाट्य' कहा है। आदिभरत के अनुसार 'ताण्डव' और 'लास्य' भी नाट्य के ही रूप हैं। अमरकोशकार अमरसिंह ताण्डव, लास्य, नटन, नर्तन, नृत्य और नृत्त को 'नाट्य' का पर्याय मानते हैं। (ताण्डवं नटनं नाट्यं लास्यं नृत्यं च नर्तने। - अमरकोश 17/10)

भरत ने नाट्य को एक सार्ववर्णिक वेद कहा है, जिसमें समस्त ज्ञान, कर्म, शिल्प, विद्याएँ और कलाएँ समाहित हैं।

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥ (नाट्यशास्त्र 1/116)

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने काव्य को दो भागों में विभक्त किया है (1) दृश्य, (2) श्रव्य।

दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।
दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु रूपकम्॥ (सा. द. 6-1)

दृश्यकाव्य में रूपकों (नाटकों) तथा उपरूपकों का ग्रहण होता है, क्योंकि इनका अभिनय किया जाता है। ये दर्शकों के द्वारा देखे जाते हैं। नाटक के लिए संस्कृत में पारिभाषिक शब्द रूपक है, क्योंकि अभिनय की अवस्था में अभिनेता अपने ऊपर नाटकीय पात्र के स्वरूप का आरोप कर लेता है। रूपक के ही 10 भेदों में से एक भेद नाटक है। रूपक के 10 भेद हैं और उपरूपक के 18 भेद हैं। दस रूपकों के नाम हैं: (1) नाटक, (2) प्रकरण, (3) भाण, (4) व्यायोग (5) समवकार, (6) डिम, (7) ईहामृग, (8) अंक, (9) वीथी, (10) प्रहसन।

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश॥ (सा. द. 6-3)

नाटकों में श्रव्यकाव्यों की अपेक्षा हृदयग्राहिता, मनोरंजकता, आकर्षकता, भावाभिव्यंजकता और विषय की विविधता अधिक होती है, अतः श्रव्य-काव्य की अपेक्षा दृश्यकाव्य अधिक जनप्रिय होता है। इसीलिए कहा गया है - **काव्येषु नाटकं रम्यम्।**

भारतीय परम्परा में नटन (नर्तन) क्रिया के तीन भेद माने गए हैं - नाट्य, नृत्त और नृत्य। इनमें से नाट्य एवं नृत्त मूल कलाएँ हैं, जो क्रमशः मनुष्य की अनुकरणात्मक एवं आमोदात्मक मूल प्रवृत्तियों से उत्पन्न हैं तथा भारतीय परम्परा जिन्हें क्रमशः ब्रह्मा और शिव द्वारा सृजित मानती है। कालान्तर में इन दोनों के सांकर्य से जिस तीसरी कला का जन्म हुआ वह है- नृत्य।

टिप्पणी

इस प्रकार नृत्य, गीत, वाद्य और अभिनय का समुदाय रूप अर्थ 'नाट्य' है। 'नाट्य' और 'नटन' ये दोनों शब्द 'नट्' धातु से निष्पन्न होते हैं, जिसका अर्थ होता है - नर्तन, नृत्य या नृत्त। नर्तन और नृत्य शब्द 'नृत्' धातु से बनते हैं, जिसका अर्थ होता है- गात्र-विक्षेपण या अङ्ग-सञ्चालन। गात्रविक्षेपण की यह क्रिया एक सामान्य तत्त्व है, जो नाट्य, नर्तन एवं नृत्य की समस्त विधाओं में पाया जाता है। इनमें कुछ गात्र-विक्षेपण ऐसे भी होते हैं, जिनमें न अर्थ की अपेक्षा होती है और न भावों का अनुसरण ही होता है। केवल ताल और लय पर आश्रित रहते हैं, उसे 'नृत्त' कहते हैं (गात्रविक्षेपमात्रं नृत्तम्)। इसमें भाव-प्रदर्शन के बिना अङ्ग-भङ्गिमाओं के साथ नर्तन होता है। इसमें रस और भाव की अपेक्षा सञ्चालन के चमत्कार पर अधिक ध्यान दिया जाता है। समस्त प्रकार के अभिनयों से रहित अङ्गसञ्चालनमात्र को 'नृत्त' कहा है।

नटन या नर्तन की दूसरी विधा 'नृत्य' है। इसमें भाव-प्रदर्शन अंग-संचालन होता है अर्थात् इसमें अंग संचालन के द्वारा भाव प्रदर्शित किये जाते हैं। रस, भाव और व्यंजना से युक्त अभिनय 'नृत्य' है। अन्य आचार्यों ने इसे नाट्य का स्वरूप बतलाया है।

नटन या नर्तन की तीसरी विधा 'नाट्य' है। इसमें सम्पूर्ण अभिनय होता है और रस की पूरी सामग्री प्रस्तुत की जाती है। भरत के अनुसार इसमें सम्पूर्ण वाक्यार्थ को अभिनय के द्वारा प्रदर्शित करके सहृदय के हृदय में रस का संचार किया जाता है (वाक्यार्थाभिनयरसाश्रयं नाट्यम्)। भरत ने भी आंगिक आदि अभिनयों से युक्त सुख-दुःखादि से समन्वित लोकस्वभाव को 'नाट्य' कहा है।

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते॥ (नाट्यशास्त्र 1/122)

1.1.1 लोकवृत्त का अनुकरण नाट्य है

लोकवृत्तानुकरणं नाट्यम्- भरत ने नाट्य के स्वरूप का विवेचन करने के लिए अनुकरण (अनुकर्ता, अनुकीर्तन और अनुदर्शन शब्दों का) प्रयोग किया है। सामान्य रूप के द्वारा किये गये कार्यों के अनुकरण को 'नाट्य' कहा जाता है। दशरूपककार धनञ्जय ने भी लोक की विभिन्न अवस्थाओं की अनुकृति को 'नाट्य' कहा है। आचार्य धनंजय ने 'नाट्य' का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है -

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते।
रूपकं तत्समारोपात् दशधैव रसाश्रयम्॥

अवस्थाविशेष के अनुकरण को 'नाट्य' कहते हैं। जो देखे जाने के कारण 'रूप' कहा जाता है। उस (रूप) के आरोपण के कारण इसे 'रूपक' कहा जाता है, जो रस का आश्रय लेकर दस प्रकार का होता है। किन्तु अभिनवगुप्त अनुकरण या अनुकृति मात्र को 'नाट्य' नहीं मानते।

टिप्पणी

उनका कहना है कि नाट्यानुभूति तो अनुव्यवसाय रूप अनुकीर्तन से होती है। अतः नाट्य अनुकीर्तन रूप है, त्रिलोकी के भावों का अनुकीर्तन है।

त्रैलोक्यस्यात्र सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।। (ना० शा० 1/108)

इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्य विकल्पज्ञान से सम्पृक्त अनुव्यवसायात्मक कीर्तन रूप है अर्थात् विकल्प से संपृक्त प्रत्यक्षज्ञान नाट्य है। अब प्रश्न यह होता है कि यदि नाट्य अनुकरण रूप नहीं है तो जो 'लोकवृत्तानुकरणं नाट्यम्', 'सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यम्' इत्यादि वाक्यों में नाट्य को अनुकरण रूप कहा गया है।

लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्। (ना. शा. 1/113)
सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद् भविष्यति। (ना. शा. 1/120)

इस पर कहते हैं कि अनुव्यवसाय लौकिक करण का अनुसरण करते हुए प्रवृत्त होता है, अतः नाट्य को अनुकरण कहने में कोई दोष नहीं है। इसी दृष्टि से भरत ने उसे अनुकरण कहा है।

1.1.2 रस-समुदाय ही नाट्य है

अभिनवगुप्त के अनुसार 'नट' के द्वारा प्रस्तुत अभिनय के प्रभाव से प्रत्यक्ष समान प्रतीयमान, एकाग्र मन की निश्चलता से अनुभवनीय नाटक और काव्य-विशेष प्रकाश्य अर्थ 'नाट्य' है। स्वगत-परगत भेद से रहित वह चित्तवृत्ति आस्वाद्यमान होने से 'रस' है। चूंकि 'नाट्य' की पूर्णतः अनुभूति रस में ही होती है, अतः रस ही 'नाट्य' है। इसकी अनुभूति ही 'नाट्य' का परिणाम है।

तेन रस एव नाट्यम्। यस्य व्युत्पत्तिः फलमित्युच्यते।।
(अभिनवभारती भाग 1, पृ० 267)

अतः जिस नाट्यरस की अनुभूति होती है वह मुख्यभूत महारस है। इसमें अन्य महारसों की स्थिति गौण होती है और वे प्रधान रस का ज्ञान समुदाय रूप में करवाते हैं। यह रस नाट्यसमुदाय से समुद्भूत होता है, अतः नाट्य-समुदाय ही रस है अथवा रस-समुदाय ही नाट्य है अथवा 'नाट्य' ही रस है और काव्य में भी नाट्य रूप ही रस होता है। इस प्रकार अभिनव के अनुसार समुदायरूप अर्थ 'नाट्य' है और 'नाट्य' ही रस है तथा रस ही 'नाट्य' है।

नाट्यात् समुदायरूपाद्रसाः। यदि वा नाट्यमेव रसाः।
रससमुदायो हि नाट्यम्। नाट्य एव च रसाः।
काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः।
(अभिनवभारती भाग 1, पृ० 290)

भरत नाट्य का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि यह लोक सुख-दु:ख स्वभाव वाला है। लोक का यह सुखदु:खात्मक स्वभाव जब अंगादि अभिनयों से अभिनीत होता है तो 'नाट्य' कहलाता है।

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदु:खसमन्वित:।
सोऽङ्गाधभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते॥
(नाट्यशास्त्र 1/122)

यहाँ अङ्गादि पद से आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक आदि चतुर्विध अभिनयों का ग्रहण है।

इस प्रकार यह 'नाट्य लोकवृत्त का ही अनुकरण नहीं अपितु त्रिलोकी के भावों का अनुकीर्तन है, अनुदर्शन है, अनुव्याहरण तथा अनुभावन है।

नाट्य का स्वरूप निर्धारण करने में संग्रह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संग्रह क्या है? अभिनव कहते हैं कि जिससे प्रतिपाद्य वस्तु का सम्यक रूप से ग्रहण हो, उसका परिगणन उस वस्तु का संग्रह है। संग्रह का ज्ञान हो जाने पर उस वस्तु की प्रतीति के लिए फिर किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती और वह ज्ञान साक्षात्काररूप ही होता है।

सम्यग्ग्रहणं सङ्ग्रह:। यत: परं निविशङ्कप्रतीत्यर्थ प्रमाणान्तर नार्थ्यते। तच्च साक्षात्काररूपमेव। (अभिनवभारती भाग 1, पृ० 13)

भरत के अनुसार सूत्र (लक्षण) और भाष्य (परीक्षा) में विस्तार से कहे जाने वाले अर्थों का संक्षेप रूप में कथन करना 'संग्रह' है। इस प्रकार संक्षेप में किसी वस्तु का स्वरूप बतलाना संग्रह है।

विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययो:।
निबन्धो य: समासेन सङ्ग्रहं तं विदुर्बुधा:॥
(नाटयशास्त्र 6/9)

भरत के अनुसार आङ्गिक, वाचिक और आहार्य तीन प्रकार के अभिनय तथा गान और वाद्य-ये सब मिलकर नाट्य के पाँच अङ्ग होते हैं। ये पाँच अङ्ग ही भरत को अभिमत हैं। किन्तु नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय में कोहल के मतानुसार ग्यारह अङ्गों का वर्णन है- रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, ज्ञान तथा रंग-ये ग्यारह संग्रह हैं।

रसा भावा ह्यभिनया धर्मीवृत्तिप्रवृत्तय:।
सिद्धि: स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च सङ्ग्रह:॥
(नाटयशास्त्र 6/10)

टिप्पणी

भरत ने संगृहीत अंगों का व्यतिक्रमकर अर्थात् भरत ने क्रम का परिवर्तन कर परिगणन किया है। इनमें रस नाट्य का सूक्ष्म महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, अतः उसका सर्वप्रथम कथन किया है। रस की निष्पत्ति भावों से होती है, अतः रस के बाद निरूपण किया गया है। भावों की निष्पत्ति अभिनय से होती है, अतः भावों के बाद अभिनय का कथन किया गया है। अभिनय के बाद प्रयोजनभूत धर्मी, वृत्ति और प्रवृत्ति का परिगणन है। संग्रह के ये छः तत्त्व नाट्य के आभ्यन्तर एवं अविभाज्य अङ्ग हैं। उसके बाद सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान और रंग-ये पाँच अंग परिगणित हैं। ये बाह्य अंग हैं। इस प्रकार नाट्य के ग्यारह अंग वर्णित हैं।

भट्टोद्भट का कथन है कि यहाँ कोहल के मत से उद्धृत नाट्य के ग्यारह अङ्गों में क्रम का परिवर्तन कर दिया गया है। उनके अनुसार तत्त्वों का क्रम रङ्ग, गान, आतोद्य, स्वर, सिद्धि, प्रवृत्ति, वृत्ति, धर्मी, अभिनय, भाव और रसय इस प्रकार होना चाहिए। किन्तु भट्टलोल्लट इससे सहमत नहीं है। उनका कहना है कि यहाँ क्रम विवक्षित न होने से और उनकी निष्पत्ति का क्रम बतलाने में ग्रन्थकार का तात्पर्य न होने के कारण यह क्रम-परिवर्तन किया गया है, अतः यहाँ क्रमभंग दोष नहीं है।

अभिनवगुप्त कहते हैं कि रस ही नाट्य है जिसकी अनुभूति रस में है, क्योंकि इसके बिना नाट्य में कोई अर्थ प्रवृत्त नहीं होता (**नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते**)। इसलिए नाट्य में जिस रस की अनुभूति होती है वह मुख्यभूत महारस है, अन्य रस इसी महारस के अंशभूत हैं। इसी महारस से अन्य रस प्रसृत होते हैं। वे अन्य रस वैयाकरणों के स्फोटसिद्धान्त के अनुसार असत्य हैं अथवा अन्विताभिधानवाद के समान उपायभूत सत्य के समान हैं अथवा अभिहितान्वयवाद के अनुसार मुख्य रस के समुदाय रूप हैं अर्थात् वे समुदाय रूप में मुख्यभूत महारस का ज्ञान कराते हैं। इस प्रकार नाट्य समुदायरूप रस है अथवा नाट्य ही रस है और रससमुदाय ही नाट्य है। इसलिए नाट्यसंग्रह में एकादशांग का पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है। ये नाट्य में ही अन्तर्निहित हैं। इसीलिए समुदाय रूप अर्थ को 'नाट्य' कहा है।

उस नाट्य का शास्त्र अर्थात् नाट्यवृत्त के शासन के नाम 'नाट्यशास्त्र' है। भाव यह है कि नाट्यशास्त्र नाट्य को समझने का उपायभूत है। अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्य लौकिकपदार्थों से भिन्न अनुकरण, प्रतिबिम्ब, सादृश्य, आरोप, अध्यवसाय, उत्प्रेक्षा, स्वप्न तथा इन्द्रजाल आदि लौकिक प्रतीतियों से विलक्षण, आस्वादन रूप साक्षात्कारात्मक ज्ञान से वेद्य अलौकिक रसात्मक वस्तु है। उस अलौकिक रसात्मक नाट्य का शास्त्र नाट्यशास्त्र है।

अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र को नाट्यवेद का पर्याय माना है। अन्य आचार्य नाट्यवेद शब्द से नटनीय अर्थात् अनुकरणीय नाट्य के आश्रयभूत दश रूपकों को ग्रहण करते हैं। वस्तुतः नाट्य अर्थात् अभिनय से सम्बन्धित सभी विषयों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र नाट्यशास्त्र है। भाव यह है कि नट को नाट्यकला सम्बन्धी सभी प्रकार के विषयों में अनुशासित करने वाला शास्त्र नाट्यशास्त्र है।

टिप्पणी

पाठगत प्रश्न 1.1

1. सार्ववर्णिक वेद किसे कहा गया है?

2. रूपक के कितने भेद होते हैं?

3. नाट्य किसका अनुकरण है?

4. आचार्य भरत के अनुसार नाट्य के पाँच अंग कौन से हैं?

1.2 भारत में नाट्य-परम्परा

परम्परागत प्रसिद्धि के अनुसार नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत मुनि हैं और सभी इनके नाट्यशास्त्र-कर्तृत्व को असंदिग्ध रूप से स्वीकारते चले आ रहे हैं। मुनि भरत स्वयं एक पौराणिक व्यक्ति हैं जिनकी पहुंच देवलोक से भूतल तक वर्णित की गयी है। पुराण आदि में अनेक भरतों का उल्लेख मिलता है-यथा दशरथपुत्र भरत, दुष्यन्तपुत्र भरत, मान्धाता के प्रपौत्र भरत तथा जड़ भरत। नाट्यशास्त्र के अनुसार मुनि भरत ने ब्रह्मा से नाट्यवेद की उपलब्धि की तथा अपने एक सौ पुत्रों को नाट्यवेद की शिक्षा दी जिसमें से अनेकों ने बाद में नाट्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों की रचनाएँ की थीं। भरत ने स्वयं भी 'महेन्द्र-विजय' (नाटक), त्रिपुरदाह (डिम) तथा अमृतमन्थन (समवकार) नामक रूपकों के अभिनय प्रयोगों को विभिन्न अवसरों पर प्रस्तुत किया।

नाट्यशास्त्रीय रचनाओं से धनिक एवं धनंजय के दशरूपक, नन्दिकेश्वर के अभिनयदर्पण, शारदातनय के भावप्रकाशन, अभिनवगुप्तरचित नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती टीका, शिंगभूपाल के रसार्णवसुधाकर तथा सागरनन्दी के नाटक-लक्षण-रत्नकोश आदि सभी नाट्यशास्त्रीय रचनाओं में भरत को बड़ी श्रद्धा के साथ नाट्यशास्त्राचार्य के रूप में उल्लिखित किया गया है। भरत मुनि महर्षि पाणिनि की तरह नाट्यविद्या के सूत्रकार के रूप में परम्परा से प्रसिद्ध हैं। इसी कारण नाट्यशास्त्र का दूसरा नाम भरतसूत्र भी है। सूत्ररूप में शास्त्रीय तत्वों के प्रतिपादन की प्रवृत्ति इस ग्रन्थ की मुख्य शैली है।

नाट्यशास्त्र में भरत शब्द का अभिनेता, सूत्रधार आदि के लिये भी प्रयोग मिलता है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र के अनुशीलन के कारण नाट्याचार्यों तथा भरतों की एक अक्षुण्ण परम्परा प्रवहमान रही जिन्हें भरत संज्ञा प्राप्त थी।

नाट्यशास्त्रीय विवरणों से भरतमुनि के भूतल पर निवास स्थान का भी यत्किंचित् आभास मिल जाता है। नाट्यशास्त्र में हिमालय पर्वत पर अवस्थित भगवान शिव के आदेश पर तण्डु से ताण्डव का ज्ञान भरत मुनि ने प्राप्त किया था तथा उन्हीं के समक्ष त्रिपुरदाह नामक डिम

(रूपक) को प्रस्तुत भी किया था। नाट्यशास्त्र में हिमालय पर्वत के सहज एवं मनोमोहक वर्णन के साथ शिव एवं पार्वती के ताण्डव तथा लास्य के विवरणों से यही प्रतीत होता है कि भरत मुनि का आवास (या आश्रम) हिमालय पर्वत के किसी क्षेत्र में रहा होगा। इसी कारण प्रायः काश्मीर में ही नाट्यशास्त्र का परम्परागत अध्ययन सर्वाधिक होता रहा था और इसी कारण काश्मीरी विद्वानों में से ही जैसे भट्ट लोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्तपाद आदि ने ही नाट्यशास्त्र की व्याख्याएँ लिखी हैं। नाट्यशास्त्र में नाट्य के सहायक तत्वों के रूप में अलंकार, छन्दःशास्त्र तथा संगीत का भी विस्तृत विवेचन मिलता है।

1.2.1 नाट्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य

नाट्यशास्त्र में प्रसंगवश अनेक आचार्यों का उल्लेख मिलता है। इस सन्दर्भ में नाट्यवेद की रचना के प्रसंग में ब्रह्मा, तण्डु के लिए ताण्डव शिक्षा-प्रसंग में शिव, लास्य-शिक्षा (सुकुमार भाव भङ्गिमाओं से युक्त नृत्य) में पार्वती, शब्द-लक्षण के प्रसंग में पूर्वाचार्य, गांधर्व के प्रसंग में स्वाति, छंद निरूपण में गुह, ध्रुवाओं के प्रसंग में नारद, अङ्गहार तथा करण के प्रसंग में तण्डु तथा नन्दी और मानवीयगुणों के प्रसंग में बृहस्पति का आचार्य के रूप में उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त नाट्योत्पत्ति के प्रसंग में भरत ने अपने एक सौ पुत्रों (नाट्यप्रयोक्ता तथा शास्त्रप्रणेता सहित) का उल्लेख किया है। इन्हें भरतमुनि के समकालीन नाट्यशास्त्रकार आचार्यों के रूप में भी देखा जाता है। इनमें अभिनयदर्पणकार नन्दी (नन्दिकेश्वरर, तण्डु), भरत के उत्तराधिकारी रूप में निरूपित आचार्य कोहल, रेचक, करण, अगंहार तथा संगीत के प्रसंग में तुम्बुरु, स्वाति, कृशाश्व, वासुकि, याष्टिक मुनि, वीणावादन में प्रवीण विश्वावसु, वात्ययि, शाण्डिल्य एवं धूर्तिल अभिनयशास्त्र के प्रामाणिक आचार्य शार्दूल, स्कीन्दव और शुक्र, स्कन्द के शिष्यत अगस्त्य, काश्यप, दत्तिल, नखकुट्ट तथा अश्मकुट्ट, बादरायण और शातकर्णी आचार्य के रूप में विदित होते हैं।

भरतमुनि की मध्यकालीन नाट्यपरम्परा के आचार्यों में विशाखिल तथा चारायण, कात्यायन, राहुल तथा गर्ग, शकलीगर्भ तथा घण्टक, नाट्यवार्तिककार हर्ष, मातृगुप्ताचार्य तथा सुबन्धु आचार्य का नाम आता है।

1.2.2 भरत नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र पर अनेक आचार्यों द्वारा व्याख्याएं लिखी गयी थीं। इस समय केवल अभिनवभारती ही उपलब्ध है, जिससे नाट्यशास्त्र पर लिखित व्याख्यानों, वार्तिकों तथा स्वतंत्र नाट्य रचनाओं के विषय में हमें ज्ञान होता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने उद्भट को नाट्यशास्त्र का एक व्याख्याकार माना जिसका समर्थन शाङ्र्गदेव के संगीत-रत्नाकर से भी होता है। संगीत रत्नाकर ने कीर्तिधर आचार्य को भी नाट्यशास्त्र का एक व्याख्याकार बतलाया है। इसके अतिरिक्त इसने ही नाट्यशास्त्र के रसविषयक व्याख्याक्रम में उत्पत्तिवादी आचार्य भट्ट लोल्लट (अपराजिति), रसशास्त्र के व्याख्यान में अनुमितिवादी आचार्य श्रीशंकुक, रसशास्त्र के

व्याख्यान क्रम में साधारणीकरण-सिद्धान्त के उद्भावक एवं भुक्तिवाद के प्रवर्तक आचार्य के रूप में विख्यात भट्ट नायक तथा काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त दर्शन तथा तन्त्रादि शास्त्रों के पारङ्गत विद्वान महान् ज्ञानी तथा मध्यकालीन भारत की प्रतिभामण्डित विद्वत्शृङ्खला में मध्यमणि की तरह विलक्षण व्यक्तित्व के धनी अभिनवगुप्त प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त अभिनवभारती में आचार्य भट्टयन्त्र, आचार्य कीर्तिधर, नान्यदेव, भट्टतोत आदि आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है।

नाट्य-परम्परा में उत्तकरकालीन ग्रन्थालंकारों के रूप में नाट्य पर लिखे जाने वाले प्रकरण ग्रंथ परम्परा में दशरूपककार धनञ्जय (11 वीं शताब्दि् के आचार्य) प्रमुख हैं। इनके भाई धनिक ने दशरूपक पर अवलोकवृत्ति लिखी। नाटक-लक्षणरत्न कोष के रचनाकार सागरनन्दी (11 वीं शताब्दी) , विद्वानों के पारखी तथा आश्रयदाता, गम्भीरतत्त्वविचारक एवं विविध शास्त्रतत्त्वों के विज्ञाता एवं अनेक ग्रन्थों मुख्यत: अलंकारशास्त्र ग्रन्थों सरस्वतीकण्ठा्भरण तथा शृंगारप्रकाश के रचनाकार राजा भोज (11 वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध), अलंकारशास्त्रीय ग्रंथ काव्यांनुशासन के लेखक आचार्य हेमचन्द्र (12 वीं शताब्दी), 'नाट्यदर्पण' ग्रंथ के रचनाकार रामचन्द्र गुणचन्द्र (हेमचन्द्राचार्य के दोनों शिष्य), अलंकारशास्त्र सम्बन्धी् ग्रंथ अलंकार-सर्वस्व तथा सहृदयलीला के लेखक काश्मीर के निवासी रूय्यक (12 वीं शताब्दी), भावप्रकाशन नामक ग्रंथ के रचनाकार शारदातनय, शिङ्गभूपाल (स्थितिकाल ईस्वी 1310 या चतुर्दश शताब्दी का प्रथम चरण) की सुप्रसिद्ध नाटयशास्त्रीय कृति है- 'रसार्णव-सुधाकर'। विश्‍वनाथ का प्रसिद्ध अलंकरशास्त्रीय ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' है। साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद में नाटकीय तत्वों का विवेचन किया गया है। इसमें नाट्यलक्षण, रूपकों के विभेद, उपभेद, अर्थप्रकृति सन्धि आदि सभी अंगों को उदाहरण सहित स्पष्ट किया है। इनका स्थितिकाल (1430 ई. पन्द्रहवीं शती का प्रथम चरण) माना जाता है। भारतीय नाट्य परम्परा में उक्त नाट्याचार्यों का विशेष स्थान है।

नाट्यशास्त्रीय प्रकरणग्रंथों के इस क्रम में आगे चलकर विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' पर प्रसिद्ध टीकाकार कुमारस्वामी (15 वीं शताब्दी) ने 'रत्नापण' नामक टीका लिखी। मेवाड के प्रसिद्ध राजा महाराणा कुम्भ ने रसशास्त्रीय रसरत्नकोश का प्रणयन किया। चौतन्य महाप्रभु के शिष्य रुपगोस्वामी की रचनाएँ- नाटकचन्द्रिका, उज्ज्वल नीलमणि तथा भक्तिरसामृतसिन्धुर हैं। रूप गोस्वामी कृत नाटक चंद्रिका(16 वीं शताब्दी), सुंदरमिश्र कृत नाट्यप्रदीप तथा कामराजदीक्षित ने काव्येंदुप्रकाश जैसे ग्रंथों की रचना कर भारतीय नाट्य-परम्परा का पोषण किया है।

पाठगत प्रश्न 1.2

1. नाट्यशास्त्र के रचयिता कौन है?

2. अभिनवदर्पण के रचनाकार कौन हैं?

टिप्पणी

3. ताण्डव और लास्य किससे संबंधित हैं?

4. सहृदयलीला के रचनाकार हैं?

1.3 वेदों में नाट्य तत्त्व की पहचान

नाट्यकला का आविर्भाव किस प्रकार हुआ इस विषय में भरत मुनि ने एक कथा नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में बतलायी है जो इस प्रकार है -

सत्ययुग बीत जाने पर जब त्रेतायुग प्रारंभ हुआ तब प्रजाजन काम और लोभ के वशीभूत होकर इन्द्रिय-लोलुप हो गए और ईर्ष्या, क्रोध आदि से अभिभूत होकर अपने-अपने कर्मो के अनुसार सुखी या दु:खी रहने लगे। स्त्री और शूद्रों के लिए वेद का सुनना तक संभव नहीं था। अत: उन्हें सत्कर्मों का ध्यान कराने का कोई साधन नहीं था। ऐसे समय में एक दिन इन्द्र आदि देवगण ब्रह्मा के पास जाकर प्रार्थना करने लगे कि आप पाँचवें वेद के रूप में हमारे लिये एक ऐसा क्रीडनीयक (खेल, मनोरंजन का साधन) बनाइये जो दृश्य भी हो और श्रव्य भी तथा जिसे सभी वर्गों के लोग अपना सकें। देवताओं का अनुरोध स्वीकार कर ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य (संवाद, कथोपकथन आदि), यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से संगीत और अथर्ववेद से रस को ग्रहण कर पाँचवें "नाट्यवेद" की रचना की।

तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्॥
(ना. 1-12)

एवं संकल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसंभवम्॥
(ना. 1-16)

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान्रसानाथर्वणादपि॥
(ना. 1-17)

देवताओं ने इसके ग्रहण, धारण और प्रयोग करने में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए ऋषियों के द्वारा इसका प्रयोग करवाने का आग्रह किया। तब ब्रह्मा ने भरत मुनि को इस नाट्यवेद की शिक्षा दी तथा उन्हें अपने सौ पुत्रों के सहयोग से इसका प्रयोग करने का आदेश दिया। भरत मुनि ने अपने सौ पुत्रों को इस नाट्य की शिक्षा देकर जब ब्रह्मा के सामने अभिनय करवाया तब इसमें कैशिकी वृत्ति (गीत, नृत्य आदि से युक्त शृंगारपूर्ण अभिनय) की योजना करने का परामर्श दिया और इस कार्य के लिए अपने मन से अप्सराओं की सृष्टि कर भरत मुनि को प्रदान की। इस प्रकार नाट्य को पूर्ण रूप प्राप्त होने पर इन्द्रध्वज महोत्सव में इसका प्रथम प्रदर्शन किया गया, जिसमें देवासुर संग्राम में देवताओं की विजय दिखलायी गयी थी। इसे देखकर दैत्यगण नाराज हो गये और विघ्न उत्पन्न करने लगे। तब नाट्यमंडप की आवश्यकता

अनुभव की गयी। विश्वकर्मा ने विचारपूर्वक एक श्रेष्ठ प्रेक्षागृह का निर्माण किया। उधर ब्रह्मा ने दैत्यों को समझाया। तब इस बन्द रंगमंडप में 'अमृतमंथन' नाम का नाटक सर्वप्रथम किया गया। इसके बाद विभिन्न देवलोकों में नाट्य के नियमित प्रदर्शन होने लगे। देवताओं से लगातार प्रशंसा पाकर भरतपुत्रों को अपने नाट्यकला के ज्ञान का बहुत अभिमान हो गया। एक बार उन्होंने किसी नाट्य प्रदर्शन में दूसरे ऋषि-मुनियों की खिल्ली उड़ाते हुए उन पर आक्षेपपूर्ण व्यंग्य प्रस्तुत कर डाला। इससे मुनिजन क्रुद्ध हो गए और उन्होंने भरतपुत्रों को शाप दिया कि इस नाट्य का नाश हो जाए तथा भरतपुत्र शूद्र हो जायें। इसको सुनकर देवता चिन्तित हो गये और उन्होंने ऋषियों के पास जाकर अपना शाप वापस लेने की प्रार्थना की। तब ऋषियों ने कहा कि नाट्यविद्या तो नष्ट नहीं होगी, लेकिन शाप का शेष प्रभाव वैसा ही बना रहेगा।

इसके बाद राजा नहुष को देवलोक में इन्द्र का पद प्राप्त हुआ, तब उन्होंने स्वर्ग में अप्सराओं द्वारा अभिनीत नाट्यप्रयोग देखा। इसे देखकर उन्होंने देवताओं से प्रार्थना की कि पृथ्वी पर स्थित राजमहल में भी इस नाट्य का प्रदर्शन किया जाये। तब देवताओं ने कहा कि अप्सराओं के द्वारा भूलोक में नाट्य का प्रदर्शन संभव नहीं है, लेकिन यह कार्य आप भरतपुत्रों को पृथ्वी पर ले जाकर अवश्य सम्पन्न करा सकते हैं। नहुष ने भरतमुनि से भूतल पर नाट्य प्रस्तुत करने की प्रार्थना की, जिसे स्वीकार कर भरतमुनि ने अपने पुत्रों को पृथ्वी पर जाकर नाट्य-प्रदर्शन करने की आज्ञा देते हुए समझाया कि इस प्रकार करने से ऋषियों के दिये हुए शाप का अन्त हो जाएगा। भरतपुत्रों ने स्वर्ग से उतरकर नहुष के राजमहल में नाट्यप्रयोग प्रस्तुत किया। कुछ दिनों तक पृथ्वी पर मानुषी स्त्रियों के साथ गृहस्थभाव से समय बिताकर शाप की समाप्ति होने पर स्वर्ग लौट गये। किन्तु जाने से पूर्व वे अपनी संतानों को इस नाट्य के प्रयोग आदि की शिक्षा दे गये थे जिससे पृथ्वी पर नाट्य स्थित हो गया।

नाट्योत्पत्ति के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में वर्णित उपर्युक्त कथा से पृथक् विभिन्न देशी-विदेशी विद्वानों ने संस्कृत नाट्य की उत्पत्ति के संबंध में भिन्न-भिन्न उपस्थापनायें प्रस्तुत की हैं। वैदिक साहित्य में नाटक के प्रमुख सभी तत्त्व मिल जाते हैं। अतएव भरत मुनि ने नाट्यवेद को 'चतुर्वेदाङ्गसंभवम्' कहा है। नाटक के लिए मुख्यत: चार तत्त्वों की आवश्यकता होती है- 1. पाठ्य (कथावस्तु), 2. संगीत, 3. अभिनय, 4. रस। ऋग्वेद के संवाद- सूक्तों में कथावस्तु प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। ऋग्वेद में कई नाटकीय संवाद-सूक्त हैं, जिनके आधार पर संस्कृत-नाटकों की उत्पत्ति हुई। ऋग्वेद में प्राप्त संवाद - सूक्तों की अभिनयात्मक व्याख्या की जा सकती है। जैसे - इन्द्र - मरुत्-संवाद (ऋ1-165, 1-170), अगस्त्य-लोपामुद्रा-संवाद (ऋ. 1-179), विश्वामित्र-नदी-संवाद (ऋ. 3-33), वशिष्ठ-सुदास-संवाद (ऋ. 7-83), यम-यमी-संवाद (ऋ. 10-10), इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि-संवाद (ऋ.10-86), पुरुरवा उर्वशी-संवाद (ऋ.10-95), सरमा-पणि-संवाद (ऋ. 10-108)। सामवेद में संगीत-तत्त्व प्रमुख है। यजुर्वेद के कर्मकाण्ड में वाचिक और हस्तादि-संचालन के अभिनय पूर्णतया प्राप्य हैं। अथर्ववेद में काम: (9-2, 19-52), कामस्य इषु: (3-25), कामिनीमनोऽभिमुखीकरणम् (2-30),

सपत्नीनाशनम् (6-35), केवल: पति: (6-38) आदि सूक्तों में शृंगार रस प्रधान है तथा शत्रुनाशनम् (2-12, 18-34, 3-6, 4-3), सेना- निरीक्षणम् (4-31), शत्रु सेना-संमोहनम् (3-1), सेना-संयोजनम् (4-32), संग्रामजय: (6-99) आदि सूक्तों में वीर रस प्रमुख है। भारतीय नाटकों में शृंगार और वीर रस मुख्य हैं। इन रसों के लिए अथर्ववेद उत्तम आधार है। अथर्ववेद में करुण आदि रसों का भी वर्णन है। इस प्रकार नाटक के लिए आवश्यक चारों तत्त्व वेदों में उपलब्ध हैं। अत: भरतमुनि का कथन उपयुक्त प्रतीत होता है कि भारतीय नाट्यशास्त्र 'चतुर्वेदांगसंभवम्' है।

भारतीय नाटकों का प्रारम्भिक रूप हमें यज्ञादि के अवसरों पर धार्मिक अभिनयों में मिलता है। ऋग्वेद के संवाद सूक्त इस दिशा में प्रथम अभिनयात्मक प्रयोग हैं। ये प्रयोग यज्ञों तक ही सीमित न रहकर धार्मिक क्रिया-कलाप के अंग बन गए। प्रारम्भ में धार्मिक अभिनयों की लोकप्रियता के कारण इन्हें पर्व-उत्सव आदि का भी अंग बनाया गया। इस क्रमिक विकास की प्रक्रिया में इन्द्र-ध्वज महोत्सव आदि को एक कड़ी समझना चाहिए। यही प्रक्रिया आगे बढ़ने पर पर्वो, उत्सवों, रासलीला आदि में प्रयुक्त होने के कारण अधिक लोकप्रिय होती गई।

पाठगत प्रश्न 1.3

1. ब्रह्मा ने किसे नाट्यवेद की शिक्षा दी?
2. किसने भरतमुनि से भूतल पर नाट्य प्रस्तुत करने की प्रार्थना की?
3. नाट्य के लिए मुख्यत: कितने तत्वों की आवश्यकता होती है?
4. भारतीय नाटकों के दो प्रमुख रस कौन-से हैं?

1.4 नाट्यकला का स्वरूप एवं प्रयोजन

नाट्य के स्वरूप और क्षेत्र से ही जुड़ा हुआ प्रश्न नाट्य प्रयोजन का है अर्थात इस नाट्य का सृजन किसके लिये (और किस अर्थ की सिद्धि के लिए) हुआ है। इसके प्रत्युत्तर में नाट्यशास्त्र में नाट्योत्पत्ति की जो कथा है, उसमें इन्द्रादि देवगण ब्रह्मा से यही प्रार्थना करते हैं कि (विधि-निषेधात्मक और दुर्बोध होने के कारण) वेद-व्यवहार सबके सुनने योग्य नहीं है, अतएव आप सभी वर्णों के लिए उपयोगी एक ऐसे पाँचवें वेद की रचना कीजिये, जो दृश्य-श्रव्यात्मक क्रीडनीयक (खेल मनोविनोद के साधन) के रूप में हो। तब ब्रह्मा ने सभी वेदों का स्मरण करते हुए संकल्प किया कि मैं नाट्य नामक ऐसे पाँचवें वेद की इतिहास-सहित रचना करता हूँ जो धर्म और अर्थ की प्राप्ति कराने वाला, यश प्रदाता, उपदेश तथा संग्रह से युक्त, भावी जगत् के सभी कार्यों का पथप्रदर्शक, सब शास्त्रों के अर्थो से परिपूर्ण और शिल्पों को प्रदर्शित करने वाला होगा।

यह नाट्य धृति, क्रीडा व सुखादि सम्पादित कर हितावह उपदेशों का जनक होगा। यह नाट्य रसों, भावों तथा इन सभी के कार्य और क्रियाओं के द्वारा उपदेश प्रदान करने बाला होगा। यह नाट्य दु:ख से, थकावट से तथा शोक से पीड़ित दीन-दु:खियों के लिए विश्राम देने वाला होगा। यह नाट्य धर्म, यश और आयु का संवर्धक, हितकारी, बुद्धि का विकास करनेवाला तथा संसार को उपदेश देने वाला होगा। यह नाट्य संसार में मनोविनोद का जनक होगा।

भारतीय आचार्यों की दृष्टि में नाट्य का स्वरूप जितना व्यापक है उतना ही विस्तृत है उसका क्षेत्र। भरत मुनि कहते हैं कि इसमें कहीं धर्म है, कहीं क्रीडा, कहीं अर्थ (राजनीति या अर्थनीति), कहीं श्रम, कहीं हास्य, कहीं युद्ध, कहीं काम तथा कहीं वध है।

क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः।
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः॥
(ना.1-108)

धर्मपरायणों के लिए इसमें धर्म है, काम के प्रयोजन में वृत्ति रखनेवालों के लिए इसमें काम हैं। इसमें दुर्विनीतों के लिए दण्ड- व्यवस्था तथा मदमत्त व्यक्तियों का दमन करने की क्रियाएँ हैं।

धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेवितानां।
निग्रहो दुर्विनीतानां मत्तानां दमनक्रिया॥
(ना.1-109)

यह नपुंसकों में धृष्टता का तथा अपने को वीर समझने वाले मनुष्यों में उत्साह का उत्पादक है। यह अबोधजनों को विशेष ज्ञान प्रदान करनेवाला तथा विद्वानों के ज्ञान को बढ़ाने वाला है। यह ऐश्वर्यशाली प्रभुओं के लिए विलास, दु:ख से पीड़ित व्यक्तियों के लिए स्थिरता, अर्थाश्रित व्यक्तियों के लिए अर्थ तथा विकलचित्त व्यक्तियों को धैर्य देने वाला है।

अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि।
(नाट्य.1-110)
ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्य दु:खादितस्य च॥

अर्थोपजीविनामर्थो धृतिरुद्विग्नचेतसाम्।
(नाट्य.1-111)
लोकवृत्तानुकरणं नाटयमेतन्मया कृतम्॥
(नाट्य.1-112)

दु:खार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले, नाटयमेतन्मया कृतम्॥
(नाट्य.1-114)

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥
(नाट्य. 1-115)

इस नाट्य में सभी शास्त्रों, सभी प्रकार के शिल्पों और विविध प्रकार के अन्य कार्यों का सन्निवेश रहता है। यह नाट्य संसार में वेदों, विद्याओं और इतिहास की गाथाओं की परिकल्पना प्रस्तुत करने वाला है और यही नाट्य श्रुति, स्मृति, सदाचार तथा शेष बचे हुए अर्थों की संकल्पना करने वाला है। भरत मुनि की यह उक्ति तो सर्वजनविदित है-

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

वस्तुतः नाट्य-प्रयोग विभिन्न ज्ञान, विद्या, कला, शिल्प, योग एवं कर्मों की एक संयुक्त प्रस्तुति है।

भरत मुनि के उपर्युक्त वचनों पर विचार करने पर नाट्य-रचना के प्रमुख रूप से दो प्रयोजन स्पष्टतः प्रतीत होते हैं- लोकानुरंजन और लोकोपदेश। ये दोनों उद्देश्य भी मूलतः परस्पर सम्बद्ध हैं। नाट्य लोक-शिक्षण का ऐसा माध्यम है जो मनोरंजन से युक्त है और सार्वजनीन है। इससे प्राचीन भारतीय मनीषियों के सर्वकल्याणकारी उदार दृष्टिकोण का परिचय प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र को केवल अपने युग की आवश्यकता का ही ध्यान न होकर भावी युग की आवश्यकताओं का भी ध्यान रहा है। इसीलिए भरत कहते हैं कि भावी युग में मानव-बुद्धि का ह्रास हो सकता है। जब लोगों का बुद्धिसामर्थ्य नष्ट हो सकता है, तब विभिन्न कलाओं और शिल्पों का नष्ट होना भी स्वाभाविक है। अतः नाट्य के द्वारा कलाओं का संरक्षण परमावश्यक है।

पाठगत प्रश्न 12.1

1. धर्मपरायण लोगों को नाट्य क्या प्रदान करता है?
2. वीर प्रवृत्ति के लोगों को नाट्य क्या प्रदान करता है?
3. नाट्य के मुख्य दो प्रयोजन क्या हैं?
4. नाट्य द्वारा किसका संरक्षण आवश्यक है?

1.5 संस्कृत-नाटकों का विकास

नाटकों का प्रारम्भ सर्वप्रथम भारतवर्ष में हुआ। इसके विकास का काल क्रम नीचे दिया जा रहा है।

टिप्पणी

रामायण और महाभारत काल - रामायण और महाभारत के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय नाटक प्रचलित हो चुके थे और नाटकों के विकास का क्रम प्रगति पर था। नाटकों में रस-परिपाक पर भी पूरा ध्यान दिया जाता था। शैलूष और उनकी स्त्रियों के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि अभिनेता और अभिनेत्रियाँ भी थीं। हास्य रस वाले नाटक भी खेले जाते थे। वाल्मीकि रामायण के निम्नलिखित श्लोकों में नाटक, नट, नर्तक आदि का स्पष्ट उल्लेख है।

(क) वधूनाटकसंघैश्च संयुक्तां सर्वत: पुरीम्। (रामा०1-5-12)

(ख) रसै: शृङ्गारकरुणहास्यरौद्रभयानकै:।

वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यमेतदगायताम्।। (रामा० 1-4-9)

(ग) नाराजके जनपदे प्रकृष्टनटनर्तका:।।

(घ) वादयन्ति तथा शान्तिं लासयन्त्यपि चापरे।

नाटकान्यपरे प्राहुर्हास्यानि विविधानि च।।

(ङ) शैलूषाश्च तथा स्त्रीभिर्यान्ति।

इसी प्रकार महाभारत में भी सूत्रधार, नट आदि का उल्लेख प्राप्त होता है।

क) इत्यब्रवीत् सूत्रधार: सूत: पौराणिकस्तथा। (महा.1-51-15)

(ख) नाटका विविधा: काव्या: कथाख्यायिककारका:। (महा. 2-12-36)

(ग) आनर्ताश्च तथा सर्वे नटनर्तकगायका:। (महा.2-15-13)

महाभारत के विराट पर्व में रंगशाला का भी उल्लेख मिलता है। महाभारत के हरिवंश पर्व (91 से 97 अध्याय) में उल्लेख मिलता है कि वज्रनाभ नामक राक्षस की नगरी में रामायण और कौबेररम्भाभिसार नामक नाटक खेले गए थे।

पाणिनि और पतञ्जलि- पाणिनि का समय ईसा से चतुर्थ शताब्दी पूर्व माना जाता है। पाणिनि ने अपने सूत्रों में दो नटसूत्रों अर्थात् नाट्यशास्त्रों का उल्लेख किया है। एक नाट्यशास्त्र के रचयिता शिलालिन् थे और दूसरे के कृशाश्व।

पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयो:।
(अष्टा० 4-3-110)
कर्मन्दकृशाश्वादिनि:।
(अष्टा० 4-3-111)

इससे ज्ञात होता है कि महर्षि पाणिनि से बहुत समय पूर्व नाट्यशास्त्र अपनी पूर्ण उन्नत अवस्था को प्राप्त हो चुका था। पाणिनि ने केवल अष्टाध्यायी की ही रचना नहीं की थी, अपितु जाम्बवतीजय (पाताल-विजय) नामक नाटक भी लिखा था। जैसा कि निम्नलिखित श्लोक से ज्ञात होता है:

स्वस्ति पाणिनये तस्मै येन रुद्रप्रसादतः।
आदौ व्याकरणं प्रोक्तं ततो जाम्बवतीजयम्॥

महर्षि पतंजलि (150 ई.पू.) ने अपने महाभाष्य (अष्टा.3-2-111) 'में 'कंसवध' और 'बलिबन्ध' नामक नाटकों के खेले जाने का उल्लेख किया है। पतंजलि का कथन है - **ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति, प्रत्यक्षं च बलि बन्धयन्तीति। (महाभाष्य 3-2-111)**

भरतमुनि- भारतीय नाट्यशास्त्र के प्रधान आचार्य भरत मुनि माने जाते हैं। उनका नाट्य-संबन्धी 'नाट्यशास्त्र' नामक श्लोकबद्ध विशाल ग्रन्थ 36 अध्यायों में है। इनका समय 200 ई. पू. के लगभग माना जाता है। इससे ज्ञात होता है कि ई. पू. तृतीय या चतुर्थ शताब्दी में भारतीय नाट्य-कला अपनी उन्नत अवस्था में थी।

वात्स्यायन- इसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थों, जैनग्रन्थों और वात्स्यायन के कामसूत्र में भी नाटकों और नटों का उल्लेख मिलता है। वात्स्यायन (दूसरी शताब्दी ई.) ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि नट नागरिकों को नाटक दिखावें और दूसरे दिन नागरिक चाहें तो फिर नाटक देखें, नहीं तो नटों को विदा करें।

कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः।
द्वितीयेऽहनि तेभ्यः पूजां नियतं लभेरन्।
यथाश्रद्धमेषां दर्शनमुत्सर्गो वा।
(कामसूत्र 1-4-28 से 31)

कुशीलव शब्द से भी ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम अभिनय का कार्य राम के पुत्र कुश और लव ने किया था। अतः उनके अनुकरण और उनकी स्मृति में अभिनेता के लिए कुशीलव नाम चल पड़ा।

पाठगत प्रश्न 1.5

1. महाभारत के किस पर्व में रंगशाला का उल्लेख मिलता है?

2. पाणिनि का समय किस काल में माना जाता है?

3. महाकाव्य के रचनाकार कौन हैं?

4. नाट्यशास्त्र में कुल कितने अध्याय हैं?

1.6 संस्कृत नाट्य-कला की विशेषताएँ

संस्कृत नाटकों के अध्ययन से तथा उनकी यूनानी नाटकों से तुलना करने से कतिपय विशेषताएँ ज्ञात होती हैं। ये विशेषताएँ मुख्यतया कथा, कथावस्तु-संयोजन, आकार, पात्र-संख्या, रस- परिपाक, उद्देश्य, नाट्यशाला-निर्माण आदि की दृष्टि से हैं।

भारतीय नाटकों में यद्यपि मध्य में सुख और दुःख दोनों का सम्मिश्रण है, तथापि सभी नाटक सुखान्त ही होते हैं। स्वरूपतः रमणीय-कल्पना-प्रधान भारतीय नाटक मुख्यतया रामायण, महाभारत, पुराण, बृहत्कथा आदि के कथानकों पर आश्रित हैं। यूनानी नाटकों में काल, स्थान तथा गति की अन्विति पर बहुत बल दिया गया है, परन्तु संस्कृत नाटकों में इस अन्वितित्रय की सर्वथा उपेक्षा की गई है।

संस्कृत नाटकों में सहगान का बहुत प्रचलन है। संस्कृत नाट्यशास्त्र में रूपकों के 10 भेद तथा उपरूपकों के 18 भेद माने गए हैं। इनके स्वरूप, अंक-संख्या, पात्र आदि के विषय में गंभीर विवेचन किया गया है। अतएव भारतीय नाट्यशास्त्र अत्यन्त जटिल हो गया है। संस्कृत नाटकों में कथोपकथन के लिए गद्य का तथा रोचकता, प्रकृति-वर्णन, नीति- शिक्षा, सुभाषित प्रादि के लिए पद्यों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार गद्य और पद्य का समन्वय रहता है। इनमें संस्कृत भाषा के साथ प्राकृत का प्रयोग मिलता है। संस्कृत नाटकों की रचना की एक विशेष विधि है। पूरा नाटक कई अंकों में विभक्त होता है। नान्दी-पाठ से प्रारम्भ, सूत्रधार द्वारा स्थापना, स्थापना या प्रस्तावना में कवि परिचय, संक्षेप या कथानक को जोड़ने के लिए विष्कम्भक और प्रवेशक का प्रयोग, भरत-वाक्य से समाप्ति आदि संस्कृत-नाटकों की रचना-विधि की विशेषताएँ हैं।

विदूषक हास्य के साथ ही कथानक की प्रगति में सहायक होता है और यथावसर नायक को परामर्श आदि देता है। यहाँ अभिनय सम्बन्धी संकेत यथास्थान सूक्ष्मता के साथ दिए जाते हैं। जैसे- प्रकाशम्, स्वगतम्, अपवारितम्, जनान्तिकम्, आकाशे, सरोषम्, विहस्य, ससंभ्रमम्। संस्कृत-नाटकों में बीजादि पाँच अर्थ-प्रकृतियों, आरम्भादि पाँच अवस्थाओं और मुखादि पाँच सन्धियों का प्रयोग होता है। आकार की दृष्टि से संस्कृत-नाटक अपेक्षाकृत बहुत बड़े होते हैं तथा इनमें पात्रों की संख्या का निर्धारण नहीं है। लौकिक, दिव्य और अदिव्य सभी प्रकार के पात्र होते हैं। यहाँ पात्र व्यक्ति-विशेष के प्रतिनिधि न होकर समूह-विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं। जैसे शकुन्तला स्त्री-विशेष का प्रतिनिधित्व न करके साध्वी स्त्री- समूह का प्रतिनिधित्व करती है। संस्कृत नाटकों में अंगी रूप से शृंगार, वीर या करुण रस का परिपाक लक्ष्य होता है। इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि अनुचित, अशिष्ट, असभ्य और अशुभ दृश्य

टिप्पणी

रंगमंच पर न दिखाए जायें। जैसे - चुम्बन, आलिंगन, संभोग, युद्ध, मृत्यु, भोजन, शापदान आदि। संस्कृत नाटकों का लक्ष्य है - शान्ति और अनुद्धतता की स्थापना, सुख-समृद्धि की कामना, लोक-मनोरंजन के साथ ही स्वस्थ नैतिकता एवं उच्च आदर्शों का जन-मानस में संचार करना। संस्कृत-नाटकों के प्रदर्शन के लिए जिन नाट्यशालाओं का प्रयोग होता था, वे वर्गाकार, आयताकार या त्रिभुजाकार होती थीं। संस्कृत नाटकों के प्रदर्शन विशेष अवसर पर ही किए जाते थे। जैसे - पर्व, उत्सव, पुत्र जन्म, राजतिलक, विवाह, गृहप्रवेश आदि। संस्कृत-नाटकों में प्रकृति-वर्णन को महत्त्व दिया गया है। साथ ही नाटककार प्रकृति के साथ तादात्म्य का सुन्दर निरूपण करते हैं। एकांकी नाटकों का प्रचलन - भास आदि के नाटकों से ज्ञात होता है कि संस्कृत में एकांकी नाटकों का पर्याप्त प्रचलन था। भास के नाटकों में पाँच एकांकी नाटक हैं।

यद्यपि भरत ने दशरूपविकल्पन का आधार वृत्तियों को माना है किन्तु प्रायः समस्त परवर्ती शास्त्रकारों ने रूपकों के तीन भेदक तत्त्व माने हैं - वस्तु, नेता और रस। वस्तु से तात्पर्य है - कथावस्तु। नेता का अर्थ है - नायक-नायिका तथा अन्य पात्र। रस शृंगार, वीर, वीभत्स आदि। स्रोत की दृष्टि से नाट्य-वस्तु तीन प्रकार की होती है - प्रख्यात, उत्पाद्य, एवं मिश्र। फलाधिकार की दृष्टि से वस्तु दो प्रकार की होती है - आधिकारिक और प्रासंगिक। अभिनय की दृष्टि से इसके चार भेद किये गये हैं - सूच्य, प्रयोज्य, अभ्यूह (कल्पनीय) तथा उपेक्ष्य। संवादात्मक अभिव्यक्ति के अनुसार पाँच भेद हैं - प्रकाश, स्वगत, अपवारित, जनान्तिक और आकाशभाषित।

कथा के विकास की दृष्टि से नाट्यशास्त्र रूपक के समग्र इतिवृत्त को कुछ स्थितियों में बाँटता है। यह विभाजन तीन प्रकार से सम्पन्न हुआ है, जिन्हें कार्यावस्था, अर्थप्रकृति और संधि कहा जाता है। इनमें से प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद हैं। किसी भी पूर्ण विकसित कार्य में विकास की पाँच अवस्थाएँ हैं। इन कार्यावस्थाओं के नाम हैं- आरंभ, यत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति एवं फलागम। इन पाँचों अवस्थाओं के प्रयोजन को सिद्ध करने वाली पाँच अर्थप्रकृतियाँ हैं-बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी एवं कार्य। संधियाँ कार्यावस्था को स्वाभाविक अवसान तक ले जाती हैं। वे भी पाँच हैं - मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण। इनके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में 64 प्रकार के संध्यंग, 21 संध्यन्तर, संधियों के 6 प्रयोजन तथा 36 नाट्य-लक्षण या नाट्यालंकार बतलाए गये हैं। इन सबको दृष्टि में रखकर ही कथावस्तु का स्वरूप तैयार किया जाता है।

भरतोत्तर काल में कतिपय उपरूपकों का भी विकास हुआ। उपर्युक्त रूपक -भेदों में कथावस्तु का प्राधान्य रहता है और चारों प्रकार के अभिनय - भेदों की सम्यक् विनियोजना रहती है। परन्तु उपरूपक गीत-नृत्यादि प्रधान होते हैं, इसीलिए इन्हें गेय रूपक, नृत्त-भेद आदि नामों से भी पुकारा गया है।

टिप्पणी

पाठगत प्रश्न 1.6

1. भारतीय नाटकों में किसका समिश्रण है?
2. उपरूपकों के कितने भेद हैं?
3. भरत ने किसके अधार पर वृत्तियों को माना है?
4. नाट्य में नेता से क्या तात्पर्य है?

1.7 प्रमुख नाटककार

संस्कृत के नाट्यलक्षण-ग्रंथों में रूपक तथा उपरूपकों के जितने प्रकार बतलाये गये हैं निश्चय ही उनके अनुरूप नाट्यलेखन भी होता रहा है। शास्त्र और प्रयोग दोनों एक-दूसरे का अनुगमन करते रहते हैं। कभी शास्त्रसम्मत रूपक रचना होती है और कभी प्रयोग देखकर उसे शास्त्रबद्ध किया जाता है। उपरूपकों के संदर्भ में यही तथ्य और भी अधिक उभरकर सामने आता है। विभिन्न शास्त्रग्रंथों में उपरूपकों की संख्या, उनके नाम तथा लक्षणों में अंतर इसके प्रमाण हैं। दुर्भाग्यवश अनेक रूपक - उपरूपक भेदों के उदाहरण आज प्राप्त नहीं हैं और इसी प्रकार अतीत के अनेक नाटककारों, जिनमें से कुछ के नामोल्लेख विभिन्न ग्रंथों में पाये जाते हैं, उनकी रचनाएँ भी काल- कवलित हो गई हैं, तथापि वर्तमान में जिन संस्कृत नाटककारों की रचनाएँ उपलब्ध हैं उनमें सर्वप्रथम नाम भास का है।

यद्यपि सन् 1912 ईस्वी में महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री द्वारा अनंतशयनम् ग्रंथमाला के अंतर्गत प्रकाशित भास के तेरह नाटकों से पूर्व कालिदास ही प्रथम उपलब्ध नाटककार माने जाते रहे। किन्तु स्वयं कालिदास ने भी मालविकाग्निमित्र नाटक की प्रस्तावना में भास का उल्लेख सम्मानपूर्वक किया है। अत: निश्चितरूप से वे उनके पूर्ववर्ती थे। विद्वान् उन्हें केरल का निवासी मानते हैं और कुछ लोग उपलब्ध रचनाओं में से कतिपय रचनाओं के भासकृत होने पर संदेह भी व्यक्त करते हैं। भास नि:संदेह उत्कृष्ट कोटि के नाटककार हैं। उनका उल्लेख अनेक विद्वानों ने उद्धरणों सहित किया है तथा जयदेव ने उन्हें "कविताकामिनी का हास" माना है। उनकी रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं - 1. प्रतिमा नाटक 2. अभिषेक 3. पांचरात्र, 4. मध्यमव्यायोग, 5. दूतघटोत्कच, 6. कर्णभार, 7. दूतवाक्य, 8. उरुभंग, 9. बालचरित, 10. दरिद्रचारुदत्त, 11. अविमारक, 12. प्रतिज्ञायौगंधरायण 13. स्वप्नवासवदत्त।

संस्कृत नाटककारों में दूसरा उल्लेखनीय नाम महाकवि कालिदास का है, जिनका स्थितिकाल कुछ विद्वान् चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल छठीं शताब्दी मानते हैं और अन्य विद्वान इन्हें उज्जयिनी के शासक विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक मानकर प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व का बतलाते हैं। कवि और नाटककार के रूप में जितनी प्रसिद्धि कालिदास को प्राप्त हुई है

टिप्पणी

उतनी किसी अन्य रचनाकार को नहीं। कालिदास द्वारा रचित चार काव्य ग्रंथ-रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत और ऋतुसंहार तथा तीन नाटक - अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय एवं मालविकाग्निमित्र हैं। इनमें से शाकुन्तल उनकी विश्वप्रसिद्ध रचना है जिसकी प्रशंसा अनेक विदेशी विद्वानों ने भी की है

कालिदास के समकालीन कवियों में एक महत्त्वपूर्ण नाम अश्वघोष का है जिनकी अविस्थिति प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व मानी जाती है। साकेतक (अयोध्या) निवासी अश्वघोष बौद्ध दार्शनिक, महाकवि तथा महावादी अर्थात् बड़े तार्किक विद्वान् थे। उनके नाम से विभिन्न विषयों के अनेक ग्रंथ प्रचारित हैं किन्तु संदेहरहित रूप से अश्वघोष की केवल तीन साहित्यिक रचनाएँ मानी जाती हैं-बुद्धचरित, सौन्दरनन्द तथा शारिपुत्रप्रकरण। इनमें से प्रथम दो महाकाव्य हैं तथा अंतिम नौ अंकों में रचित एक प्रकरण (रूपक) है, जिसमें शारिपुत्र की बौद्धधर्म में दीक्षा का प्रसंग नाट्यबद्ध किया गया है।

संस्कृत नाटकों में विशाखदत्त का मुद्राराक्षस अपनी महत्ता और गौरव आज भी रखता है। यह नाटक कूटनीति के प्रपंचों का आलेख है। चाणक्य अपने बुद्धिबल से राक्षस को परास्त कर चन्द्रगुप्त का मंत्री बनाना चाहता है और इसके लिए वह जिस बौद्धिक कौशल को प्रदर्शित करता है, वह राजनीतिज्ञों के लिए भी महनीय है। लगभग छठीं शताब्दी के उत्तरार्ध में स्थित विशाखदत्त की दूसरी कृति देवीचन्द्रगुप्त नाटक है, जिसके कतिपय उद्धरण ही नाट्यग्रंथों में प्राप्य हैं।

वर्तमान भारतीय रंगमंच पर संस्कृत नाटकों में से जो कृति सर्वाधिक लोकप्रिय है वह है शूद्रक रचित मृच्छकटिकम्। यह दस अंकों का एक नाटक है, जिसमें उज्जयिनी की वारवनिता वसंतसेना और दरिद्र किन्तु संस्कारवान् चारुदत्त के प्रेम और राजा के श्यालक शकार द्वारा वसंतसेना को अपने वश में करने की चेष्टा के साथ ही तत्कालीन राजपरिवर्तन की घटनाओं का रोचक वर्णन है। शूद्रक का स्थितिकाल पांचवीं शताब्दी माना जाता है। इनकी एक अन्य रचना पद्मप्राभृतक नामक भाग है।

थानेश्वर के अधिपति और बाणभट्ट, मयूरभट्ट तथा दिवाकर जैसे कविरत्नों के आश्रयदाता सम्राट् हर्षवर्धन सरस्वती के भी वरदपुत्र थे। इनके द्वारा रचित तीन रूपक सम्प्रति उपलब्ध हैं- रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द। इसमें से प्रथम दो नाटिकाएँ हैं, जिनका संबंध वत्सराज उदयन की प्रेम गाथाओं से है। तीसरा नागानन्द पूर्णकालिक नाटक है। इसमें जीमूतवाहन के द्वारा गरुड से नागों को बचाने के लिए आत्मसमर्पण का वर्णन है। हर्षवर्धन का काल सातवीं शताब्दी माना जाता है।

आठवीं शताब्दी के प्रथमार्ध में भट्टनारायण रचित वेणीसंहार नाटक अपनी शास्त्रीय संरचना के लिए विद्वत्समाज में अत्यंत लोकप्रिय है। गौड़ी रीति तथा ओजगुण प्रधान छः अंकों के इस नाटक में महाभारत-युद्ध का वर्णन किया गया है।

अपनी अप्रतिम काव्य प्रतिभा से करुण को ही एकमात्र रस प्रस्थापित करने वाले महाकवि भवभूति विदर्भ के निवासी थे, जिनका स्थितिकाल सातवीं शताब्दी माना जाता है। इनके द्वारा रचित महावीरचरित, मालती–माधव तथा उत्तरामचरित – ये तीन नाटक प्राप्य हैं। इनमें से महावीरचरित में रामचरित का संपूर्ण वर्णन छः अंकों में किया गया है। उत्तररामचरित में रामायण के उत्तरार्ध की कथा वर्णित है। मालतीमाधव दस अंकों का एक विशाल प्रकरण है जिसकी कथावस्तु कविकल्पनाप्रसूत है।

संस्कृत के अन्य महत्त्वपूर्ण नाटककारों में एक नाम अनंगहर्ष का है जिनकी नाट्यरचना तापसवत्सराज है। छः अंकों के इस नाटक में बताया गया है कि वासवदत्ता के वियोग में उदयन तापस बन जाता है और आत्महत्या करने के लिए उद्यत हो जाता है। अनंगहर्ष, जिनका अन्य नाम मातृराज भी है, आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में स्थित थे। आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के ही एक अन्य चर्चित कवि मुरारि हैं जिनकी एक मात्र रचना अनर्घराघव है। इसमें भी रामकथा वर्णित है।

नवीं शताब्दी के आरंभ में कविराज राजशेखर हुए जिन्होंने काव्यमीमांसा नामक अलंकारशास्त्र संबंधी ग्रंथ के अतिरिक्त चार रूपकों की रचना की है, जिनके नाम हैं – बालरामायण, बालभारत या प्रचंड पांडव, विद्धशालभंजिका और कर्पूरमंजरी। इनमें से प्रथम दो नाटक हैं, विद्धशालभंजिका नाटिका और कर्पूरमंजरी सट्टक है। यद्यपि समीक्षक इन्हें बहुत सफल नाटककार नहीं मानते किन्तु उनके उत्कृष्ट कोटि के कवि होने में कोई संदेह नहीं है।

संस्कृत के अन्य नाटककारों में ख्यात नाम जयदेव हैं, जिनकी रचना प्रसन्नराघव नामक सात–अंकीय नाटक है। राजशेखर के समकालीन कवि क्षेमेश्वर है जिन्होंने चंडकौशिक नामक नाटक लिखा है। कुलशेखर (दसवीं शताब्दी) ने तपतीसंवरण और सुभद्राधनंजय नामक नाटकों की रचना की है। हनुमन्नाटक के दो संस्करण उपलब्ध हैं जिनमें से प्रथम नौ–दस अंकों का नाटक मधुसूदन मिश्र रचित है और दूसरा चौदह अंकों का दामोदर मिश्र विरचित है। इसी प्रकार रामचन्द्र (बारहवीं शताब्दी) में नलविलास तथा निर्भयभीम व्यायोग, जयसिंह सूरि (तेरहवीं शताब्दी) ने हम्मीरमदमर्दन, रवि वर्मा (चौदहवीं शताब्दी) ने प्रद्युम्नाभ्युदय, वामनभट्ट बाण (पन्द्रहवीं शताब्दी) ने पार्वतीपरिणय और शृंगारभूषण भाण, महादेव (सत्रहवीं शताब्दी) ने अद्‌भुतदर्पण, शक्तिभद्र ने आश्चर्यचूडामणि, दिङ्नाग ने कुन्दमाला नामक नाटकों की रचना की है। इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य नाम हैं जिनकी चर्चा विभिन्न ग्रंथों में प्राप्त होती है।

नाटक के समान ही अन्य रूपकभेदों के उदाहरणग्रंथ प्राप्य हैं, जैसे नाटिका के उदाहरण रूप में बिल्हण की कर्णसुन्दरी, मदनपाल सरस्वती की पारिजातमंजरी आदि हैं। प्राकृत में लिखी गई नाटिका सट्टक कहलाती है। घनश्याम कविकृत आनंदसुन्दरी तथा विश्वेश्वर पंडित की शृंगारमंजरी इसके उदाहरण रूप में प्राप्य हैं। प्रकरण के परवर्ती उदाहरणग्रंथों में उद्दण्डकवि रचित मल्लिकामारुत, रामचन्द्र रचित कौमुदीमित्रानन्द, रामभद्र का प्रबुद्धरौहिणेय, यशचन्द्र का मुद्रित कुमुदचंद्र आदि हैं।

भाण के उदाहरणों में वररुचि की उभयाभिसारिका, शूद्रक का पद्मप्राभृतक, ईश्वरदत्त का धूर्तविटसंवाद तथा श्यामलिक रचित पादताडितक आदि हैं जो चतुर्भाणी के नाम से विख्यात हैं। प्रहसन के प्राचीन उदाहरणों में शंखधर कविराज का लटकमेलक, ज्योतिरीश्वर कविशेखर का धूर्तसमागम, जगदीश्वर का हास्यार्णव, गोपीनाथ चक्रवर्ती का कौतुकसर्वस्व सामराज दीक्षित का धूर्तनर्तक हैं। अन्य रूपकभेदों में से डिम के उदाहरण में वत्सराज का त्रिपुरदाह, व्यंकटवर्य का कृष्णविजय तथा राम कवि का मन्मथोन्मथन है। व्यायोग के उदाहरणरूप में प्रह्लाददेव - रचित पार्थपराक्रम, कांचनाचार्य का धनंजयविजय रामचन्द्र का निर्भयभीम विश्वनाथ का सौगंधिकाहरण है। समवकार का एकमात्र उपलब्ध उदाहरण वत्सराजकृत समुद्रमंथन है। डॉ. पिशेल आदि ने जिस छायानाटक से भारत में नाट्यकला का उद्भव माना है, उसका एक मात्र उदाहरण सुभट कवि का दूतांगद है। इसी प्रकार संस्कृत में कतिपय प्रतीक-नाटक भी लिखे गए जिनके रचनाकारों में अश्वघोष, कृष्णमिश्र, यशपाल, वेंकटनाथ, कवि कर्णपूर तथा आनंदराय मखि के नाम चर्चित हैं। आधुनिक युग में अनेक विद्वानों ने संस्कृत में नाटकलेखन का प्रयास किया है किन्तु ये रचनायें शास्त्रीय परंपरा के अंतर्गत कठिनता से आती हैं।

पाठगत प्रश्न 1.7

1. संस्कृत के प्रथम नाटककार कौन माने जाते हैं?
2. कालिदास किसके शासनकाल में माने जाते हैं?
3. मेघदूत किसकी रचना है?
4. बुद्धचरित किसकी रचना है?
5. कर्ण सुंदरी के रचनाकार है?

आपने क्या सीखा

- भारत ने नाट्य को सार्ववर्णिक वेद कहा है। इसमें समस्त ज्ञान कर्म, शिल्प, विद्याएं और कलाएं समाहित हैं।

  (क) सामान्य रूप के द्वारा किये गये कार्यों के अनुकरण को 'नाट्य' कहा जाता है। दशरूपककार धनञ्जय ने भी लोक की विभिन्न अवस्थाओं की अनुकृति को 'नाट्य' कहा है।

  (ख) नाट्यशास्त्रीय रचनाओं से धनिक एवं धनंजय के दशरूपक, नन्दिकेश्वर के अभिनयदर्पण, शारदातनय के भावप्रकाशन, अभिनवगुप्तरचित नाट्यशास्त्र की

टिप्पणी

अभिनवभारती टीका, शिंगभूपाल के रसार्णवसुधाकर तथा सागरनन्दी के नाटक-लक्षण-रत्नकोश आदि सभी नाट्यशास्त्रीय रचनाओं में भरत को बड़ी श्रद्धा के साथ नाट्यशास्त्राचार्य के रूप में उल्लिखित किया गया है। भरत मुनि महर्षि पाणिनि की तरह नाट्यविद्या के सूत्रकार के रूप में परम्परा से प्रसिद्ध हैं। इसी कारण नाट्यशास्त्र का दूसरा नाम भरतसूत्र भी है। सूत्ररूप में शास्त्रीय तत्वों के प्रतिपादन की प्रवृत्ति इस ग्रन्थ की मुख्य शैली है।

(ग) नाट्योत्पत्ति के प्रसंग में भरत ने अपने एक सौ पुत्रों (नाट्यप्रयोक्ता तथा शास्त्रप्रणेता सहित) का उल्लेख किया है। इन्हें भरतमुनि के समकालीन नाट्यशास्त्रकार आचार्यों के रूप में भी देखा जाता है। इनमें अभिनयदर्पणकार नन्दी (नन्दिकेश्वरर, तण्डु), भरत के उत्तराधिकारी रूप में निरूपित आचार्य कोहल, रेचक, करण, अगंहार तथा सङ्गीत के प्रसंग में तुम्बुरु, स्वाति, कृशाश्व, वासुकि, याष्टिक मुनि, वीणावादन में प्रवीण विश्वावसु, वात्ययि, शाण्डिल्य एवं धूर्तिल अभिनयशास्त्र के प्रामाणिक आचार्य शार्दूल, स्कीन्दव और शुक्र, स्कन्द के शिष्यत अगस्त्य, काश्यप, दत्तिल, नखकुट्ट तथा अश्मकुट्ट, बादरायण और शातकर्णी आचार्य के रूप में विदित होते हैं।

(घ) भारतीय नाटकों का प्रारम्भिक रूप हमें यज्ञादि के अवसरों पर धार्मिक अभिनयों में मिलता है। ऋग्वेद के संवाद सूक्त इस दिशा में प्रथम अभिनयात्मक प्रयोग हैं। ये प्रयोग यज्ञों तक ही सीमित न रहकर धार्मिक क्रिया-कलाप के अंग बन गए। प्रारम्भ में धार्मिक अभिनयों की लोकप्रियता के कारण इन्हें पर्व-उत्सव आदि का भी अंग बनाया गया। इस क्रमिक विकास की प्रक्रिया में इन्द्र-ध्वज महोत्सव आदि को एक कड़ी समझना चाहिए। यही प्रक्रिया आगे बढ़ने पर पर्वों, उत्सवों, रासलीला आदि में प्रयुक्त होने के कारण अधिक लोकप्रिय होती गई।

(ङ) भरत मुनि के उपर्युक्त वचनों पर विचार करने पर नाट्य-रचना के प्रमुख रूप से दो प्रयोजन स्पष्टतः प्रतीत होते हैं- लोकानुरंजन और लोकोपदेश। ये दोनों उद्देश्य भी मूलतः परस्पर सम्बद्ध हैं। नाट्य लोक-शिक्षण का ऐसा माध्यम है जो मनोरंजन से युक्त है और सार्वजनीन है। इससे प्राचीन भारतीय मनीषियों के सर्वकल्याणकारी उदार दृष्टिकोण का परिचय प्राप्त होता है।

(च) भारतीय नाटकों में यद्यपि मध्य में सुख और दुःख दोनों का सम्मिश्रण है, तथापि सभी नाटक सुखान्त ही होते हैं। स्वरूपतः रमणीय-कल्पना-प्रधान भारतीय नाटक मुख्यतया रामायण, महाभारत, पुराण, बृहत्कथा आदि के कथानकों पर आश्रित हैं। यूनानी नाटकों में काल, स्थान तथा गति की अन्विति पर बहुत बल दिया गया है, परन्तु संस्कृत नाटकों में इस अन्वितित्रय की सर्वथा उपेक्षा की गई है।

(छ) किसी भी पूर्ण विकसित कार्य में विकास की पाँच अवस्थाएँ हैं। इन कार्यावस्थाओं के नाम हैं- आरंभ, यत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति एवं फलागम। इन पाँचों अवस्थाओं के प्रयोजन को सिद्ध करने वाली पाँच अर्थप्रकृतियाँ हैं-बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी एवं कार्य। संधियाँ कार्यावस्था को स्वाभाविक अवसान तक ले जाती हैं। वे भी पाँच हैं - मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण। इनके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में 64 प्रकार के संध्यंग, 21 संध्यन्तर, संधियों के 6 प्रयोजन तथा 36 नाट्य-लक्षण या नाट्यालंकार बतलाए गये हैं। इन सबको दृष्टि में रखकर ही कथावस्तु का स्वरूप तैयार किया जाता है।

भरतोत्तर काल में कतिपय उपरूपकों का भी विकास हुआ। उपर्युक्त रूपक -भेदों में कथावस्तु का प्राधान्य रहता है और चारों प्रकार के अभिनय - भेदों की सम्यक् विनियोजना रहती है। परन्तु उपरूपक गीत-नृत्यादि प्रधान होते हैं, इसीलिए इन्हें गेय रूपक, नृत्त-भेद आदि नामों से भी पुकारा गया है।

पाठान्त प्रश्न

1. भारत की नाट्य परम्परा का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. वेदों में नाट्य का उल्लेख कौन से संवाद से सूक्तों में मिलता है?
3. नाट्यकला के प्रयोजनों को स्पष्ट कीजिए।
4. भारतीय नाट्यरचनाओं के कालक्रम को स्पष्ट कीजिए।
5. संस्कृत नाट्यकला की विशेषताओं पर एक टिप्पणी लिखिए।
6. संस्कृत के प्रमुख नाटककारों की सूची बनाते हुए उनकी कृतियों के नामों का भी उल्लेख कीजिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

1.1

1. नाट्य को
2. 10 भेद

टिप्पणी

3. लोककृत का

4. आंगिक अभिनय, वाचिक अभिनय, अहार्य अभिनय, गान और वाद्य।

1.2

1. आचार्य भरत मुनि

2. नन्दिकेश्वर

3. शिव और पार्वती से।

4. कश्मीर निवासी रूप्यक।

1.3

1. आचार्य भरत मुनि को।

2. राजा नहुष ने

3. चार

4. श्रृंगार और वीर

1.4

1. धर्म

2. उत्साह

3. लोकानुरंजन लोकोपदेश

4. कलाओं का

1.5

1. विराट पर्व में

2. ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी

3. आचार्य पतंजलि

4. 36 अध्याय

टिप्पणी

1.6

1. सुख और दु:ख का
2. 18 भेद
3. दशरूपविकल्पन के आधार पर
4. नायक-नायिका तथा अन्य पात्र

1.7

1. भास
2. चन्द्रगुप्त द्वितीय
3. कालिदास की
4. अश्वघोष की
5. बिल्हण

2

नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय

दृश्य काव्य के अंतर्गत रूपक नाट्यादि आते हैं जिसमें हम संस्कृत नाट्यों की सुदीर्घ परम्परा को पाते हैं। श्रव्य अथवा दृश्य दोनों ही काव्य कोटियों में लोक केंद्र में रहा है। संस्कृत के नाट्यलक्षण ग्रंथों में रूपक तथा उपरूपकों के जितने प्रकार बताए गये हैं निश्चय ही उनके अनुरूप नाट्यलेखन भी होता रहा है। शास्त्र और प्रयोग दोनों एक-दूसरे का अनुगमन करते रहते हैं। कभी शास्त्र सम्मत रूपक रचना होती है और कभी प्रयोग देखकर उसे शास्त्रबद्ध किया जाता है। नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित नाट्यतत्त्वों एवं सिद्धान्तों के आधार पर ही नाट्यसाहित्य का समीक्षात्मक विश्लेषण किया जाता है। इस पाठ में हम नाट्यशास्त्र के संक्षिप्त परिचय पर चर्चा करेंगे।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप-

- काव्य का सामान्य परिचय जानते हैं;
- नाट्यशास्त्र का रचनाकाल जानते हैं;
- नाट्यशास्त्र की परम्परा को जानते हैं;
- नाट्यशास्त्र के व्याख्याकारों को जानते हैं;
- नाट्यशास्त्र के स्वरूप को जानते हैं;
- नाट्यशास्त्र की विषयवस्तु को जानते हैं;
- नाट्यशास्त्र के प्रयोजन को जानते हैं;
- संस्कृत नाट्य के उद्भव-सिद्धांतों को जानते हैं;

- नाट्य में लोक के सर्वांग स्वरूप को समझते हैं;
- नाट्य की सार्ववर्णिकता को जानते हैं;
- नाट्य में लोक की प्रमाणिकता को जानते हैं;
- नाट्य शास्त्र में दिए गए नाट्य-सिद्धांतों को जानते हैं; और
- नाट्य की प्रकृति की दृष्टि से कथावस्तु के भेदों को जानते हैं।

टिप्पणी

2.1 काव्य का सामान्य परिचय

भारतीय काव्यसाधना का मूल स्रोत वैदिक काव्य है। जिस प्रकार हमारे धर्म और दर्शन के विभिन्न प्रस्थानों के बीज वेद में हैं, उसी प्रकार संस्कृत काव्य-परम्परा का उद्‌गम भी उसी से माना जाना उचित है। राजशेखर तो अलङ्कारशास्त्र को वेद का भी उपकारक बताकर उसे सप्तम वेदाङ्ग के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। यही नहीं, वे ऋग्वेद के मंत्रों के उद्धरण देकर उनकी अलङ्कारशास्त्र के आधार पर व्याख्या की प्रामाणिकता एवं उपादेयता को भी स्थापित करते हैं। संस्कृत काव्यधारा की पृष्ठभूमि में वेद के सुदृढ़ आधार को दृष्टि में रखकर ही राजशेखर ने साहित्य को पञ्चमविद्या तथा चारों विद्याओं का निष्यन्द कहा है।

काव्य इस साहित्य विद्या का रमणीय अंग है, जो श्रव्यकाव्य तथा दृश्यकाव्य की दो विधाओं में विकसित होता रहा है। श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत पद्य एवं गद्य रचनाएँ आती हैं, यथा महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक आदि छंदोबद्ध रचनाएँ पद्यात्मक हैं तथा कथाएं आख्यायिकाए उपन्यास आदि छंद रहित रचनाएँ गद्यात्मक हैं।

इस प्रकार काव्य की रचना में मुख्य कारण अथवा हेतु एवं काव्य-प्रयोजन के रूप में लोकवृत्त केन्द्र में है। अत: लोकशास्त्र एवं लोकव्यवहार का ज्ञान होना आवश्यक है।

आनन्दस्वरूप परमात्मा का अंश होने के कारण मनुष्य का समस्त क्रियाकलाप आनन्दानुभूति के लिये ही होता है। आनन्दाधिगम के लिये उद्‌भूत अनेक पदार्थ संघातों में ललित कलाओं का महत्त्व सहृदय समाज से छिपा हुआ नहीं है। उनमें भी काव्य की महत्ता असंदिग्ध है। यद्यपि वेद और पुराण भी इसी दिशा में अग्रसर रहते हैं। परंतु उनके मार्ग अपेक्षाकृत भिन्न हैं। वेद प्रभुसम्मित हैं और पुराण सुहृतसम्मित। परंतु कांतासम्मित उपदेश देने वाले काव्य की अवहेलना सरलतया सम्भव नहीं है। पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति सत्काव्यों के सेवन से सुकुमार मतियों को भी सुगमता से ही सम्भव है। काव्य की माधुरी अन्य समस्त माधुरियों को तिरस्कृत करने वाली है। इंद्रिय सन्निकर्ष के आधार पर काव्य के दो भेद किये गये हैं- श्रव्य एवं दृश्य। सद्य:परनिर्वृत्ति का झटिति अनुभव दृश्य काव्य के माध्यम से ही हो सकता है। विभिन्न भूमिकाओं के आरोप (अभिनय) के कारण इसका नाम रूपक भी है- तद्रूपारोपात्तुरूपकम्।

टिप्पणी

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं ऋतुं चाक्षुषं
रुद्रेणदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।

त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाऽप्येकं समाराधनम्॥
(कालिदास मा.1/4)

मुनि लोग नाट्य को देवताओं के लिये शांत चाक्षुष यज्ञ मानते हैं। शिवजी ने उमा के द्वारा संयुक्त अपने अंग में इसे दो प्रकार से विभक्त किया अर्थात् नाट्य युक्त नृत्यों में ताण्डव शिवजी के द्वारा प्रयुक्त होता है तथा पार्वती के द्वारा लास्य का प्रयोग होता है। नाटक में तीनों गुणों से उत्पन्न नानादूरसात्मक लोकचरित का दर्शन होता है। जगत् के प्राणी भिन्न रुचि अवश्य होते हैं, परंतु नाट्य उनका नाना प्रकार से एक अद्वितीय आवर्जन का प्रकार है।

2.2 नाट्यशास्त्र का रचनाकाल

नाट्यशास्त्र का काल-निर्धारण करना एक जटिल समस्या है। भारतीय परम्परा भरत को नाट्यशास्त्र का रचयिता मानती है। किंतु भारतीय इतिहास में अनेक भरतों का होना काल निर्धारण में एक उलझन उत्पन्न कर देता है। हम यहाँ प्राचीन ग्रन्थों, भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों की मान्यताओं के विश्लेषण के साथ आभ्यन्तर और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर नाट्यशास्त्र के काल-निर्धारण का प्रयास करेंगे।

नाट्यशास्त्र के काल निर्धारण के लिए विभिन्न प्रकार की आन्तरिक और बाह्य सामग्रियों की समीक्षा अपेक्षित है। स्वयं नाट्यशास्त्र में अन्तः साक्ष्य के लिए महत्त्वपूर्ण एवं प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। उसमें आर्यों के वैदिक कालीन देवता नाना प्रकार की जातियों और जनपदों, विभिन्न भाषाओं, सभ्यता, आचार-व्यवहारों और काव्यशास्त्र के विवरण आदि भी हमारी समीक्षा की परिधि में आते हैं। इन अन्तः साक्ष्यों के अतिरिक्त भरत एवं नाट्यशास्त्र के अन्य ग्रन्थों तथा शिलालेखों में उल्लेख प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव की तुलनात्मक समीक्षा द्वारा भी काल-निर्धारण में सहायता प्राप्त होती है।

2.2.1 भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों की मान्यताएँ

नाट्यशास्त्र के अध्यायों के प्रथम सम्पादक फ्रेंच विद्वान् पी० रेग्नो तथा उनके शिष्य जे० ग्रॉसे महोदय ने नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी स्वीकार किया है। हरप्रसाद शास्त्री ने नाट्यशास्त्र का रचनाकाल रेग्नो के समान ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी माना है। प्रो० सिल्वा लेवी ने जूनागढ़ शिलालेख और नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त संबोधन वाचक स्वामिन् सुगृहीतनामन् तथा भद्रमुख आदि शब्दों की समानता के आधार पर नाट्यशास्त्र का समय क्षत्रपों का शासनकाल द्वितीय शताब्दी स्वीकार किया है। किन्तु काणे महोदय प्रो० लेवी के मत से सहमत नहीं दिखाई देते। उनका कहना है कि शब्दों के साम्य के आधार पर नाट्यशास्त्र का

टिप्पणी

रचनाकाल द्वितीय शताब्दी मानना समीचीन प्रतीत नहीं होता क्योंकि यह भी सम्भव है कि इन शब्दों का प्रथम प्रयोग नाट्यशास्त्र में ही हुआ हो और वहीं से शिलालेखों में ले लिया गया हो। अतः नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसा की द्वितीय शताब्दी के पूर्व माना जा सकता है। डॉ. दिनेशचन्द्र सरकार नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त नेपालश् तथा महाराष्ट्रश् शब्द का प्रथम उल्लेख प्रयाग-स्तम्भाभिलेख और ऐहोल शिलालेख में पाये जाने के आधार पर नाट्यशास्त्र का रचनाकाल द्वितीय शताब्दी के बाद का मानते हैं। किन्तु काणे महोदय का कथन है कि शिलालेखों में 'नेपालश् एवं 'महाराष्ट्रश् शब्दों का उल्लेख होने से यह नहीं कहा जा सकता है कि उसके पूर्व उन शब्दों का अस्तित्व नहीं था। 200 ईसा पूर्व नानाघाट अभिलेख में भी महाराष्ट्री शब्द का उल्लेख मिलता है। दूसरे प्रवरसेन रचित सेतुबन्ध काव्य में महाराष्ट्री प्राकृत का जिस रूप में प्रयोग हुआ है, उससे यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि इन शिलालेखों के रचनाकाल से शताब्दियों पूर्व महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग करने वाले मराठी जनपद विद्यमान रहे होंगे। अतः काणे महोदय के अनुसार नाट्यशास्त्र का रचनाकाल द्वितीय शताब्दी के पश्चात् नहीं स्वीकार किया जा सकता।

कर्नल जैकब और ए.बी. कीथ नाट्यशास्त्र का रचनाकाल तृतीय शताब्दी स्वीकार करते हैं। डॉ. मनमोहन घोष भाषाशास्त्रीय, छन्दः शास्त्रीय, भौगोलिक तथ्यों आदि के आधार पर नाट्यशास्त्र के प्रणयन का समय ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी तथा ईसा की द्वितीय शताब्दी के मध्य मानते हैं। नाट्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान् ईसा पूर्व रामकृष्ण कवि नाट्यशास्त्र का समय ईसा पूर्व 500 वर्ष स्वीकार करते हैं।

2.2.2 अन्तः साक्ष्य

नाट्यशास्त्र में विविध विषयों के विवेचन के संदर्भ में प्राचीन काल के अनेक आचार्यों और ग्रन्थों का उल्लेख है। अंगहारों के विवेचन के संदर्भ तण्डु, ध्रुवा और गंधर्व के सम्बन्ध में नारद, अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में बृहस्पति, गृह-रचना तथा वास्तुकला के संदर्भ में विश्वकर्मा, शब्दलक्षण के सम्बन्ध में पूर्वाचार्य, पुराण तथा कामतंत्र का उल्लेख मिलता है। नाट्यशास्त्र में इन प्राचीन आचार्यों और ग्रन्थों का नामोल्लेख होने से इतना तो अवश्य ज्ञात होता है कि ये आचार्य नाट्यशास्त्र की रचना के समय तक परम ख्याति को प्राप्त हो चुके थे और उनका मत उस समय तक मान्य हो चुका था। इससे उन प्राचीन आचार्यों के साथ-साथ नाट्यशास्त्र की प्राचीनता का स्पष्ट संकेत मिलता है।

भरत और तण्डु- तण्डु भरत के शिक्षक तथा ताण्डव नृत्त के प्रयोक्ता, अंगहार, रेचक एवं नृत्याभिनयों के प्रथम प्रवक्ता एवं नाट्याचार्य थे। उन्होंने शिव की आज्ञा से भरत को करणों एवं रेचकों से युक्त अंगहारों की शिक्षा दी थी। तण्डु का समय ईसा पूर्व षष्ठ शताब्दी माना जाता है। अतः भरत का समय ईसा पूर्व पञ्चम शताब्दी होना चाहिए। बृहस्पति का ग्रन्थ अप्राप्य है, किंतु नाट्यशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामसूत्र में उनका आचार्य के रूप में उल्लेख हैं। भरतार्णव में बृहस्पति के मतानुसार हस्त-विनियोग का निरूपण है। बृहस्पति का समय ईसा

टिप्पणी

पूर्व षष्ठ शताब्दी के आस-पास माना जाता हैए अतः भरत का समय ईसा पूर्व पंचम शताब्दी या उसके बाद का मानना चाहिए।

भाषा-शैली- नाट्यशास्त्र में संस्कृत और प्राकृत भाषा का जो स्वरूप प्राप्त होता है। वह अश्वघोष के काव्यों में प्रयुक्त प्राकृत भाषा की अपेक्षा परवर्त्ती ज्ञात होता है। इस साक्ष्य के आधार पर नाट्यशास्त्र का रचनाकाल चतुर्थ शताब्दी के पूर्व तथा प्रथम शताब्दी के बाद माना जाता है। किन्तु नाट्यशास्त्र की आनुवंश्य आर्याओं, कारिकाओं, भरतवाक्य, नान्दी आदि विविध प्रसंगों के वर्णन में संस्कृत भाषा का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, उसके आधार पर रेनाल्ड महोदय नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसा के प्रथम शतक का प्रारम्भिक काल मानते हैं। नाट्यशास्त्र में आनुवंश्य आर्याओं, सूत्रानुविद्ध आर्याओं, श्लोकबद्ध कारिकाओं, गद्य, सूत्र तथा सूत्रभाष्य के रूप में उपलब्ध शैली की विविधता नाट्यशास्त्र की प्राचीनता की ओर संकेत करती हैं।

अलंकार- नाट्यशास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक और यमक- इन चार अलंकारों की चर्चा की गयी हैं। जबकि भामह-दण्डी के समय छठी शताब्दी तक उसका उत्तरोत्तर विकास होता रहा है और इनकी संख्या चालीस तक पहुँच गयी। इस प्रकार नाट्यशास्त्र में कुल चार अलङ्कारों का प्रयोग उसकी प्राचीनता का द्योतक है।

महाग्रामणी- नाट्यशास्त्र में 'महाग्रामणी' शब्द ग्रामदेवता का वाचक है। अभिनवगुप्त इसका अर्थ 'गणपति' करते हैं, किन्तु मनमोहन घोष अभिनव के आधार पर महाग्रामणी का अर्थ गणपति स्वीकार नहीं करते। गणपति का हिन्दू-देवता के रूप में उल्लेख न होना इस बात का द्योतक है कि नाटयशास्त्र की रचना उस प्राचीन काल में हुई होगी जब गणेश की देवता के रूप में कल्पना भी न की गई होगी।

2.2.3 बाह्य साक्ष्य

नाट्यशास्त्र और कालिदास- महाकवि कालिदास ने विक्रमोर्वशीय में भरत को नाट्यशास्त्र का प्रवर्त्तक, आठ रसों का प्रतिपादक तथा देवताओं के समक्ष अभिनय का प्रयोक्ता कहा है और नाट्य की अष्टरसाश्रयिता का स्पष्ट उल्लेख किया है। रघुवंश में खण्डिता नायिका का वर्णन नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित नायिका भेद के आधार पर किया गया है। इसी प्रकार रघुवंश में अंग-सत्त्व-वचनाश्रय नृत्य का तथा कुमारसंभव में संध्यंग तथा ललित अंगहारों का प्रयोग नाट्यशास्त्र के आधार पर किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि कालिदास की कृतियों पर नाट्यशास्त्र का स्पष्ट प्रभाव है। अतः स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र का प्रणयन कालिदास के बहुत पहले हो चुका था।

नाट्यशास्त्र और अश्वघोष- अश्वघोष के 'शारिपुत्रप्रकरण' पर नाट्यशास्त्र में निरूपित प्रकरण नामक रूपक-भेद का अधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। अतः अश्वघोष का यह प्रकरण नाट्यशास्त्रोक्त प्रकरण के शिल्प-विधान से प्रभावित है। अश्वघोष का समय ईसा का

टिप्पणी

प्रथम शताब्दी माना जाता है। अतः नाट्यशास्त्र की रचना इसके पूर्व हुई होगी।

नाट्यशास्त्र और गाथासप्तशती- हाल की गाथासप्तशती में उपगूह्य-शृंगाराभिनय की तुलना नाट्य के पूर्वरंग से की गयी है। पूर्वरंग की चर्चा नाट्यशास्त्र के पंचम अध्याय में की गयी है। गाथासप्तशती की रचना 200-400 ईस्वी के मध्य मानी जाती हैं, अतः नाट्यशास्त्र की रचना इसके पूर्व हुई होगी।

नाट्यशास्त्र और स्मृति-साहित्य- याज्ञवल्क्य में भरत का स्पष्ट उल्लेख है। इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्यस्मृति में प्राप्त मद्रक, अपरान्तक, उल्लोप्यक, प्रकरी, रोविन्दक, ओवेणक और उत्तर नामक सात प्रकार के अवैदिक गीतों के नाम नाट्यशास्त्र के अनुसार हैं। ये प्रसंग याज्ञवल्क्यस्मृति में नाट्यशास्त्र से संगृहीत किये गये प्रतीत होते हैं। इस आधार पर नाट्यशास्त्र का समय ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी के बाद नहीं माना जा सकता है।

नाट्यशास्त्र तथा अग्निपुराण- अग्निपुराण में काव्यशास्त्रीय एवं नाट्यशास्त्रीय विषयों का विस्तृत विवेचन है। अग्निपुराण में वर्णित नाट्य-विषय नाट्यशास्त्र से बहुत कुछ साम्य रखता है। इस समानता को देखकर काव्यप्रकाशादर्श के लेखक महेश्वर ने यह प्रतिपादित किया है कि भरत ने सुकुमार राजकुमारों को स्वादु काव्य की प्रवृति के द्वारा अलंकारशास्त्र में प्रवृत्त कराने के लिए ही अग्निपुराण से उद्धृत कर अलंकारशास्त्र का प्रणयन किया है। इसी प्रकार साहित्य-कौमुदी की टीका कृष्णानंदिनी में विद्याभूषण ने प्रतिपादित किया है कि भरत ने वह्निपुराण में दृष्ट साहित्य-प्रक्रिया को लेकर कारिकाओं में नाट्यशास्त्र की रचना की थी। इसी परम्परा के पोषक सिल्वा लेवी ने भी यह प्रतिपादित किया है कि नाट्यशास्त्र की कारिकाएँ संक्षेप रूप में अग्निपुराण से ली गई हैं। उपर्युक्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि भरत ने अग्निपुराण को उपजीव्य बनाकर नाट्यशास्त्र का प्रणयन किया है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र काव्यशास्त्रीय विषयों के लिए अग्निपुराण का ऋणी है।

किंतु काणे महोदय उक्त मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि वृत्तियों के विवेचन के प्रसंग में अग्निपुराणकार ने भरत का उल्लेख किया है। अतः इस परम्परागत मान्यता को स्वीकार करने पर नाट्यशास्त्र का अस्तित्व अग्निपुराण से पूर्व सिद्ध होता है। अग्निपुराण का समय तृतीय-चतुर्थ शताब्दी के मध्य माना जाता है। अतः नाट्यशास्त्र का रचनाकाल इससे पूर्व द्वितीय शताब्दी होना चाहिए।

नाट्यशास्त्र, अग्निपुराण एवं विष्णुधर्मोत्तरपुराण

विष्णुधर्मोत्तरपुराण और नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित नाट्यशास्त्रीय विषयों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि विष्णुधर्मोत्तरपुराण पर नाट्यशास्त्र का स्पष्ट प्रभाव है। अतः नाट्यशास्त्र की रचना विष्णुधर्मोत्तरपुराण से बहुत पहले हुई होगी। डॉ. सुशील कुमार जो विष्णुधर्मोत्तरपुराण का समय 400 ईसा के पश्चात् और 500 ईसा के पूर्व मानते हैं। इसकी भूमिका के लेखक डॉ. पारसनाथ द्विवेदी ने विष्णुधर्मोत्तर-पुराण का रचनाकाल 400-500 ईसा के मध्य माना है। अतः

नाट्यशास्त्र का रचनाकाल इससे कई शताब्दियों पूर्व अर्थात् द्वितीय शताब्दी के आस-पास मानना युक्ति संगत प्रतीत होता है।

उपर्युक्त साक्ष्यों के अनुशीलन के पश्चात् यह अनुमान किया जा सकता है कि नाट्यशास्त्र अश्वघोष, कालिदास, भास एवं अग्निपुराण के पूर्व पूर्ण अस्तित्व में आ चुका था और नाट्यशास्त्रीय मान्यताएँ प्रतिष्ठित हो चुकी थीं। तभी तो अश्वघोष, कालिदास, भास आदि ने उनसे प्रभावित होकर उनकी मान्यताओं को अपने ग्रन्थों में अपनाया होगा। नाट्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान् रामकृष्ण कवि ने विस्तीर्ण मनन के बाद नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी माना है। ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि सुमति भरत का पुत्र था। भरत ने उसे शिक्षा ग्रहण करने के लिए नंदिकेश्वर के पास भेजा था और नंदिकेश्वर ने स्नेहपूर्वक उसे शिक्षा दी थी। इससे प्रतीत होता है कि भरत नन्दिकेश्वर के समकालिक पूर्ववर्ती आचार्य थे। तभी तो उन्होंने अपने पुत्र को शिक्षा के लिए उनके पास भेजा होगा। नंदिकेश्वर का समय ईसा पूर्व षष्ठ शताब्दी के आस-पास माना जाता है। अतः नाट्यशास्त्र की रचना उसके बाद नाट्यशास्त्र की रचना ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी में प्रारम्भ हो चुकी थी। नाट्यशास्त्र की सूत्रशैली भी इसी को पुष्ट करती है। नाट्यशास्त्र का वर्तमान स्वरूप प्रथम शताब्दी में हुआ होगा। इस प्रकार नाट्यशास्त्र का रचना-काल ईसा पूर्व पञ्चम शताब्दी से लेकर ईसा की प्रथम शताब्दी के मध्य माना जा सकता है।

पाठगत प्रश्न 2.1

1. कर्नल जैकब नाट्यशास्त्र का रचनाकाल कब मानते हैं?
2. किसके अनुसार नाट्यशास्त्र का रचनाकाल 500 ईसा पूर्व है?
3. नाट्यशास्त्र में कितने अलंकारों का उल्लेख मिलता है?
4. महाग्रमणी शब्द किसका वाचक है?
5. 'शारिपुत्रप्रकरण' ग्रंथ किसने लिखा है?
6. 'गायासप्तशती' का रचना काल कब का है?

2.3 नाट्यशास्त्र-परम्परा

नाट्यशास्त्र में भी प्रसंगवश अनेक आचार्यों का उल्लेख मिलता है, जो इन आचार्यो की भरत-पूर्वस्थिति का निदर्शक है। इस संदर्भ में शब्द लक्षण के प्रसंग में पूर्वाचार्य, गान्धर्व के प्रसंग में स्वाति, छन्द निरूपण के प्रसंग में अंगहार तथा करण के प्रसंग में तण्डु तथा नन्दी और मानवीय गुणों के प्रसंग में बृहस्पति का आचार्य के रूप में उल्लेख मिलता है। इसके

टिप्पणी

अतिरिक्त नाट्योत्पत्ति के प्रसंग में भरत ने अपने एक सौ पुत्रों का उल्लेख किया है जिनमें नाट्यप्रयोक्ता तथा शास्त्रप्रणेता पुत्रों का भी उल्लेख है। इन पुत्रों में कोहल, दत्तिल, अश्मकुट्ट, बादरायण और शातकर्णी आचार्य के रूप में विदित होते हैं।

2.3.1 भरतमुनि के समकालीन नाट्यशास्त्रकार

आचार्य कोहल- नाट्यशास्त्र में उल्लिखित भरतपुत्रों में सर्वप्रथम कोहल आते हैं, नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में भरतपुत्रों में कोहल का साधारण उल्लेख मिलता है किन्तु नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में कोहल आचार्य के रूप में भरत के उत्तराधिकारी निरूपित किये गये हैं। आचार्य कोहल ने संगीत, नृत्य तथा अभिनय से सम्बद्ध स्वतन्त्र ग्रंथों की रचना की थी।

नन्दी या नन्दिन्- नन्दी ही नन्दिकेश्वर हैं, भरतमुनि के ताण्डव शिक्षक के रूप में नाट्यशास्त्र में उल्लिखित किये गये हैं।

तुम्बुरु- तुम्बुरु नृत्य-संगीत के प्रसिद्ध आचार्य तथा पौराणिक व्यक्तित्व हैं। रेचक, करण, अंगहार तथा संगीत के प्रसङ्ग में तुम्बुरु का नाट्यशास्त्र में उल्लेख मिलता है।

काश्यप- कोहल के समान काश्यप मुनि भी भरताचार्य के समकालीन संगीत तथा नाट्यशास्त्रकार थे। आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा अभिनवभारती में काश्यप के भिन्न कैशिक, टक्क, सौवीर तथा मालव कैशिक जैसे रागों के विषय में उद्धरण मिलते हैं।

दत्तिल- दत्तिल या दन्तिल भी भरतमुनि के समकालीन शास्त्रकार थे। दत्तिल नाट्यविद्या तथा सङ्गीत के प्रामाणिक ग्रंथकार थे। भरतमुनि के शतपुत्रों में कोहल के बाद दत्तिल का ही क्रम आता है।

नखकुट्ट तथा अश्मकुट्ट- इन दोनों आचार्यों का भरतपुत्र के रूप में नाट्यशास्त्र में उल्लेख मिलता है।

बादरायण तथा शातकर्णी- नाटयशास्त्र में बादरायण का उल्लेख भरतपुत्र के रूप में किया गया है।

इस प्रकार जिन भरतपुत्रों का आचार्यत्व यहाँ बतलाया गया है, उनकी भरतमुनि से समकालता थी यह स्पष्ट है।

2.3.2 मध्यकालीन नाट्यशास्त्रकार आचार्य

आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र व्याख्या में विशाखिल तथा चारायण, कात्यायन, राहुल तथा गर्ग, शकलीगर्भ तथा घण्टक, नाट्यवार्तिककार हर्ष, मातृगुप्ताचार्य तथा सुबन्धु आदि के उद्धरण दिए हैं। जिससे नाट्यशास्त्र पर इनकी किसी कृति का अनुमान लगता है।

टिप्पणी

2.3.3 भरत नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र पर अनेक आचार्यों द्वारा व्याख्याएं लिखी गयी थीं। इस समय केवल अभिनवभारती ही उपलब्ध है, जिससे नाट्यशास्त्र पर लिखित व्याख्यानों, वार्तिकों तथा स्वतंत्र नाट्य रचनाओं के विषय में हमें ज्ञान होता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने उद्भट को नाट्यशास्त्र का एक व्याख्याकार माना जिसका समर्थन शाङ्र्गदेव के संगीत-रत्नाकर से भी होता है। संगीत रत्नाकर ने कीर्तिधर आचार्य को भी नाट्यशास्त्र का एक व्याख्याकार बतलाया। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के व्याख्याकारों के रूप में भट्ट लोल्लट, श्रीशंकुक, भट्ट नायक तथा अभिनवगुप्त का उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त के अनुसार भट्ट यन्त्र भी नाट्यशास्त्र के एक व्याख्याकार थे। परवर्ती रचनाओं से कुछ अन्य आचार्यों द्वारा भी नाट्यशास्त्र पर व्याख्यान लिखने के विवरण मिलते हैं।

भट्ट लोल्लट- आचार्य अभिनवगुप्त ने भट्ट लोल्लट के मत को प्रस्तुत करते हुए उस पर आलोचना की है। भरतसूत्र के रसविषयक व्याख्याक्रम में इन्हें उत्पत्तिवादी आचार्य माना जाता है। भट्ट लोल्लट अपराजित के पुत्र होने से अपराजिति नाम से भी जाने जाते थे। अपराजिति के नाम से राजशेखर की काव्यमीमांसा में जो उद्धरण दिये गये हैं उन्हीं को हेमचन्द्र ने भट्टलोल्लट के नाम से उद्धृत किया है।

श्रीशंकुक- भरत नाटयशास्त्र के व्याख्याकार कश्मीर निवासी विद्वान श्रीशंकुक रसशास्त्र के व्याख्यान में अनुमितिवादी आचार्य माने जाते हैं।

भट्ट नायक- नाटयशास्त्र के व्याख्याकार के रूप में भट्टनायक का नाम रसशास्त्र के व्याख्यान क्रम में साधारणीकरण के मौलिक उद्भावक एवं भुक्तिवाद के प्रवर्तक आचार्य के रूप में विख्यात है।

अन्य व्याख्याकार- अभिनवभारती में अभिनवगुप्त ने भटटयन्त्र, कीर्तिधर, नान्यदेव तथा भट्टतोत के मत तथा नाटयशास्त्र पर उनकी गम्भीर मान्यताओं को उद्धृत किया है तथा इन्हें नाट्यशास्त्र का प्राचीन टीकाकार माना है।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद- आचार्य अभिनवगुप्तपाद काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त दर्शन तथा तन्त्रादि शास्त्रों के पारंगत विद्वान महान ज्ञानी तथा मध्यकालीन भारत की प्रतिभामण्डित विद्वत्शृङ्खला में मध्यमणि की तरह विलक्षण व्यक्तित्व के धनी थे। यद्यपि अभिनवगुप्त कश्मीर के निवासी थे किन्तु इनके पूर्वज कन्नौज नगर के आस-पास अन्तर्वेदी के निवासी थे। अभिनवगुप्त के स्थितिकाल से लगभग 200 वर्ष पूर्व इनके पूर्वज अत्रिगुप्त कन्नौज से आकर कश्मीर में बस गये थे क्योंकि इन्हें कन्नौज से काश्मीर के तत्कालीन शासक यशोवर्मा ने ससम्मान आमन्त्रित किया था। उन्होंने अत्रिगुप्त को वितस्ता के किनारे एक सुन्दर भवन तथा एक जागीर देकर बसाया था। इनके वंश में आगे चलकर वराहगुप्त हुए जो अभिनव के पितामह थे। वराहगुप्त के पुत्र नरसिंहगुप्त हुए जिसका दूसरा नाम चूखुलक था।

टिप्पणी

इनके चाचा का नाम वामन गुप्त था। वामन गुप्त कवि थे जिनका एक पद्य अभिनव ने एक प्रसंग में उद्धत भी किया है। नरसिंहगुप्त के पुत्र अभिनवगुप्त थे। इनकी माता का नाम था विमल कला। इनका वंश शिवभक्ति के लिए प्रसिद्ध था। इनके साहित्यशास्त्र के प्राप्य दो ग्रन्थ हैं। एक ध्वन्यालोकलोचन तक दूसरा अभिनवभारती।

2.3.4 नाट्य-साहित्य के उत्तरकालीन-ग्रन्थकार

धनंजय- धनंजय ने दशरूपक की रचना दशवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में की जिसमें नाट्यशास्त्र में विद्यमान सामग्री के आधार पर संक्षिप्त विषय सामग्री के साथ केवल रूपकों के विवेचन मात्र से सम्बद्ध तत्त्वों का विवरण दिया गया है। इस बीच नाट्य पर भी जो अनेक प्रकरण ग्रन्थ लिखे जा रहे थे धनञ्जय उन्हीं की परम्परा में प्रमुख थे। ये विष्णु के पुत्र तथा मालवा के परमारवंशीय शासक मुंज वाक्पतिराज द्वितीय (उप नाम पृथ्वी वल्लभ) की राजसभा के पण्डित थे। इन्हीं के भाई ने दशरूपक पर अवलोकवृत्ति लिखी है जिसमें धनिक के लक्षणों की सोदाहरण विवेचना की गयी है।

सागरनन्दी- नाटक-लक्षण-रत्नकोष इनकी रचना है।

भोज- इनके अलंकार शास्त्र पर दो प्रसिद्ध ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध हैं- 1) सरस्वतीकण्ठाभरण तथा 2) शृंगार प्रकाश। यद्यपि ये दोनों मूलत: अलंकारशास्त्र के ग्रन्थ हैं तथापि शृङ्गार-प्रकाश के बारहवें प्रकाश में नाट्य तथा उसके अंगों का विस्तार से विवेचन है जो दशरूपक से भिन्न है। इनके मत में दृश्य काव्य की अपेक्षा श्रव्य काव्य का क्षेत्र व्यापक है, अत: नाट्यशास्त्र अलङ्कारशास्त्र का अङ्गीभूत है।

आचार्य हेमचन्द्र- आचार्य हेमचन्द्र की काव्य नाट्यविषयक प्रसिद्ध रचना काव्यानुशासन है। इस पर स्वयं आचार्य हेमचन्द्र ने विवेक नामक व्याख्यान किया है।

रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र- रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र सुप्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे। इनकी सम्मिलित रचना नाट्यदर्पणसूत्र है।

रुय्यक- रुय्यक या रुचक कश्मीर के निवासी थे। अलंकार-सर्वस्व तथा सहृदयलीला के सुप्रसिद रचयिता होने के अतिरिक्त इन्होंने महिमभट्ट के व्यक्ति विवेक पर टीका भी लिखी थी।

शारदातनय- भरतमुनि के नाटयशास्त्र के पश्चात् नाट्यशास्त्र पर दूसरा विस्तीर्ण ग्रन्थ शारदातनय का भावप्रकाशन है।

शिंगभूपाल- शिंगभूपाल की सुप्रसिद्ध नाटयशास्त्रीय कृति रसार्णवसुधाकर है।

विश्वनाथ कविराज- विश्वनाथ कविराज का परमलोकप्रिय तथा प्रसिद्ध ग्रंथ है- साहित्यदर्पण, जो मूलत: अलङ्कारशास्त्रीय ग्रंथ है। इसी के षष्ठ परिच्छेद में नाटकीय तत्वों का विवेचन

करते हुए ग्रंथकार ने पूर्ववर्ती नाटयाचार्यों के वर्णित विषयों एवं सिद्धान्तों का संक्षिप्त एवं समग्र विवरण दिया है। इसमें नाट्यलक्षण, रूपकों के विभेद तथा उपभेद एवं अर्थ प्रकृति, सन्धि आदि सभी अंगों का सोदाहरण लक्षण निरूपित किया गया है।

पाठगत प्रश्न 2.2

1. अनुमितिवाद के आचार्य माने जाते हैं?
2. अभिनवभारती ग्रंथ किसने लिखा है?
3. भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के पश्चात दूसरा विस्तीर्ण ग्रंथ है?
4. काव्यानुशासन किसका ग्रंथ है?

2.4 नाट्यशास्त्र का स्वरूप

इस ग्रन्थ ने भरत की उदात्त कला चेतना को अनुप्राणित किया है। इसी कारण शास्त्रकारों ने नाट्यशास्त्र को नाट्य-वेद तथा इसके प्रणेता भरताचार्य को मुनि के रूप में आदर से स्मरण किया है। वर्तमान उपलब्ध नाट्यशास्त्र के छत्तीस (या कुछ संस्करणों में सैंतीस) अध्याय हैं तथा इसका आयाम छः सहस्र श्लोकों का है। इसी तथ्य का संकेत आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी प्रसिद्ध नाटयशास्त्र व्याख्या अभिनवभारती में किया है।

नाट्यशास्त्र की रूपरेखा से परिचित होने के लिए यहाँ नाट्यशास्त्र के अध्याय-योजनानुसार विषयवस्तु को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

नाट्यशास्त्र के **पहले अध्याय** में भरतमुनि के आत्रेय आदि ऋषियों द्वारा नाट्यवेद के विषयों में जिज्ञासापूर्वक प्रश्न किये गये नाट्यवेद की उत्पत्ति कैसे हुई? किसके लिए हुई? इसके कौन- कौन अंग हैं? उसकी प्राप्ति के उपाय कौन से हैं? तथा उसका प्रयोग कैसे हो सकता है? भरतमुनि ने इसके उत्तर में कहा कि नाट्यवेद का ऋग्वेद से पाठ्य अंश, साम से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रसों को लेकर प्रणयन किया गया है। इसे इस स्वरूप में निर्मित कर मुनि ने इसे अपने पुत्रों को सिखाया।

दूसरे अध्याय में मुनि ने नाट्यप्रदर्शन के लिये आवश्यक होने के कारण प्रेक्षागृह का वर्णन करते हुए उसके तीन प्रकारों को बतलाया तथा उनके शिल्प, आकार तथा साधनों का विस्तार से विवेचन किया है।

तीसरे अध्याय में नाट्यमण्डप में सम्पादित की जाने वाली आवश्यक धार्मिक क्रियाओं का निरूपण करते हुए विभिन्न देवताओं की पूजा तथा उनसे प्राप्त होने वाले फलों का निरूपण किया है।

टिप्पणी

चौथे अध्याय में भरतमुनि द्वारा अमृतमन्थन नाट्यप्रयोग के देवताओं के सम्मुख प्रस्तुत करने तथा त्रिपुरदाह को महेश्वर के सम्मुख करने तथा महेश्वर के आदेश से तण्डु द्वारा भरत को अंगहार, करण तथा रेचकों का ज्ञान करवाने का वर्णन है। इसी अध्याय में विस्तार से ताण्डवनृत्य की उत्पत्ति तथा उसके शिल्प का; अंगहारों, करणों, रेचकों आदि का सांगोपांग विवेचन है। जिसके अभिनय में नृत्तहस्तों तथा गीतों से सौन्दर्य वृद्धि होती है।

पांचवें अध्याय में नाट्यप्रयोग के आरम्भ में प्रस्तुत किये जाने वाले पूर्वरंगविधान, नान्दी, प्रस्तावना तथा ध्रुवाओं का सांगोपांग विवेचन है।

छटा अध्याय- रसाध्याय है। इसमें ऋषिगण रसविषयक पाँच प्रश्न उपस्थापित करते हैं। उत्तर में भरतमुनि रसों के नामकरण का आधार तथा संग्रह, कारिका तथा निरुक्त का आधार लेकर नाट्यसंग्रह के विवरण के साथ रस का वर्णन करते हैं। इसी क्रम में रसण्निष्पत्ति, रसों का भावों आदि से पारस्परिक सम्बन्ध, रसों के अधिदेवता तथा रस एवं उनके स्थायीभावों का विस्तृत विवरण दिया गया है।

सातवां अध्याय भावाध्याय है। इसमें भाव, विभाव, स्थायी तथा संचारी या व्यभिचारी भावों का विस्तृत विवेचन तथा आठ प्रकार के सात्विक भावों का (रसों की अपेक्षा से) विवरण दिया गया है।

आठवें अध्याय से अभिनय वर्णन आरम्भ हो जाता है। इसमें अभिनय के आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक भेद बताकर आंगिक अभिनय के अन्तर्गत उपाङ्गाभिनय आदि का सांगोपांग वर्णन किया गया है।

नवें अध्याय में आंगिक अभिनय के क्रम को और आगे बढ़ाते हुए हस्त, कुक्षी, कटि, जानु तथा पाद जैसे शारीर अंगों का अभिनय विस्तार से निरूपित करते हुए 24 असंयुत हस्तमुद्राओं, 13 संयुक्त हस्तमुद्राओं, 27 प्रकार के नृत्त हस्तों का वर्णन करते हुए 64 हस्त प्रकारों को बतलाया गया है। अंग संचालन तथा हस्त मुद्राओं का प्रयोग रस, भाव तथा अभिनय के अनुरूप होता है और नृत्य में हस्तमुद्राओं की परमोपयोगिता होती है अतः इसका भी विवेचन किया गया है।

दशवें अध्याय में वक्ष, कटि तथा शरीर के अन्य भागों के परिचालन- जन्य पाँच प्रकारों का विवरण देकर उनके विभिन्न अवसरों पर किये जाने वाले अभिनय प्रयोग बतलाये गये हैं।

ग्यारहवें अध्याय में चारी का निरूपण करते हुए 16 प्रकारों की भौमी तथा 16 प्रकार की आकाशिकी चारियों के लक्षण तथा प्रयोगों को बतलाया गया है तथा खण्ड-करण तथा मण्डलों की नाट्योपयोगिता का वर्णन किया गया है।

बारहवें अध्याय में मण्डलों का लक्षण, संख्या तथा प्रयोग आदि का विशद निरूपण किया गया है।

टिप्पणी

तेरहवें अध्याय में गति प्रचार का निरूपण है। इसमें रसादि के अवसरों एवं अवस्थाओं के अनुकूल पात्रों की गति के विवरण बतलाये गये हैं। इसमें नाट्यप्रयोग के आरंभ में प्रस्तुत होने वाली ध्रुवाओं के गान के (आरम्भ में) समय होने वाली पात्रों (को प्रवेश करते समय) की गति से लेकर देव, राजा, मध्यवर्ग के स्त्री-पुरुष, निम्न वर्ग के लोगों की गति में लगने वाले समय, रौद्र, बीभत्स, वीर आदि रसों को प्रस्तुत करते समय की भंगिमाएं तथा शीतार्त, संन्यासी, मदमत्त तथा उन्मत्त पात्रों के परिचालन के प्रकार तथा गतियों के अभिनय करने का विवरण दिया गया है।

चौदहवें अध्याय में रंगमंच पर विद्यमान गृह, उपवन, वन, जल, स्थल आदि प्रदेश को संकेतित करने के निश्चय, समय के अंगानुसारी विभाजन तथा एक वर्ष या एक मास में घटित घटनाओं के लिए नये अंक की योजना, देश, वेशभूषा, आधार आदि पर निर्भर चार प्रकार की प्रवृत्तियों का निरूपण, सुकुमार तथा आविद्ध नामक दो प्रकार के नाट्य प्रयोगों का वर्णन तथा अन्त में लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी नामक दो नाट्य विद्याओं का निरूपण है।

पंद्रहवें अध्याय से वाचिकाभिनय आरम्भ होता है। इसमें आरम्भ के अक्षरों पर आधारित वाणी का नाट्य के वाचिक अभिनय में उपयोग बतलाते हुए अक्षरों के स्वर व्यंजनात्मा विभेद बतलाकर उनके स्थान, प्रयत्न आदि का विवरण दिया गया है। फिर शब्दों की संज्ञा, क्रिया, उपसर्ग, संधियाँ आदि विभेद बतलाकर नाटक में की जानेवाली भाषाओं का शब्द भेद द्वारा विवेचन किया गया है। इसके उपरान्त नाट्य के संवादमय वाचिक अभिनय में प्रयुक्त किये जाने वाले एक से लेकर छब्बीस अक्षरों तक के छन्दों का (प्रत्येक के भेदोपभेद एवं उदाहरण देते हुए) निरूपण किया गया है। अन्त में गुरु, लघु तथा यति मात्रा आदि छंद। शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या दी गयी है।

सोलहवें अध्याय में भी इसी क्रम में आगे बढ़कर वाचिकाभिनय में उपयोगी वृत्तों का सोदाहरण निरूपण है। अन्त में सम तथा विषम वृत्त बतलाकर आर्य के प्रभेदों का विवरण दिया गया है।

सत्रहवें अध्याय में अभिनय के अंतर्गत काव्य के छत्तीस लक्षणों का विवरण है। इसके उपरांत उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक नामक काव्य के अलकार का विरूपण करते हुए गुण तथा दोषों का भी निरूपण दिया गया है।

अठारहवें अध्याय में नाटकोपयोगी भाषाओं का विवरण देते हुए संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश या देशी शब्द रूपों के उच्चारण भेद द्वारा होने वाले परिवर्तनों का विवरण देकर भाषा एवं विभाषाओं का वर्णन दिया गया है। इनके बोलने के नियम, विराम तथा काकु का प्रयोग तथा देशभेद से प्राकृतादि भाषाओं के ओकारबहुला आदि भेद होना दिखलाया गया है।

उन्नीसवें अध्याय में उच्च, मध्य तथा निम्न वर्ग के पात्रों के संबोधन करने की विविध प्रणालियों का निरूपण है। इसके अतिरिक्त इन वर्गों के पात्रों के नामकरण के उपाय बतलाते

टिप्पणी

हुए गद्य पाठ्य के गुण, स्वर, व्यंजनों के उच्चारण-स्थान, स्वरों के उदात्त आदि प्रकार, काकु के विभेद तथा स्वरों के उच्च, मंद, दीप्त, भद्र एवं नीच, द्रुत तथा विलम्बित जैसे अलंकारों का विवरण दिया गया है।

बीसवें अध्याय में रूपकों के विभेद बतलाते हुए नाट्यशास्त्र के मुख्य विषय का आरम्भ किया गया है। इसमें दस रूपकों के लक्षण बतलाते हुए उनके वैशिष्ट्य को प्रतिपादित किया गया है। इनके अंगभूत अंक, प्रवेशक, विष्कम्भक, चूलिका आदि का निरूपण करते हुए रूपकों के अन्य संघटक अंगों की चर्चा की गयी है।

इक्कीसवें अध्याय में नाटक की कथावस्तु के आधिकारिक तथा प्रासंगिक भेदों का निरूपण, पंच संधियाँ, पाँच अवस्थाएं, पाँच अर्थ प्रकृतियाँ तथा संध्यंतर का विवरण देकर संधियों के सभी अंगों के लक्षण बतलाये गये हैं। अर्थोपक्षेपकों के द्वारा कथावस्तु के सूच्य रूप को निरूपित करते हुए उनके पाँच प्रकारों का लक्षण सहित निरूपण किया गया है तथा अन्त में सभी विद्याए शिल्प तथा कला आदि के नाटकोपयोगी होने की बात को दोहराया गया है।

बाईसवें अध्याय में नाटकोपयोगी वृत्तियों का निरूपण किया गया है। ये वृत्तियाँ हैं भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी। वृत्तियों की उत्पत्ति के प्रसंग में विष्णु भगवान के द्वारा मधुकैटभ दैत्यों से युद्ध करने तथा उसमें चारों वृत्तियों के प्रयोग की पौराणिक कथा को लेकर चारों वेदों से चारों वृत्तियों के उत्पन्न होने का विवरण देकर इन वृत्तियों के भेद-प्रभेद तथा लक्षण बतलाकर विभिन्न रसों में योजना का विवरण दिया गया है।

तेईसवें अध्याय में आहार्याभिनय का वर्णन है। आहार्याभिनय नेपथ्य या वेशभूषा पर अवलम्बित होता है, अतएव इसमें आभूषण के स्वरूप के साथ वेशभूषा के प्रदर्शन के विविध उपायों का विवरण दिया गया है। नेपथ्य के चार प्रकार बतलाकर अलंकारों के विवरण देते हुए विभिन्न देशों के निवासी स्त्री-पुरुषों के द्वारा व्यवहार में लिये जाने वाले आपादमस्तक धारण करने योग्य अलंकारों एवं उपकरणों यथा. तिलक, अंजन, दन्त एवं ओष्ठराग आदि उपकरणों की सजावट के विवरण दिये गये हैं। अंगरचना के प्रकरण में विविध पात्रों के जातीय रूप (जैसे राजा, श्रेष्ठि, शक, यवन, शूद्र आदि) को प्रकट करने के लिए उनके शरीर के अनुरूप रंग में रंगना तथा तदनुसार मूंछ, दाढ़ी आदि की निर्माण विधि बतलायी गयी है। सजीव, नेपथ्य का वर्णन तथा उसके अन्तर्गत नाट्यमंच पर प्रस्तुत होने वाले विविध पशु, पक्षी, सर्प आदि को प्रस्तुत करने की विधियों का वर्णन किया गया है।

चौबीसवें अध्याय में सामान्य अभिनय का निरूपण है। इसमें पात्रों की उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति का वर्णन है। इसी प्रकार स्त्रियों के अयत्नज अलंकारों के अन्तर्गत भाव, हाव तथा हेला का स्वरूप बतलाकर इनके स्वभावज अलंकारों को बतलाया गया है। इसके बाद वाक्याभिनय का निरूपण करते हुए वाचिक अभिनय के आलाप, प्रलाप आदि विभेदों को बतलाया गया है। इसी प्रकार दर्शन, स्पर्शन आदि क्रियाओं के अभिनय की विधि का वर्णन कर उचित तथा अनुचित घटनाओं के मंच पर प्रदर्शित करने के नियम बतलाये गये हैं।

टिप्पणी

विभिन्न स्त्री जातियों के स्वभावादि के आश्रय से विभेद बतलाकर अभिलाषा, स्मृति आदि दस दशाओं का वर्णन किया गया है तथा कामावस्था में दूतीप्रेषण आदि का विधान बतलाने के बाद नायिकाओं के अवस्थागत आठ प्रकारों का निरूपण किया गया है। इससे अतिरिक्त प्रणय, क्रोध तथा ईर्ष्या की दशा में होने वाले उचित सम्बोधन आदि का यहाँ रोचक विवरण दिया गया है।

पच्चीसवें अध्याय में वैशिक पुरुष का लक्षण बतलाकर उसके सहजगुणों तथा सम्पादित गुणों का विस्तार से निरूपण किया गया है। इसके मित्र तथा दूती आदि का सांगोपांग विवरण देकर स्त्रियों के यौवन को चार अवस्थाओं, प्रेमियों के प्रकारों तथा स्त्री को वश में करने के उपायों का विधिवत् निरूपण किया गया है।

छब्बीसवाँ अध्याय चित्राभिनय का है। इसमें सामान्य अभिनय के अंतर्गत जिन आंगिक आदि अभिनयों का वर्णन छूट गया था ऐसे विशिष्ट अभिनयों का विवरण दिया गया है। इसके अन्तर्गत आकाश, रात्रि, सायंकाल, अंधकार आदि का प्रदर्शन करने के लिये अभिनय विधि के विवरण देते हुए हर्ष, शोक आदि भाव प्रकट करने की विधियाँ विशिष्ट रूप से निर्दिष्ट की गई हैं। आकाश भाषित जैसे सूच्य कथावस्तु के प्रकारों का तात्पर्य प्रकट करते हुए वृद्ध तथा बालकों के सम्भाषण की विधि, आसन्नमृत्यु पात्र के मंच पर प्रस्तुत करने तथा अन्य अनुक्त अभिनयों के सम्पन्न करने की विधि निरूपित की गई है।

सत्ताईसवाँ अध्याय सिद्धिव्यंजकाध्याय है। इसमें नाट्य-प्रदर्शन में होने वाली देवी तथा मानुषी सिद्धि का सांगोपांग निरूपण करते हुए उनमें होने वाले विघ्नों का विवरण दिया गया है। इसी प्रसंग में नाटक प्रदर्शन के निर्णायक या परीक्षकों की विभिन्न श्रेणियों तथा उनकी योग्यता का विस्तार से निरूपण है।

अट्ठाईसवें अध्याय से लेकर चौतीसवें अध्याय तक संगीतशास्त्र का विषय प्रतिपादित किया गया है। इस क्रम में अट्ठाइसवें अध्याय में चार प्रकार के वाद्यों का विस्तार से विवरण दिया गया है। स्वरों के सात प्रकार बतलाते हुए उनके वादी आदि चार विभेद निर्देशित किये गये हैं। इसके अतिरिक्त स्वर ग्राम, मूर्च्छना, श्रुतियों तथा जातियों का विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है।

उन्तीसवें अध्याय में जातियों के रसाश्रित प्रयोग का विवरण है। वर्ण तथा अलंकारों का स्थायी आदि वर्णों पर आश्रित स्वरूप बतलाया गया है तथा वीणाओं के स्वरूप आदि पर चर्चा की गयी है।

तीसवें अध्याय में बांसुरी के स्वरूप का विवेचन तथा उसकी वादन विधि बतलाई गयी है।

इकतीसवें अध्याय में ताल और लय का सांगोपांग वर्णन करते हुए अवनद्धवाद्यों का निरूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त गीत के समय निय मन हेतु ताल विधान को विस्तार से निरूपित करते हुए कुछ गौण नाट्य प्रयोगों का सलक्षण विवरण दिया गया है।

टिप्पणी

बत्तीसवाँ अध्याय ध्रुवाध्याय है। इसमें पात्रों के प्रदेश आदि अवस्थाओं में गायी जाने वाली ध्रुवाओं का विवरण है। ध्रुवाओं के अधिकांश प्राकृत भाषा में तथा कुछ संस्कृत भाषा में होने से मुख्यत: ध्रुवाओं की भाषा प्राकृत (शौरसेनी) रखने का विवरण दिया गया है। इन ध्रुवाओं के सोदाहरण लक्षणों का प्रतिपादन तथा गायकए वादक तथा बाँसुरीवादक के गुण तथा उनकी योग्यता का निरूपण भी दिया गया है। इसके उपरान्त संगीत के आचार्य तथा शिष्य की योग्यता के विवरण एवं स्वभावत: स्त्री के द्वारा गायन और पुरुषों के द्वारा वादन करने का निर्देश दिया गया है।

तैंतीसवां अध्याय वाद्याध्याय है, जिसमें मृदंग आदि अवनद्ध वाद्यों का विवेचन है। इसी में स्वाति तथा नारद के द्वारा अवनद्ध वाद्य के प्रवर्तन का आख्यानात्मक विवरण दिया गया है तथा किस अवसर पर किस प्रकार के वाद्यों का वादन का शिक्षण किया जाए, इसका तथा वाद्यों के अंतर्गत मृदंग, पणव, दर्दर आदि वाद्यों के निर्माण तथा वादन आदि का विवरण भी है तथा वाद्यों के अधिदेवताओं का भी वर्णन दिया गया है।

चौतीसवें अध्याय में पुरुष एवं स्त्रियों की त्रिविध प्रकृति का निरूपण करने के साथ ही चार प्रकार के नायकों का सलक्षण वर्णन दिया गया है। नायक परिवार के अंतर्गत स्त्रियों की विभिन्न श्रेणियों में महादेवी, देवी, नर्तकी, परिचारिका आदि पात्रों का भी स्वरूप बतलाया गया है। नृप, सेनापति, पुरोहित, मंत्रीगण, सचिव, प्राड्विवाक तथा कुमार का सलक्षण निरूपण है।

पैंतीसवाँ अध्याय भूमिका पात्र विकल्पाध्याय है। इसमें नाटयमण्डली के सदस्यों का विभाजन करते समय उनकी व्यक्तिगत विशेषाओं को दर्शाया गया है। सुकुमार तथा आविद्ध नामक दो नाट्य-प्रयोगों का विवरण देकर सूत्रधार, पारिपाश्विक, अभिनेता, विट, शकार, विदूषक, चेट जैसे पुरुष-पात्रों तथा नायिका, गणिका आदि स्त्री पात्रों के स्वरूप का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

छत्तीसवाँ अध्याय अंतिम है। इस अध्याय में मुनियों ने भरतमुनि से पृथ्वी पर नाट्य के अवतरित होने के विषय में पुन: जिज्ञासा की? मुनि ने इसके उत्तर में दो आख्यान प्रस्तुत किये। प्रथम में भरतपुत्रों के द्वारा मुनिजनों के उपहासकारी नाट्य से रुष्ट होकर ऋषियों से शप्त हो जाने की तथा दूसरे में इसी कारण राजा नहुष की प्रार्थना पर स्वर्गस्थ नाट्य की भूतल पर अवतरणा होने की कथा है।

नाट्यशास्त्र के जिन संस्करणों में 37 अध्याय हैं उनमें नहुष की कथा अर्थात् द्वितीय आख्यान 37 वें अध्याय में रखा गया है।

नाट्यशास्त्र के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र अपने विस्तीर्ण क्षेत्र के कारण अपने उत्तरकाल में निर्मित सभी नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों से विशिष्ट बना रहा। इसका कारण है नाटय से सम्बन्धित सभी विद्याओं का सलक्षण निरूपण करते हुए इसका विश्वकोष के रूप में प्रथित होना। इसमें रूपकों में प्रयुक्त होने वाले अभिनय के (वाचिक) छंदों से लेकर सात्विक,

आंगिक तथा आहार्य अभिनय, रूपकों के संघठक तत्वों आदि का सांगोपांग विवरण तथा उनमें प्रयुक्त होने वाले गीत तथा संगीत के उपकरण, वाद्य आदि के विषय में सूक्ष्मतम विवरण दिया गया है। इस प्रकार कला के सूक्ष्म एवं व्यापक विवेचन वाला विश्व में एकमात्र ग्रन्थ होने का भी नाट्यशास्त्र को ही गौरव प्राप्त है।

नाट्य शब्द नृत्य, गीत और वाद्य के समुदाय रूप अर्थ को प्रकट करता है। कोशकारों ने नृत्य, गीत और वाद्य की सह प्रस्तुति को नाट्य कहा है। नाट्य और नटन ये दोनों शब्द नट् धातु से निष्पन्न होते हैं, जिसका अर्थ है नर्तन, नृत्य या नृत्त। नाट्य नमनार्थक नट् शब्द से व्युत्पन्न होता है। इसमें पात्र स्व (अपना) भाव को त्यागकर पर-प्रभाव को ग्रहण कर रूप धारण करता है, अतः वह नाट्य या रूपक होता है।

भरत के अनुसार नाट्य में सम्पूर्ण वाक्यार्थ को अभिनय के द्वारा प्रदर्शित करके सहृदय के हृदय में रस का संचार किया जाता है। अतः आंगिक आदि अभिनयों से युक्त सुख-दुःख आदि से समन्वित लोकस्वभाव को नाट्य कहा है।

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सोऽगादयभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते॥
(नाट्यशास्त्र 1/122)

अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्य साक्षात्कार कल्प अनुव्यवसायात्मक ज्ञान रूप है। साक्षात्कारकल्पानुव्यवसायगोचरकर्यत्वं च नाट्यस्य लक्षणम्। भरत ने लोकवृत्तानुकरण को नाट्य माना है। धनञ्जय ने भी लोक की विभिन्न अवस्थाओं की अनुभूति को नाट्य कहा है- अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्।

संस्कृत नाटकों का अपना वैशिष्ट्य है। भारतीय नाटकों में यद्यपि मध्य में सुख और दुःख का सम्मिश्रण है तथापि सभी नाटक सुखांत होते हैं। भारतीय नाटक स्वरूपतः रमणीय कल्पना प्रधान होते हैं। इनमें शृङ्गार और वीर रस के रोचक उपाख्यान मुख्यतः होते हैं। यहाँ कथोपकथन के लिये गद्य का प्रयोग किया जाता है। रोचकता, प्रकृति वर्णन, नीति, शिक्षा, सुभाषित आदि के लिये पद्यों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार गद्य-पद्य का समंवय रहता है। प्रथम श्रेणी एवं मध्यम श्रेणी के पुरुष पात्र संस्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं। सभी स्त्री पात्र और अधम श्रेणी के पात्र प्राकृत में बोलते हैं। प्राकृत पद्यों की रचना मुख्यतया महाराष्ट्री प्राकृत में होती थी। प्राकृतों में विशेष रूप से महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी का प्रयोग हुआ है। सभी कोटि के पात्र संस्कृत समझते थे, किंतु अपने सामाजिक स्तर के अनुसार संस्कृत या प्राकृत बोलते थे। पूरा नाटक अंकों में विभक्त होता है। नान्दी पाठ से प्रारम्भ, सूत्रधार द्वारा स्थापना, स्थापना या प्रस्तावना में कवि परिचय, संक्षेप या कथानक को जोड़ने के लिये विष्कम्भक और प्रवेशक का प्रयोग, भरतवाक्य से समाप्ति आदि संस्कृत नाटकों की रचना-विधि की विशेषताएँ हैं। विदूषक हास्य के साथ ही कथानक की प्रगति में सहायक होता है और यथावसर नायक को परामर्श आदि देता है। नाटकों में अभिनय संबंधी संकेत यथास्थान

सूक्ष्मता के साथ दिये जाते हैं। जैसे- प्रकाशम्, स्वगतम्, अपवारिम्, जनांतिकम्, आकाशे, सरोषम्, विहस्य, ससंभ्रमम्। संस्कृत नाटकों में पाँच अर्थप्रकृतियों, पाँच अवस्थाओं, पाँच संधियों का प्रयोग होता है। पात्र लौकिक, दिव्य और अदिव्य होते हैं। पात्रों की संख्या का निर्धारण नहीं है। पात्र व्यक्ति विशेष का प्रतिनिधित्व न कर समूह विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं। शृङ्गार एवं वीर रस विशेष का परिपाक किया जाता है। संस्कृत नाटकों में चुम्बन, आलिङ्गन, संभोग, युद्ध, मृत्यु, भोजन, शापदान आदि जैसे अनुचित प्रदर्शन निषिद्ध माने गये हैं। संस्कृत नाटकों का लक्ष्य है शांति और अनुद्धतता की स्थापना तथा सुख समृद्धि की कामनां लोक-मनोरञ्जन, स्वस्थ नैतिकता एवं उच्च आदर्शों का जनमानस में संचार करना। संस्कृत नाटकों में प्रकृति वर्णन को महत्त्व दिया गया है। साथ ही नाटककार प्रकृति के साथ तादात्म्य का सुंदर निरूपण करते हैं। इनके प्रदर्शन के लिये वर्गाकार, आयताकार या त्रिभुजाकार नाट्यशालाओं का प्रयोग होता था जिनमें पर्व, उत्सव, पुत्रजन्म, राजतिलक, विवाह, गृहप्रवेश आदि अवसरों पर नाट्य प्रदर्शन किया जाता था।

पाठगत प्रश्न 2.3

1. गति प्रचार का निरूपण नाट्यशास्त्र के कौन-से अध्याय में दिया गया है?
2. नाट्यशास्त्र में कौन से अध्याय की विषय वस्तु में रूपकों के बारे में बताया गया है?
3. किस अध्याय में चित्राभिनय दिया गया है?
4. ताल और लय का सांगोपांग वर्णन किस अध्याय में दिया गया है?

2.5 संस्कृत-नाट्य के उद्भव-सिद्धांत

प्राचीन भारत में प्रचलित नृत्य द्वारा ही कालांतर में नाटकों का उद्भव हुआ होगा। इस दृष्टि से संस्कृत नाटकों का प्रसिद्ध पात्र सूत्रधार पुत्तलिकावाद का बहुत बड़ा प्रवर्तक सिद्ध हुआ है। सूत्रधार नाट्यप्रयोग का संचालक और नियामक होता है और पुत्तलिका नृत्य में नाचती हुई पुत्तली का सूत्र उसके हाथों में होता है। वह मनचाहे ढंग से उसे नचाता है। नाट्य प्रयोग में सूत्रधार रंगमंच पर प्रस्तावना के क्रम में ही आता है परन्तु उसके बाद नहीं, परन्तु पात्रों के प्रयोग का सारा सूत्र उसी के हाथों में रहता है। नाट्योत्पत्ति के संदर्भ में प्रचलित सिद्धांत चाहे संवाद-सूक्त हो, चाहे वीरपूजावाद हो, चाहे प्राकृतिक-परिवर्तन सम्बंधी, इन सबके मूल में लोकव्यवहार ही परिलक्षित प्रतीत होता है।

लोक प्रचलित व्यवहार एवं घटनाक्रम का अनुकरण कर अनुरञ्जक मूर्तरूप प्रदान करना ही नाट्य का प्रारम्भ से मुख्य प्रयोजन रहा है। भारतीय नाट्य के उद्भव के सम्बन्ध में भरत प्रतिपादित सिद्धांतों में विविध मत एवं वादों की समीक्षा की है। उसमें यह सिद्ध होता है की

टिप्पणी

वैदिक काल में भारतीय नाटक के प्रथम चरण का शुभारम्भ हुआ। नाट्य के विविध तत्वों के बीज रूप इन वेदों में उपलब्ध थे। इसका प्रमाण हमें नाट्यशास्त्र से मिलता है। नाट्य शब्द नट् धातु से बना है जिसका अर्थ है सात्विक भावों का अभिनय। विभिन्न भावों से युक्त पात्रों के द्वारा संवाद के साथ-साथ विभिन्न मुद्राओं द्वारा रंगमंच पर प्रस्तुत करना। नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत मुनि के अनुसार नाट्य के प्रथम अंग (पाठ्य) संवाद या गद्यपद्यात्मक को ऋग्वेद से, नाट्य के द्वितीय अंग (गीत) को सामवेद से, नाट्य के तृतीय अंग (अभिनयों) को यजुर्वेद से और नाट्य के चतुर्थ अंग (रसों) को अथर्ववेद या आथर्वण से लिया।

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् समाभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥

अति प्राचीन काल में जब स्वयंभुव मनु के मन्वन्तर में सत्ययुग बीत चुका था तथा वैवस्वत मनु का त्रेतायुग प्रारम्भ हो चुका था। (उस समय) प्रजाजन के काम और लोभ के वशीभूत होकर ग्राम्य धर्म में प्रवृत होने एवं ईर्ष्या, क्रोध आदि से अभिभूत होने के कारण (अपने-अपने कर्मों के अनुसार) सुखी और दुखी होने पर तथा (भूर्भुवः आदि) लोकों में देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस सर्पधिपतियों तथा लोकपतियों की प्रतिष्ठा हो चुकने पर महेंद्र आदि देवताओं ने पितामह ब्रह्माजी से आकर निवेदन किया कि हे देव, (सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए) हम ऐसा मनोविनोद (क्रीडनियकम्) चाहते हैं जो देखने (दृश्य) तथा सुनने (श्रव्य) के योग्य हो। विधि-निषेधात्मक तथा दुर्बोध होने के कारण वेद का शूद्रों को सुनाना संभव नहीं है अतएव आप (शूद्रों तथा अन्य) सभी वर्णों के लिए उपयोगी एक पाँचवें वेद की और रचना कीजिए। तब देवताओं को एवमस्तु (ऐसा ही हो) कह और देवराज इन्द्र को विदा कर सम्पूर्ण तत्वों के वेत्ता ब्रह्माजी ने योग समाधि में स्थित (एकाग्रचित्त) होकर चारों वेदों का स्मरण किया। भगवान् ब्रह्माजी ने सभी वेदों का स्मरण करते हुए संकल्प किया। मैं नाट्य नामक ऐसे पाँचवें वेद की इतिहास सहित रचना करता हूँ जो धर्म और अर्थ की प्राप्ति करने वाला (धर्म तथा अर्थ के प्रयोजन का उपपादक या उनके अनुकूल), उपदेश तथा संग्रह से युक्त, भावी जगत के लिए सभी कार्यों का पथ-प्रदर्शक, सब शास्त्रों के अर्थों से परिपूर्ण और शिल्पों को प्रदर्शित करने वाला होगा। इस प्रकार का संकल्प करके भगवान् ब्रह्मा ने सभी वेदों का स्मरण करते हुए चारों वेदों के अंगों से उत्पन्न होने वाले नाट्यवेद की रचना की।

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्॥

नाट्यशास्त्रानुसार नाटक अनेक प्रकार के भावों से समन्वित विभिन्न अवस्थाओं वाला तथा लोक व्यवहार का अनुकरण करने वाला है। नाट्य लोकवृत का अनुकरण है- से तात्पर्य है कि लोक में सभी प्राणियों की सुख-दुःख आदि स्थितियों का वर्णन नाट्य में लोकवृत्त आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य अभिनयों के माध्यम से अभिनेता द्वारा रंगमंच पर प्रस्तुत करना।

टिप्पणी

क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः।
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः।।

नाटक में कहीं धर्म है, कहीं क्रीडा, कहीं अर्थ (राजनीति, अर्थनीति) कहीं श्रम, कहीं हास्य, कहीं युद्ध, कहीं काम तथा कहीं वध है। लोक और नाटक एक-दूसरे के पूरक हैं क्योंकि लोक में जो घटनाएँ घटित होती हैं, जो भी क्रियाएँ होती हैं या जो भी गतिविधियाँ समाज द्वारा की जाती हैं उनका अनुकरण नाटक में किया जाता है, जिससे लोक और नाटक के संबंध का पता चलता है अर्थात् नाटक में लोक से इतर कुछ भी नहीं है।

उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्।
हितोपदेशजननं धृतिक्रीडासुखादिकृत्।।

यह नाट्य उत्तम मध्यम और अधम मनुष्यों के कर्म का आधार लेने वाला तथा हितावह उपदेशों का जनक होगा।

एतद्रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियास्वथ।
सर्वोपदेशजननं नाट्यं लोके भविष्यति।।

यह नाट्य रसों, भावों तथा इन सभी (रसभाव आदि) के कार्य और क्रियाओं के द्वारा लोक को उपदेश प्रदान करने वाला होगा।

दुखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति।।

यह नाटक दुःख से, थकावट से तथा शोक से पीड़ित दीन-दुखियों के लिए विश्राम देने वाला होगा। लौकिक प्राणियों के आनंद के लिए ही नाट्य की सर्जना हुई है।

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति।।

यह नाट्य धर्म, यश और आयु का संवर्धन, हितकारी, बुद्धि का विकास करने वाला तथा संसार को उपदेश देने वाला होगा।

2.5.1 नाट्य में लोक का सर्वांग स्वरूप

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।।

जो नाट्य में न मिले ऐसा न तो कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग और न ही कोई कार्य हो सकता है। लोक-जीवन के सभी पक्षों को नाट्य में स्थान दिया गया है, अपनी-अपनी रुचि

के अनुरूप विषयवस्तु को ग्रहण कर लोक प्राणी विश्रांति का अनुभव करता है यही कारण है कि नाट्य सर्वस्वीकार्य है।

सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च।
अस्मिन्नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम्।।

इस नाट्य में सभी शास्त्रों, सभी प्रकार के शिल्पों और विविध प्रकार के अनेक कार्यों का सन्निवेश रहता है।

देवानामसुराणाञ्च राज्ञामथ कुतुम्बिनाम्।
ब्रह्मर्षीणाञ्च विज्ञयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शकम्।।

इस नाटक को देवगण, असुर, राजा, गृहस्थीजन तथा ब्रह्मर्षिजन के वृतांत को प्रदर्शित करने वाला है।

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते।।

सुख और दुःख से मिश्रित जो लोक प्रकृतियाँ (स्वभाव) हैं वही आंगिक आदि अभिनय से युक्त होकर नाट्य कहलाती हैं।

श्रुतिस्मृतिसदाचारण्परिशेषार्थकल्पनम्।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति।।

यही नाट्य श्रुति, स्मृति, सदाचार तथा शेष अर्थों की कल्पना करने वाला तथा लोकरंजनकारी होगा।

2.5.2 नाट्य की सार्ववर्णिकता

भरत ने नाटक को सार्ववर्णिक वेद कहा है। प्रत्येक व्यक्ति इस आनंद का अधिकारी माना गया है। नाटक का प्रभाव किसी एक ही प्रकार की अभिरुचि वाले लोग के ऊपर नहीं होता, प्रत्युत यह सार्वजनिक मनोरञ्जन होने के कारण समाज के लिए ग्राह्य तथा उपादेय होता है। नाटक में तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्तन रहता है। अपने को वीर समझने वाले मनुष्यों में उत्साह का उत्पादक है। यह अबोध जनों को विशेष ज्ञान प्रदान करने वाला तथा विद्वानों के ज्ञान को बढ़ाने वाला है। नाटक है लोकवृत्त का अनुकरण। नाट्य की सार्ववर्णिकता लोक की सर्वांग लोक दृष्टि को सिद्ध करती है। लोक में प्राणियों की विविधता उनके भावए स्वभाव, हर्ष, शोकादि अवस्था आदि लोक व्यवहार के आधार पर देखी जाती है। लोक में प्रत्येक प्राणी का व्यवहार स्वभावानुसार विशेष होता है। लौकिक प्राणी अपने जीवन में पुरुषार्थ सिद्धि, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, के लिए अपनी विविध इच्छाओं की अभिलाषा करता है। लोक की विविध इच्छाएँ ज्ञान प्राप्ति, यश, धन, शिक्षा, कला, शिल्प, धर्म, कार्य, कर्म एवं योग एवं आनंद आदि

टिप्पणी

हैं। इनकी प्राप्ति हेतु लोक सतत प्रयत्नशील रहता है। लोक में प्राणियों के लोकव्यवहार की अभिव्यक्ति भी ज्ञान, उपदेश, लोककला, शिक्षा, लोकधर्म, कर्म, यश, धन, सदाचार आदि लोकतत्त्वों द्वारा सहज रूपों में आनंदपूर्वक देखी जाती है। लोकव्यवहार को हम लोक संस्कृति, लोक भाषा, लोककला, लोकवर्ग विभाजन, लोक-चेष्टाएँ, घटनाक्रम, संवादशैली एवं आनंद के स्रोत समझ सकते हैं। लोकव्यवहार के इन्हीं मूल तत्वों की सहज अभिव्यक्ति से लोक का स्वरूप निर्धारित होता है। लोकवृत के इसी स्वरूप का कलात्मक एवं औचित्यपूर्ण सौष्ठव की दृश्याभिव्यक्ति नाट्य है। अंतर इतना है कि लोक में लोकवृत सहज एवं ग्राम्य रूप में चलता है लेकिन नाट्य में लोकव्यवहार की विविधताओं लोक-इतिवृत्त, लोक-मान्यताओं, लोक-स्वभाव, अवस्था, लोक-चेष्टाओं, लोककला, लोकसंस्कृति, लोकाचार आदि लोकवृत्त को नाट्यशास्त्रीय-सिद्धांतों के आलोक में शास्त्रीय रूप (दृश्य-देखने योग्य) प्रदान कर सरस एवं लोकानुरञ्जक बनाया जाता है। कुछ विशिष्ट पद्धतियों के प्रयोग एवं परिवर्तनपूर्वक लोक का प्रस्तुतीकरण किया जाता है। लोकवृत के विविध तत्वों को शास्त्रीय रूप देने वाली पद्धतियाँ ही नाट्यशास्त्र के सिद्धांत हैं। नाट्य सहृदय को आकर्षित करने वाली विधा इसलिए भी है क्योंकि नाट्य लोक के मनोविज्ञान पर आधारित विधा है। लोक की समस्त इच्छाओं, प्रयास एवं परिणाम का दर्शन कराना ही नाट्य-प्रयोजन है। यही कारण है कि नाट्य में समस्त प्राणी अपने-अपने स्वभाव, सुखण्दु:खादि अवस्था, वेश, अलंकार, भाषा, व्यवहार, कला, उपदेश आदि नाना लोकवृत्तियों का नाट्य में प्रत्यक्षीकरण करते हैं। नाट्य का यही मनोवैज्ञानिक स्वरूप (लोकप्रयोगविज्ञान) सामाजिकों को नाट्यरस में तल्लीन करता है। परिणामत: नट द्वारा अभिनीत रामादि रूपों में सामाजिकों (सहृदयों) का साधारणीकरण हो जाता है।

2.5.3 लोक की प्रामाणिकता

स्वयं भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में नाट्य-स्रोत के विवेचन के प्रसंग में वेद से गृहीत नाट्यतत्वों का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट किया है कि वेद तथा अध्यात्म पर आश्रित नाट्य में लोक अधिक प्रमाण माना जाता है।

लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकात्मकं तथा॥
तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते॥
तस्माल्लोकप्रमाणं हि विज्ञेयं नाट्ययोक्तृभि:॥

अत: वेद के साथ लोकभावना और लोकसंस्कार भी नाट्योद्भव के आधार रहे हैं। यह एक स्वीकृत तथ्य है। लोकोत्सव और रितुत्सवों ने मनोरंजन और लोकचेतना से नाटक को अनुप्राणित किया अर्थात् नाट्य की उत्पत्ति लोक की चेतना, प्रेरणा और लोकप्रचलित कार्यों के आधार पर हुई है। भारतीय वाङ्मय में काव्य की प्रधान धाराएँ दृश्य और श्रव्य इन दो भिन्न शास्त्रीय नामों से प्रसिद्ध हैं। दृश्य काव्य की परिधि में उन काव्य रूपों की परिगणना होती है जो नाट्य हो, नाट्य केवल दृश्य ही नहीं श्रव्य भी होते हैं। आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य अभिनयों के माध्यम से राम और सीता आदि की अवस्थाओं के अनुकरण या सुख

टिप्पणी

दुःखात्मक लौकिक संवेदनाओं के प्रतिफलन के द्वारा नाट्य को रूप प्राप्त होता है। नाट्य श्रव्य एवं दृश्य होने के कारण से इसे रूप या रूपक से भी प्रसिद्ध है। इसमें पात्र स्व (अपना) भाव को त्यागकर पर प्रभाव को ग्रहण करता है, रूप धारण करता है, अतः वह नाट्य या रूपक होता है। नाटक दशरूपकों में प्रधान है। भरतमुनि ने नाट्य की जैसी व्यापक परिकल्पना नाट्यशास्त्र में प्रस्तुत है। नाट्य सर्वलक्षणसंपन्न होता है। वस्तु, विषय, नायक और रस ये चारों ही प्रख्यात होने चाहिये। नाट्य के ये प्रधान अंग हैं, इन्हीं के आधार पर नाटक का प्रतिष्ठान होता है। दशरूपककार के अनुसार अवस्थानुकृतिनाट्यम् अर्थात् अवस्था का अनुकरण नाट्य है।

2.5.4 दृश्य काव्य के विभाग

दृश्य काव्य के मुख्य दो विभाग हैं- रूपक और उपरूपक। रूपक के दश भेद हैं- नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी और प्रहसन। उपरूपक अठारह हैं। नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखक, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिम्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीस और भाणिका। दशरूपकों के द्वारा लोकवृत्त को पूर्ण रूप से समझने में सहायता मिलती है।

पाठगत प्रश्न 2.4

1. नाटक को सार्ववर्णिक किसने कहा है?
2. दृश्य काव्य के कितने विभाग है? लिखिए
3. रूपक के कितने भेद हैं?
4. उपरूपक कितने होते हैं?

2.6 नाट्यसिद्धान्त (नाट्याङ्ग)

लोक में जीवन व्यवहार के अनेक पक्ष देखने को मिलते हैं। प्राणियों की सुख-दुःख, हर्ष-शोकादि विविध चित्तवृत्तियाँ, विविध रुचियाँ, मनोरंजक साधन, कला (गायन, वादन, स्थापत्य, चित्रकला) संस्कृति, भाषा, परस्पर व्यवहार, वेश, परिधान, सौंदर्यशिल्प, अलंकार आदि लोक व्यवहार विभिन्न सरणियों में प्रवाहित होता हुआ प्रकाशित होता है। इसी लोकजीवन को सरस एवं आह्लादजनक बनाने के लिये नाट्य का सृजन हुआ। स्वाभाविक लोक व्यवहार का जब नाटकीय रूपांतरण द्वारा दर्शनीय बनता है तो विभिन्न नाट्यप्रविधियों के संयोजन से मनोरञ्जक बनकर आनन्द की सृष्टि कर देता है। नाट्यशास्त्रीय सिद्धांत ही लोकवृत्त को सरस रूप में प्रस्तुत करने की प्रविधियाँ हैं। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में लोकव्यवहार को केंद्र में रखकर ही नाट्यनियमों की अवतारणा की है। लोकव्यवहार के समुचित प्रदर्शन की व्याख्या इन नाट्यांगों में वर्णित है। लोकवृत्त के लगभग सभी अंगों को

टिप्पणी

इन नाट्यांगों में शामिल किया गया है।

रसा भावा ह्यभिनयाः धर्मिवृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रंगश्च संग्रहः॥

नाटक के इन ग्यारह नाट्यअंगों का सम्बन्ध लोकवृत्त का शास्त्रीयकरण करने तथा सहृदयाह्लादक बनाकर उसमें रसोन्मेष की योजना कर लोकवृत्त को दृश्यरूप बनाना है।

2.6.1 नाट्यरस एवं भाव

लोकगत प्राणियों के भावों, चेष्टाओं को आनंदरूप बनाया जाता है, नाटक में आस्वादन करने योग्य बनाया जाता है। रस भारतीय साहित्य विद्या का अत्यंत महत्वपूर्ण विषय है। रस के बिना (अन्य नाट्यांग रूप) अर्थ की प्रकृति नहीं होती। न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है।

तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स तथा अद्भुत ये आठ प्रकार के रस होते हैं। रति, हास्य, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय ये स्थायी भाव होते हैं जो मनुष्य के हृदय में स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं। तैंतीस संचारी भाव होते हैं- निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिंता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, प्रबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास तथा वितर्क। इसी प्रकार स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय आठ सात्विक भाव हैं। मनुष्य की विभिन्न मनोदशाएँ और (विकास, विस्तार, क्षोभ, विक्षेप आदि) पुरुषार्थ (धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष) आंगिक आदि अभिनयों के द्वारा नाट्य होने पर ही रस रूप में आस्वाद्य होते हैं। इस त्रिगुणात्मक लोक में मनुष्य स्वभाव के न जाने कितने रूप हैं। सुख दुःख के प्रभाव से जीवन की अवस्थाएँ भी विविध और विलक्षण होती हैं। आंगिक आदि अभिनयों के द्वारा वह सुख दुखात्मक संवेदना अभिनीत होने पर नाट्य एवं आस्वाद्य होती है। नाट्य में नट सुख दुखात्मक स्वभाव को त्याग कर कविनिबद्ध या संवेदना को आत्मस्थ कर आंगिक आदि अभिनयों के द्वारा उसे अभिव्यक्ति प्रदान करता है। नट स्वभाव का नमन कर पर- प्रभाव की चेतना संवेदना में स्व को विलीन कर देता है, इसीलिए यह नट होता है और उसके आंगिक आदि अभिनय एवं गीत आदि कार्य नाट्य हो जाते हैं। नाट्य में नट ही स्वभाव का त्याग कर संवेदना की अभिव्यक्ति करता है अपितु कवि की वाणी भी स्वभाव का त्यागकर लोकोत्तर संवेदना की साधारणता के प्राण रस का प्रतिष्ठान करती है और उसी प्रभाव से सामाजिक के हृदय की आत्म-संवेदना के स्वर कवि वाणी और नट के हृदय में एकाकार हो जाते हैं। नाट्य की इस एकाकारता से ही लोकोत्तर संवेदना के महाभोग महारस का उदय होता है, यह महारस, परमानन्दस्वरूप, विलक्षण और अनिर्वचनीय होता है। नाट्यायमान भावदशा ही रस होती है और यह रस ही

टिप्पणी

आनंद देने वाला होता है और आनंद की प्राप्ति ही नाटक का परम प्रयोजन है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि लोक और नाटक का परस्पर सम्बन्ध है जिसे नाटक में अनेक विधियों एवं पद्धतियों के द्वारा रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है जिससे सामान्य जन आनंद के साथ-साथ लाभान्वित और शिक्षित होते हैं। अत: हम कह सकते हैं कि लोक और नाटक एक दूसरे के पूरक हैं किन्तु लोक में वह आनंदानुभूति नहीं होती जो नाटक में होती है अर्थात् हमारा यह कहना गलत नहीं होगा कि नाटक लोक का दर्पण है जिसके द्वारा सामान्य जन जीवन के हर पहलू को देख सकते हैं।

2.6.2 अभिनय

चार प्रकार के अभिनयों (आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य) के माध्यम से नाटक में पात्र अपने हर्ष, शोक इत्यादि अवस्थाओं का प्रदर्शन करते हैं, क्योंकि अभिनय में जो आंगिक चेष्टाओं, मानसिक चेष्टाएँ इत्यादि की जाती हैं ये सब लोक को ही प्रदर्शित करने के लिए प्रयोग में की जाने वाली विधियाँ हैं। नाटक आंगिक अभिनयों के क्रम में भरत ने पात्र द्वारा प्रयोज्य स्थानए पाद प्रचार, आसन्न और शयन आदि विभिन्न नाट्योप्रयोगी विधियों के सम्बन्ध में तात्विक विचार प्रस्तुत किया है। आंगिक अभिनय की ये चारों स्थितियाँ आपस में रूप रचना की दृष्टि से तो भिन्न हैं। इनका प्रयोग भी भिन्न भूमिका में होता है। इन विधियों का पारिभाषिक नाम लय है। नाटक और नृत्य में कभी तो हस्त प्रचार की प्रधानता रहती है कभी पाद प्रचार की और कभी दोनों ही समान रूप में प्रधान रहते हैं, इस स्थिति को गति कहते हैं। गति के अंतर्गत ही भाव, रस, अवस्था, देश और काल की विविधता और विभिन्नता के सन्दर्भ में प्रयोज्य पात्र के स्थान, पाद प्रचार, आसन्न और शयन आदि का विवरण होता है, जो सामान्य रूप से लोक व्यवहार को प्रदर्शित करता है और लोक में ये चेष्टाएँ पाई जाती हैं।

2.6.3 धर्मी

रस, भाव और अभिनय आदि ग्यारह तत्वों के साथ भरत ने नाट्यशास्त्र में लोकधर्मी और नाट्यधर्मी रुढियों की परिगणना एवं विवेचना की है। लोकधर्मी नाट्यधर्मी धर्मीति द्विविध: स्मृत:। दो धर्मी होते हैं लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी।

लोकधर्मी- यदि कोई रूपक लोक स्वभाव के अनुसार भाव प्रदर्शित करने वाला सादगी तथा बिना बाहरी दिखावट वाला हो, अविकृत हो, जो अपनी कथावस्तु में सामान्य प्रजाजन के आचार तथा क्रियाएं प्रदर्शित करने वाला तथा आंगिक प्रदर्शन जो- लीला तथा वर्तना आदि के अभिनय से रहित सादे एवं सहज भाव-प्रदर्शन करता है, जिसमें विभिन्न पुरुष तथा स्त्री पात्र हों तो उसे लोकधर्मी नाट्य प्रकार समझना चाहिये।

स्वभावाभावोपगतं शुद्धन्त्वविकृतं तथा। लोकवार्ताक्रियोपेतमङ्गलीलाविवर्जितम्।
स्वभावाभिनयोपेतं नानास्त्रीपुरुषाश्रयम् । यदीदृशं भवेन्नट्यं लोकधर्मी तु सा स्मृता॥

लोकधर्मी नाट्यों में लोक का शुद्ध और स्वाभाविक अनुकरण होता है। उसमें विभिन्न भावों का अभिनय करने वाली वाचिक, आंगिक, सात्विक और आहार्य विधियों का समावेश नहीं होता है। जीवन को प्राकृत रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। लोकधर्मी नाट्य प्राकृत, स्थायी और व्यभिचारी भावों से युक्त रहता है। इसमें कल्पना द्वारा कोई परिवर्तन प्रस्तुत नहीं किया जाता है। यह शुद्ध एवं प्राकृत रूप में रहता है। अंगहार आदि आंगिक विलास-लीलाओं का प्रयोग नहीं होता। स्त्री एवं पुरुष पात्रों का प्रयोग तो प्रचुरता से होता है। लोकनाट्य में पुरुष ही पुरुष पात्र का अभिनय करते हैं। स्त्री द्वारा पुरुष का अथवा पुरुष द्वारा स्त्री का अभिनय नहीं किया जाता है। अभ्यास और चेष्टा द्वारा नाट्य में शिल्प और कल्पना का नाट्यधर्मी संस्कार प्रस्तुत नहीं किया जाता है। आचार्य अभिनवगुप्त के मतानुसार इस लोकधर्मी रूढ़ि के अनुसार कवि तो यथावत् वस्तु मात्र का वर्णन करता है। नट प्रयोग करता है। वहाँ स्वबुद्धि कृत अनुरंजनकारी वैचित्र्य की कल्पना नहीं होती। इसी दृष्टि से वह काव्य भाग और प्रयोग भाग लोकधर्माश्रित होता है। वस्तुतः काव्य और नाट्य दोनों में ही दो भिन्न परम्पराएँ दृष्टिगोचर होती हैं। एक परम्परा के अनुसार दोनों में ही लोकानुसारी प्रवृत्ति की और दूसरी के अनुसार दोनों में वैचित्र्य और रंजनकारी प्रवृत्ति की प्रधानता रहती है। लोकधर्मी परम्परा के नाट्य का सुनिश्चित उदाहरण संस्कृत नाट्य परम्परा में उपलब्ध नहीं होता परन्तु दशरूपक के भेदों और उनकी परम्पराओं के विश्लेषण से प्राचीन लोकनाट्यों के इतिहास के बिखरे धुंधले पृष्ठ उन्हीं में खोये मालूम पडते है। भाण, प्रहसन और सट्टक आदि भेद संभवतः उन्हीं प्राचीन लोकध र्मी नाट्यों के परिष्कृत रूप हैं। इन लघु नाटकों में जिस तरह के पात्र होते हैं उनका सम्बन्ध प्राचीन जन-जीवन से अधिक था। जो लोकधर्मी नाट्य की प्रेरणा का स्त्रोत ग्राम-जीवन की ग्राम्यता, सहजता थी।

नाट्यधर्मी- नाट्यधर्मी नाट्यपरम्परा में सांकेतिक वाक्य, लीलांगहार, नाट्य में प्रचलित जनान्तिक, स्वगत, आकाशवचन आदि रूढ़ियाँ, शैल, यान, विमान, प्रासाद, दुर्ग, नदी एवं समुद्र आदि को सूचित करने वाली पद्धतियाँ, रंगमंच पर प्रयोज्य अस्त्र-शस्त्रों तथा अमूर्त भावों का संकेत करने वाली अनगिनत विधियाँ नाट्यधर्मी ही हैं। लोक का जो सुख-दुःख क्रियात्मक आंगिक अभिनय होता हैए वह भी नाट्यधर्मी ही है। भरत का दृष्टिकोण नाट्यधर्मी रुढ़ियों का विकास लोकानुभूति और लोकाचार से ही होता है। वस्तुतः लोकधर्मी रूढ़ियाँ नाट्यधर्मी के लिए चित्राधारवत् हैं। नाट्यधर्मी नाट्य के रूप में तो अश्वघोष, भास, शूद्रक, कालिदास और हर्ष आदि नाट्यकारों की महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

नाट्यधर्मी रूढ़ि लोकधर्मी रूढ़ि की अपेक्षा अधिक कल्पना समृद्ध, वैचित्र्यपूर्ण और अनुरंजक होती है। काव्य भाग और प्रयोग भाग दोनों में ही परिष्कृत कवि-बुद्धि और प्रयोक्ता की समृद्ध कल्पना के चमत्कार और सौंदर्य का योग होता है। भरत ने लोकधर्मी रूढ़ि की भांति नाट्यध र्मी रूढ़ि के लिए कुछ निश्चित आधार और सिद्धांत प्रस्तुत किये हैं। नाट्यधर्मी रूढ़ि में शास्त्रीय विधियों से संपन्न अभिनय सुचारू और अधिक रोचक होता है। नाट्य का काव्य भाग और प्रयोग भाग यथावत् रूप में प्रस्तुत नहीं किया जाता। आवश्यकतानुसार वाचिक अभिनय

टिप्पणी

के प्रसंग में उसमें स्वरों के हृदयग्राही रागयुक्त आरोह अवरोह तथा अलंकारों की मधुर योजना होती है।

लोके यदभियोज्यञ्च पदमत्रोपयुज्यते।
मूर्तिमत्साभिभाषञ्च नाट्यधर्मी तु सा स्मृता॥

जिसमें लोक प्रसिद्ध वस्तु का मूर्तरूप में वैसी ही कुशलता से संवाद सहित प्रयोग किया जाये तो उसे नाट्यधर्मी जानना चाहिए। कलात्मकता और प्रतीकात्मकता का ग्रहण करते हुये लोकप्रवृत्ति को अंगीकार किया जाता है। स्वभावतः नाट्य में लोकगत धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई धर्म नहीं होता। लोकगत वर्णन में रंजकता का आधान करने के लिए नाट्यकार अपने वर्णन में और नट अपने व्यापारों में जो विचित्रता लाता है, उसे नाट्यधर्मी कहते हैं। उदाहरण के लिए मंच पर वीथी, भाण आदि शैली के रूपक जिनमें एक पात्र ही होता है उनकी प्रविधि नाट्यधर्मी है किन्तु इसमें जो यथार्थवादी कथानक प्रस्तुत किया जाता है उसका सम्बन्ध लोकधर्मी से है। देव-दानव, पर्वत, नदी आदि की रंगमंचीय अवतारणा में जहाँ नाट्यधर्मी विधि अपनायी जाती है, वहीँ मानवीय भावों और देश-काल पात्रों की योजना में स्वभाविकता का निर्वाह करने के लिए लोकधर्मी विधि का भी पक्ष रखा गया है-

देशं कर्म च जातिं च पृथीवयुद्देशसंश्रयम्।
विज्ञाय वर्तना कार्या पुरुषाणां प्रयोगतः॥

2.6.4 नाट्यवृत्ति

लौकिक अभिनय विधियाँ और व्यवहार का प्रयोग लोक परम्पराओं को दृष्टि में रखकर होना चाहिये। नाट्य-प्रयोग में वृत्तियों का असाधारण महत्व है। वृत्तियों का सम्बन्ध अभिनय की पद्धति से रहता है। रूपकों के दस प्रकारों को विविध शैलियों में प्रस्तुत करने के कारण वृत्तियों का रूपकों से सम्बन्ध होने से ये वृत्तियाँ रूपकों की उपकारक हैं। नायक, नायिका और प्रतिनायक एवं अन्य पात्रों का आंगिक, वाचिक और मानसिक व्यापार वृति है। उसी वृत्ति से नाट्य में रसोदय होता है, जो कि समस्त जीवलोक में व्याप्त है। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना आदि शब्द-शक्तियां भारतीय काव्यशास्त्र में प्रचलित हैं। भरत के अनुसार भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी नामक चार वृत्तियाँ हैं जिन पर नाट्य-प्रयोग निर्भर है।

भारती सात्वती चौव कैशिक्यारभटि तथा।
चतस्रो वृत्तयो ह्येता यासु नाट्यं प्रतिष्ठितम्॥

2.6.5 अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग

इसी प्रकार नाटक में अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग भी किया जाता है जैसे- भाला, तोमर, धनुष, गदा, वज्र, शक्ति और चक्र आदि उत्तम शस्त्रों में परिगणित होते हैं। नाटकों का तो नायक राजा होता

टिप्पणी

है, सेनापति, मंत्री आदि समाज के प्रमुख व्यक्ति भी उसमें पात्र होते हैं। ध्वजा, छत्र तथा अस्त्र शास्त्रादि के प्रयोग द्वारा भी नाट्य प्रयोग में राजसी प्रभाव का सृजन किया जाता है।

2.6.6 वर्ण विधान

राजाओं, देवों, दानवों और अन्य देशवासियों तथा जातियों के लिए विभिन्न वर्णों का विधान किया जाता है। राजा के लिए पद्म और श्यामवर्ण; ऋषियों के लिए बदरी का; सुखीजन गौर, किरात, बर्बर, आंध्र, द्रविड़, काशी और कोशल पुलिंग एवं दक्षिणवासियों का कृष्ण; शक, यवन, वैश्य और शूद्र भी सामान्यत: श्याम; ब्राह्मण, क्षत्रिय रक्त, देवता, यक्ष और अप्सरा गौर होते हैं। विविध वर्णों और उपवर्णों के संयोग से पात्रों की विभिन्न अवस्था के अनुसार सुख दुखात्मक भूमिका भी प्रस्तुत की जाती है।

2.6.7 नाट्यप्रवृति-विधान

भरत ने नाट्य प्रयोग को अधिकाधिक प्रकृत और रसानुग्राहक रूप देने के लिए प्रवृतियों का विधान किया है। प्रवृति शब्द भारतीय वाङ्मय में अनेक अर्थों में व्यवहृत हुआ है। मनुष्य की पाप-पुण्य, बुद्धि और कर्मेन्द्रियों की चेष्टायें, शरीर के लीला विलास आदि व्यापार, मन के हाव और हेला आदि विकार तथा आलाप एवं विलाप आदि व्यवहार सब प्रवृत्ति के रूप में प्रसिद्ध हैं। भरत ने नाट्यशास्त्र में प्रवृति शब्द का व्यापक प्रयोग किया है। नाना वेश, भाषा, आचार और वार्ता का ख्यापन करने वाली वृत्ति ही प्रवृति है। वस्तुत: आचार और वार्ता के अंतर्गत मानवीय व्यवहार के अधीन किस बात का समावेश नहीं हो जाता। भरतमुनि के अनुसार चार प्रवृत्तियाँ हैं- आवन्ती, दक्षिणात्या, औढ्रमागधी, पांचाली मध्यमा।

आवन्ती दक्षिणात्या च तथा चौवोढ्रमागधी।
पांचाली मध्यमा चेति विज्ञेयास्तु प्रवृत्तय:॥

2.6.8 आभूषण

परिधान तथा वेशविन्यास एवं लोक-रंगमंच पर प्रस्तुत पात्रों का माल्य, आभूषण और वस्त्र आदि के द्वारा जो मनोहारी प्रसाधन होता है उसे भरत ने अलंकार की संज्ञा दी है। अतएव पात्र का अलंकार मुख्य रूप से तीन प्रकार से होता है। माला धारण, आभूषण-परिधान तथा वेशविन्यास। माला द्वारा शरीर का प्रसाधन भी पांच प्रकार से होता है- वेष्टित, वितत, सघात्य, ग्रथित और प्रलंबित। माला में हरी पत्तियां और रंग बिरंगे फूलों को एकत्र आवेष्टित कर दिया जाता है। वितत में फूलों की माला प्रसृत रहती है, सघात्य में फूलों के डंठल सूत्र में अदृश्य भाव से संगृहीत रहते हैं। ग्रथित में फूलों को गूँथ दिया जाता है तथा प्रलबित में माला फूलों के गुँथी बहुत लम्बी और लटकी रहती है। इस प्रकार की आभूषणों की शैलियाँ हमें रंगमंच पर देखने को मिलती हैं जो कि लोकसंस्कृति में विद्यमान रहती हैं। पुरुष और स्त्रियाँ दोनों ही लोक में आभूषणों का प्रयोग करते हैं जो कि नाट्य में देखने को मिलते हैं और आभूषणों से

टिप्पणी

उनकी लोक संस्कृति, स्थान, लोकसौंदर्य की भावना का पता चलता है। महिलाएं तो आभूषण प्रिय होती हैं। शिर पर शिखापाश, शिखाव्याल, पिंडीपत्र, चूड़ामणि, मकरिका, मुक्ताजाल, गवाक्षिक और शीपजाल। परन्तु भाव और अवस्था के अनुरूप उनका वेशविधि, परिछेद तथा आभूषण शैली में परिवर्तन भी हो जाता है। पुरुषों द्वारा प्रयोज्य आभूषणों की नामावली बहुत बड़ी है। शिर पर चूड़ामणि, कानों में कुंडल, कंठ में मुक्ताजाल, हर्षक और सूत्रक, अंगुली में अंगुलीमुद्रा और वर्तिका, मोतियों की माला वक्षस्थल पर और सूत्रक कटी में धारण करने से पुरुषों के अंगों का अलंकार होता है। इन आभूषणों का प्रयोग भाव और रस के सन्दर्भ में होना चाहिये, आगम प्रमाण, पात्र, रूपशोभा तथा लोक प्रचलित व्यवहारों की पृष्ठभूमि में ही आभूषणों का प्रयोग उचित होता है। शोक की दशा में चमत्कारपूर्ण आभूषणों का प्रयोग नारी के लिए शोभा नहीं देता। यह लोक व्यवहारनाट्य में भी अनुकरणीय होता है।

2.6.9 सिद्धियाँ

इसी प्रकार से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ दो प्रकार की होती हैं- दैवी तथा मानुषी। दैविकी मानुषी चौव सिद्धिः स्याद् द्विविधैवतु।

2.6.10 नाट्यसंगीत

भरत की दृष्टि में नाट्य प्रयोग की सिद्धि के लिए गीत व वाद्य का महत्व है। पाठ्य या वाचिक अभिनय में स्वर का विवरण दिया जाता है तथा ये षड्जादि सात स्वरों के शारीर तथा वैणव भेद से दो प्रकार होते हैं। सात स्वरों के नाम हैं- निषध, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पञ्चम, धैवत तथा षडज्। शारीराश्चौव वैणाश्च सप्त षड्जादयः स्वराः। इसी के गीत आदि प्रकार हैं अतः स्वर का पाठ्य तथा गान में अंतर्भाव हो सकता है परन्तु स्वरों का स्वतंत्र ग्रहण करने का अभिप्राय है कि केवल स्वरों के प्रयोग से नाट्यप्रयोग में सौंदर्य परिलक्षित हो जाता है जो अंतरालाप के नाम से प्रसिद्द है।

2.6.11 आतोद्य

आतुद्यते इति आतोद्यं इस व्युत्पत्ति के अनुसार वाद्यों को आतोद्य कहा जाता है, क्योंकि ये हाथ आदि से ताड़ित होते हैं। आतोद्य चार प्रकार के होते हैं- तत, अवन, घन, सुषिर।

ततं चौवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च। चतुर्विधं च विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम्॥

तत उस वाद्य को कहते हैं जिसमें तार हों, पीटा जाने वाला तथा चारों और मढ़ा हुआ पुष्कर वाद्य अवनद्ध कहलाता है, तालोपयोगी मंजीरा आदि ठोककर बजने वाले घन तथा बाँसुरी आदि फूंक कर बजने वाले वाद्य सुषिर कहलाते हैं। इस प्रकार के वाद्य यंत्र लोक में देखने को मिलते हैं और उपयोग किया जाता है जिससे लोक व नाटक के संबंध का पता चलता है।

2.6.12 गान

गान के पाँच प्रकारों (प्रवेशक, प्रासादिक, आक्षेप, निष्क्रमण, अन्तरा) जो पात्रों के मंच पर प्रवेश करते समय उनके भावए प्रकृति तथा अवस्था आदि का सूचक गान गया जाए वह प्रवेशक गान कहलाता है। प्रविष्ट हुए पात्र की आन्तरिक चित्तवृत्ति को सामाजिकों के प्रति प्रकट करने के लिए जो गीत गाया जाता है वह प्रासादिक गान कहलाता है। प्रकृत रस से भिन्न रस का आक्षेप करवाने वाला आक्षेप गान कहलाता है और पात्र के रंगमंच से निष्क्रमण करते समय गाया जाने वाला निष्क्रमण गान कहलाता है। गीत के आधारभूत निर्धारित पदसमूह को ध्रुवा कहते हैं। ध्रुवा में योग अर्थात् सम्बन्ध होने के कारण जन साधारण गानरूप गान्धर्व संगीत से इस गान का प्रधानतायुक्त या विशेषगान होने के कारण यहाँ स्वतः विभेद है।

प्रेक्षागृह- पात्रों की गतियों में (आना, जाना आदि क्रियाओं), अभिनयों में तथा गायन और वादन में प्रेक्षागृह की उपयोगिता होती है और मण्डप अपने श्रेणी विभाग के द्वारा पात्रों के अभिनय आदि कार्यों का उपकारक होता है। प्रेक्षागृह के तीन प्रकार हैं- विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र। प्रेक्षागृह के निर्माण में लोकप्रचलित भवन निर्माण सम्बंधी स्थापत्यकला, वास्तुकला, शिल्पकला की शैलियों एवं सिद्धांतों आदि का उन्नत प्रयोग मिलता है। प्रेक्षागृह की निर्माणकला वं उसमें प्रयुक्त बेलबूटे, फूल-पत्तियाँ, चित्रकला, अलंकृत भित्तियाँ आदि लोककला की ही तस्वीर प्रस्तुत करती हैं।

2.6.14 पूर्वरङ्ग

लोकवृत्त को रसपूर्ण एवं दृश्य रूप बनाने के लिए पूर्वरङ्ग (प्रयोग पूर्व अभ्यास) का विधान किया जाता है ताकि नाट्य प्रयोगों संवाद, अभिनय, संगीत, नृत्य आदि का प्रदर्शन लोकानुरंजक हो सके। पूर्वरङ्ग का विधान लोकवृत्त को नाटकीय ढंग से सरस एवं प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करने का ही प्रयास है।

2.6.15 भाषा-विभाग

लोक में प्राणियों के व्यवहार का माध्यम भाषा हुआ करती है। समाज में अपने-अपने देश, वर्ग, कुल, संस्कार, पद एवं जाति के अनुसार भाषा का प्रयोग देखने को मिलता है। समाज के अलग-अलग प्रांतों की भाषा भी भिन्न भिन्न है। यह भाषागत विविधता भी लोक के सृजन में महत्वपूर्ण है। प्राणी अपनी-अपनी भाषा के द्वारा ही अपने भाव, विचार, संस्कृति एवं कला का व्यवहार सहज एवं प्रभावी रूप में कर पाते हैं। लोक का सरस एवं सहज प्रदर्शन करने के लिये ही नाट्यशास्त्रीय-सिद्धांतों में भी भाषा-विभाग का नियमन किया गया है। लोक के विभिन्न हिस्सों में व्यवहृत भाषाओं का प्रयोग संस्कृत नाट्यों में देखने को मिलता है ताकि शिक्षित एवं अशिक्षित पात्र अपने-अपने प्रदेश की संस्कृति एवं कला को सहज अभिव्यक्ति दे सकें। संस्कृत नाटकों में संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि भाषाओं का प्रयोग विभिन्न पात्रों द्वारा किया जाता है। संस्कृत नाटकों में प्रचलित यह नाट्य भाषा विभाग

टिप्पणी

लोकाभिव्यक्ति एवं संस्कृति सम्बंधी लोकवृत्त को सरस एवं मनोरञ्जक रूप प्रदान करता है।

2.6.16 नाट्यवस्तु

वस्तु से तात्पर्य रूपक की कथावस्तु से है। कथावस्तु प्रख्यात अथवा कविकल्पित होती है उसका संबंध लोक से होता है। कविकल्पित कथावस्तु का मूलप्रेरक लोक अथवा लोकवृत्त है। कथावस्तु (कविकल्पित) या तो कोई घटना हो सकती है या गूढ़ रहस्य या समाज में होने वाली घटनाएँ होती हैं, जो कहीं ना कहीं समाज मे होने वाली गतिविधियों या परम्पराओं द्वारा लोक को शिक्षित करती हैं, जिसे कवि रंगमंच पर नाटक के माध्यम से प्रस्तुत करता है या लोक को किसी दर्पण की तरह दिखाता है। वस्तु (कथावस्तु) यदि प्रख्यात एवं लोकप्रिय न हो तो दर्शक के हृदय में उसके प्रति अनुराग शायद न उत्पन्न हो। अत: हमारे जातीय जीवन के परम्परा से उत्तराधिकार में प्राप्त रामायण, महाभारत, पुराण एवं अन्य प्राचीन ग्रंथों के आधार पर नाटक के वृत्त का विकास होना चाहिये।

पाठगत प्रश्न 2.5

1. अभिनय के प्रकार लिखिए?
2. धर्म कौन-कौन से हैं?
3. भरतमुनि के अनुसार वृतियां कितनी होती है?
4. सिद्धियां कितने प्रकार की होती हैं? उनके नाम लिखिए।

2.7 नाट्य की प्रकृति की दृष्टि से कथावस्तु के भेद

1. सर्वश्राव्य या प्रकाश
2. नियतश्राव्य- जनान्तिक, अपवारित, आकाशभाषित
3. अश्राव्य या स्वगत

अर्थोपक्षेपक एवं लोकवृत्त

अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत्।
विष्कम्भचूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः॥

नाटक में नीरस कथावस्तु की सूचना अर्थोपक्षेपक के माध्यम से सूचना दी जाती है और इसमें जो सूचना देने वाले पात्र हैं वे अलग-अलग वर्ग (मध्यम एवं नीच) के होते हैं। निगूढ़ भाव

टिप्पणी

से संयुक्त वचन अपवारित होता है। रंगमंच पर अप्रविष्ट पात्र से संवाद की योजना तथा प्रविष्ट पात्र से अन्तर्हित हो वाक्य की योजना होने पर आकाशवचन होता है।

नेता (पात्र)- नेता से तात्पर्य नायक या कथावस्तु के पात्रों से है। नाट्य में पात्रों का भी विशेष महत्व होता है जिनका सम्बन्ध लोक से होता है। पात्रों के शील-स्वभाव, आचार-विचार, आहार-व्यवहार और अवस्था एवं प्रकृति की विभिन्नता एवं विविधता की पृष्ठभूमि में कथावस्तु पल्लवित होती है। रूप और रस की रंगभूमि में ये पात्र ही (नायक, नायिका) तो होते हैं जो उसे प्राण देते हैं, गति देते हैं। इसीलिए नाटक में पात्र (नायक या नायिका आदि) का महत्व असाधारण होता है तथा उसको प्रस्तुत करने की कला भी असाधारण होती है। नाटक में नायक-नायिका और अन्य पात्र उतने ही प्रकार के हो सकते हैं जितने की मनुष्य के विविध प्रकार हैं। अर्थात् अनेक प्रकार के पात्रों के स्वभाव लोक में देखने को मिलते हैं। समाज में मिलने वाले स्वभावों के प्रतीक के रूप में नाटक में पात्र रखे गये हैं। नाट्य-वृत्तियाँ पात्रों के व्यवहार एवं नाट्य-प्रवृत्तियाँ पात्रों के सांस्कृतिक परिवेश एवं परिधान का नियमन करती हैं।

नायक भी प्रख्यात और उदात्त हो। नायक नाटक के केंद्र में प्राण ज्योति की तरह निवास करता है, उस केंद्र से ही नाट्य के ज्योति रस का प्रस्रवण होता है, अत: उसका प्रसिद्ध होना नितांत आवश्यक है। प्राय: प्रसिद्ध संस्कृत नाटकों के नायक ख्यातवृत ही हैं, राम, कृष्ण, उदयन, दुष्यंत और पुरुरवा आदि सब ख्यात नायक हैं। भरत ने प्रधान नायक के सम्बन्ध में यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि पात्रों में प्रधान नायक वही होता है जो नाटक के सब पात्रों अभ्युदय की तुलना में सर्वाधिक अभ्युदय का भागी होता है उपयुक्त मानवीय प्रकृतियों के अंतर्गत शीलाश्रित चार प्रकार के नायकों के परिकल्पना भरत ने दी है।

धीरोदात्त, धीरललित, धीरोदात्त, धीरप्रशांत।
भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम्॥

नायक त्यागी, यशस्वी, कुलीन, बुद्धिमान, रूपवान, युवा, उत्साही, दक्ष, प्रजानुरागी, तेजस्वी, चतुर और शीलवान हो। नाट्य में मुख्य फल का अधिकारी तो नायक ही होता है परन्तु नाट्य में अन्य बहुत से प्रधान पात्र होते हैं। उनमें कुछ तो नायक के सहायक होते हैं और कुछ विरोधी। नायक तो कथा शरीर में सर्वत्र व्याप्त रहता है। उपनायक-नायक के समान ही पूज्य और उत्कृष्ट होता है पर उसे राजा आदि का पद नहीं मिल पाता। अनुनायक-नायक से किंचित् न्यून होता है जो मुख्य नायक का भक्त हो। उसके सब कार्यों में योग देता है जैसे- रामकथा में सुग्रीव। प्रतिनायक मुख्य नायक की योजनाओं का प्रतिरोधी होता है, उसमें नायक के तुल्य उत्साह, प्रताप और अभिमान के भाव होते हैं जैसे- रामकथा में रावण। इसका तात्पर्य यह है कि नायक एवं नायिका के भेदों के वर्णन का आधार स्वभाव, गुण, लोकव्यवहार आदि रहा है, क्योंकि लोक में हमें उसी तरह के स्वभाव देखने को मिलते हैं और समाज में अलग-अलग प्रकार के नायक एवं नायिका के स्वभावों के मिलने से ही नाटक में उनके

टिप्पणी

स्वभावों को दर्शाने के लिए भेद किये गये हैं अर्थात् कथावस्तु और पात्र लोकगत प्राणियों के स्वभावों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नाटक में जो पात्र होते हैं वे पात्र अपने पूरे वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जैसे नाटक में धीरोदात्त स्वभाव का नायक पूरे समाज में मिलने वाले धीरोदात्त प्रकृति के स्वभाव के प्राणियों का प्रतिनिधित्व करता है। इसी प्रकार नाट्यगत धूर्त पात्र समाज में मिलने वाले जितने भी धूर्त स्वभाव के लोग हैं उन सभी का प्रतिनिधित्व कर रहा होता है। इस प्रकार नाटक में लोक में मिलने वाले विविध प्रकार के स्वभाव का अनुकरण किया जाता है साथ ही लोक में सुख और दुःख अवस्थाएँ देखने को मिलती हैं जिनका चित्रण नाट्य में किया जाता है जो कि लोक-प्रेरित है।

आपने क्या सीखा

- भारतीय परंपरा में भरत को नाट्यशास्त्र का रचयिता माना गया है।
- नाट्यशास्त्र में 36 अध्याय दिए गए हैं।
- नाट्यशास्त्र में प्रसंगवश अनेक आचार्यों का उल्लेख मिलता है जो इन आचार्यों की भरत पूर्व स्थिति का निदेशक है।
- नाट्यशास्त्र को नाट्यवेद भी कहते हैं।
- नाट्यशास्त्र में लोक का सर्वांग स्वरूप, नाट्य की सार्ववर्णिता, लोक की प्रमाणिकता, दृश्य काव्य के विभाग, नाट्यरस तथा भाव, अभिनय, धर्मी, नाट्यवर्ती, वर्ण विधान, नाट्य प्रवृति, विधान, आभूषण, सिद्धियां, नाट्यसंगीत, आतोद्य, प्रेक्षागृह, पूर्वारंभ भाषा विभाग, आदि विषयों पर विस्तार से वर्णन मिलता है।

पाठान्त प्रश्न

1. नाट्यशास्त्र के रचनाकाल के विषय में विमर्श कीजिए।
2. नाट्यशास्त्र के स्वरूप पर टिप्पणी लिखिए।
3. नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति को बताइए।
4. नाट्यशास्त्र के प्रयोजन को बताइये।
5. नाट्यशास्त्र दिए गए प्रमुख नाट्यसिद्धांतों की व्याख्या कीजिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

2.1

1. तृतीय शताब्दी
2. रामकृष्ण कवि द्वारा
3. चार
4. ग्राम देवता का
5. अश्वघोष
6. 200-400 ईस्वी

2.2

1. श्री शंकुक
2. अभिनव गुप्त ने
3. भावप्रकाशन
4. आचार्य हेमचन्द्र का

2.3

1. त्रयोदश अध्याय में
2. नाट्यशास्त्र के बीसवें अध्याय की विषय वस्तु
3. 26वें अध्याय में
4. 21वें अध्याय में

2.4

1. भरत ने
2. दो-रूपक और उपरूपक
3. दस
4. अठारह

2.5

1. आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य।
2. लोकधर्मी और नाट्यधर्मी
3. चार
4. दो प्रकार की। देवी और मानुषी

टिप्पणी

3

नाट्य तथा अन्य कलाएँ

प्रारम्भ से लेकर अब तक कलाएँ हमारे जीवन का आवश्यक अंग रही है। कालक्रमानुसार संसार में अनेक परिवर्तन दृष्टिगत होते है, तो फिर ऐसा कैसे संभव है कि भारतीय नाट्य एवं कलाओं पर कालक्रम का प्रभाव न हुआ हो? इसमें भी अनेक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते है। अब यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि कलाएँ क्या हैं? किन कारणों से कलाओं में परिवर्तन हुआ है, उनका विकास क्रम क्या है? अत: इस पाठ के अन्तर्गत हम प्राचीन प्रमुख कलाओं पर दृष्टि डालने का प्रयत्न करेंगे। हम भारत में कलाओं के विकास क्रम को समुचित रूप से समझने का प्रयास करेंगे। नाट्य कला का अन्य कलाओं से सम्बन्ध को प्रस्तुत किया जाएगा। साथ ही नाट्य प्रस्तुति में अन्य कला के योगदान का स्पष्ट विवेचन किया जाएगा। जब प्रमुख कलाओं के विषय मे हम जानेगें तो यह भी ज्ञात कर सकेंगे कि किस प्रकार यह प्राचीन ज्ञान व्यक्तित्व के विकास में सहायक है। जिसका उपयोग करके हम वर्तमान एवं भविष्य को समाजोपयोगी बना सकें।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप–

- विभिन्न कलाओं तथा उनकी प्रासंगिकता को जानते हैं;
- भारत में विभिन्न कलाओं के विकास को जानते हैं;
- नाट्यकला का अन्य कलाओं से सम्बन्ध का जानते हैं; और
- नाट्य प्रस्तुति में अन्य विभिन्न कलाओं के योगदान को जानते हैं।

टिप्पणी

3.1 कला का स्वरूप

कला शब्द 'कल्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इसका अर्थ होता है कलाकृति। इस शब्द का यह अर्थ भाव प्रक्रिया में 'कल्पते अस्याम्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर निकलता है। इस प्रकार कला शब्द के द्वारा कलाकृति रचना के उन तात्विक सिद्धान्तों का प्रणयन किया जाता है जिनसे उसकी उत्पत्ति होती है। तथा जिनके आधार पर उसकी समीचीन व्याख्या की जा सकती है। कला सृष्टि के मूलभूत सिद्धान्त हैं- संकलन, चिन्तन एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति। कला शब्द 'ला' धातु से भी निष्पन्न होता है। यहाँ 'ला' लाना अथवा देना अर्थ में और 'क' आनन्द अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार कला का एक अन्य अर्थ आनन्द लाने वाला एवं आनन्द देने वाला होता है। इस व्याख्या से स्पष्ट होता है कि कलाकृति इन्द्रिय सुख का साधन होती है। कल शब्द कार्य कौशल एवं शिल्प के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। आर्यों के सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद के अष्टम् अध्याय में कला शब्द प्रयुक्तव्य है। **''यथा कला, यथा शफस् यथा, शृणं संनियामसि।''** इस शब्द का प्रयोग यजुर्वेद, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण, षडविंश ब्राह्मण, शांखायन ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक के साथ उपनिषदों में भी प्राप्त होता हैं। भरतमुनि द्वारा प्रणीत नाट्यशास्त्र में भी कला शब्द का उल्लेख प्राप्तव्य है। **''न तज्जानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।''** अर्थात् ऐसा कोई ज्ञान नहीं, जिसमें कोई शिल्प नहीं, कोई विद्या नहीं जो कला न हो। भरतमुनि द्वारा प्रयुक्त 'कला' का आशय ललित कला से है एवं शिल्प का सम्भवतः किसी उपयोगी कला से है, किन्तु भरत के पूर्व इस शब्द का प्रयोग शिल्प के अर्थ में प्रयुक्त हुआ, ललित कला के अर्थ में नहीं। पाणिनी की अष्टाध्यायी और बौद्ध ग्रन्थों में शिल्प शब्द उपयोगी और ललित दोनों प्रकार की कलाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। कौषीतकि ब्राह्मण में नृत्य और गीत को शिल्प कहा गया है। पाणिनी शिल्प के दो भेद बताते है- चारू शिल्प तथा कारू शिल्प। सभी ललित कलाएँ चारू शिल्प के और कुम्भकारी, स्वर्णकारी इत्यादि सभी क्रिया कौशल कारू शिल्प के अन्तर्गत स्वीकार किए गए हैं। भोजराज अपने तत्वप्रकाश में कर्तृत्व को व्यंजित करने वाली शक्ति को कला की संज्ञा देते हैं। इस परिभाषा के अनुसार यह समझा जा सकता है कि काव्य, संगीत, वास्तु, मूर्ति तथा चित्र इत्यादि प्रत्येक प्रकार का क्रिया कौशल कला है। कतिपय विद्वान कला उसी को स्वीकार करते है जो ललित एवं उपयोगी हो। उनके मत में कला सौन्दर्य तथा रूप को लेकर उपस्थित होती है।

कला हमारी सभ्यता और संस्कृति की अनन्त धरोहर है। कलाकार सत्य का उपासक होता है। उसकी रचना के मूल में अलौकिकता, अमरता तथा सनातनता रहती है। कला धर्म, अर्थ और काम नामक त्रिवर्ग से युक्त व्यक्ति को आनन्द का साम्राज्य प्रदान कर मोक्ष स्वरूपा सिद्धि देती है। कलाकार कला की सृष्टि साहित्य, धर्म और दर्शन से प्रभावित होकर कल्पना एवं एकाग्रचित्त से ध्यान योग द्वारा करता है। ध्यान में वह अहं की सत्ता को भस्मीभूत कर देता है। इस प्रकार कला, धर्म, जीवन-दर्शन, सत्य, शिव और सुन्दर का समन्वय है।

टिप्पणी

सामान्यत: कला उन क्रियाओं को कहा जा सकता हैं जिन्हें करने के लिए थोडी चतुराई अथवा कौशल की आवश्यकता होती है। भारतीय कला चिंतन में मन की सात्विक प्रवृत्तियों को उजागर करने पर बल दिया गया है। पाश्चात्य चिंतन में कला शब्द का प्रयोग शारीरिक या मानसिक कौशल के लिए होता है। कौशलविहीनता से किये गये कार्यों को कला की श्रेणी में नहीं रखा जाता है। आधुनिक काल में कला की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं, जिनमें में से कुछ के अनुसार कला मानवीय भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति है। भर्तृहरि ने नीतिशतक में उल्लेख किया है: **'साहित्यसंगीतकलाविहीनम्'** अर्थात् जो मनुष्य साहित्य, संगीत व कला से विहीन है, वे पूंछ और सींग से विहीन पशु के समान हीं हैं। कल्पना की सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्ति का नाम ही कला है। कल्पना की अभिव्यक्ति भिन्न भिन्न प्रकार से एवम् भिन्न भिन्न माध्यमों से हो सकती है। कला का उद्गम सौन्दर्य की प्रेरणा से हुआ है। अत: प्रत्येक प्रकार की कलात्मक प्रक्रिया का लक्ष्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है। महाकवि कालिदास द्वारा प्रणीत रघुवंश में **'ललिते कला विधौ'** का उल्लेख इसी प्रसंग में किया गया है। भगवत शरण उपाध्याय के द्वारा कहा गया है- अभिराम अंकन चाहे वह वाग्विलास के क्षेत्र में हो, चाहे राग-रेखाओं में, चाहे वास्तु शिल्प में, वह कला ही है। इसी प्रकार जयशंकर प्रसाद के अनुसार ईश्वर की कर्त्तव्य शक्ति का मानव द्वारा शारीरिक तथा मानसिक कौशलपूर्ण निर्माण कला है।

प्राचीन भारत का अवलोकन करने पर अनेक प्रकार की कलाएँ दृष्टिगत होती है। सिन्धु सभ्यता के उत्खनन में प्राप्त पक्की ईटें, मूर्तियाँ, वृषभ के चित्र, चित्रांकित भाण्ड इत्यादि से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतवासियों को काव्य, संगीत, वास्तु, मूर्ति और चित्रकला के परिज्ञान के साथ ही अनेक कलाओं का बोध है। नृत्यांगना की मूर्ति संगीत कला के तीन तत्वों गीत, वाद्य और नृत्य में से नृत्य का बोध कराती है। वेदों में बुनाई, बढईगिरी, लोहारी, कुम्हारी, सोनारी, चर्मकारी, चिकित्सकी, संगीत, वास्तु, कढाई, नृत्य, काव्य एवं नाट्य इत्यादि कलाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। शैवागम ग्रन्थों में काव्य, संगीत, वास्तु, मूर्ति इत्यादि चौंसठ कलाओं का विवेचन मयमतम्, मानसार, समरांगणसूत्रधार एवं पुराणों के समानही मिलता है। वात्स्यायन द्वारा प्रणीत कामसूत्र, उशनस् रचित शुक्रनीति, जैन ग्रन्थ प्रबन्धकोश, कलाविलास तथा ललितविस्तर आदि ग्रन्थों में कला एवं उसके प्रकारों का उल्लेख प्राप्त होता है। यद्यपि अधिकांश ग्रन्थों में 64 कलाओं को स्वीकार किया गया है, तथापि प्रबंधकोश आदि कुछ ग्रन्थों के अन्तर्गत 72 कलाओं की सूची प्राप्त होती है। बौद्ध साहित्य से सम्बद्ध ग्रन्थ ललित विस्तर में 82 कलाओं का परिगणन किया गया है। प्रसिद्ध कश्मीरी पंडित क्षेमेन्द्र के कलाविलास नामक ग्रन्थ में सर्वाधिक कलाओं का वर्णन किया गया है। उसके अन्तर्गत 64 लोकोपयोगी, 32 धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष सम्बन्धी, 32 मात्सर्य-शील-प्रभावमान सम्बन्धी, 64 स्वर्णकारी सम्बन्धी, 64 वेश्याओं सम्बन्धी, 10 भेषज सम्बन्धी, 16 कायस्थ सम्बन्धी कलाएँ तथा 100 सार कलाओं का विवेचन किया गया है।

टिप्पणी

3.2 कलाओं का वर्गीकरण

भरतमुनि द्वारा प्रणीत नाट्यशास्त्र में कलाओं का वर्गीकरण गौण एवं मुख्य कलाओं के रूप में किया गया है। भरत नाट्यकला को मुख्य कला एवं अन्य कला को गौण कला के अन्दर समाविष्ट करते है। उनके मत में अन्य कलाओं का समावेश नाट्यकला में ही हो जाता है।

समरांगण सूत्रधार के रचयिता भोज और संगीत रत्नाकरकार के द्वारा नाट्य, संगीत तथा वास्तु कलाओं को स्वतंत्र कलाएँ एवं अन्य उपयोगिनी कलाओं को आश्रित कलाओं के रूप में अभिहित किया गया है। प्रथम वर्ग की कलाएँ परतत्व विषयक कलाएँ है, क्योंकि उनसे परब्रह्म के रहस्यात्मक अनुभव की प्रतीति होती है। शेष कलाएँ उपयोगिनी कलाएँ हैं, जो व्यक्ति की कल्पना से जनित होती है। विद्धत जनों के द्वारा काव्य, संगीत, चित्र, शिल्प, नृत्य, नाट्य और वास्तु आदि मे तादात्म्य स्थापित करते हुए, इन्हें कला में समाहित किया गया है। ये सभी ललित कलाएँ स्वतन्त्र रूप से उल्लिखित है।

प्रमुख भारतीय कलाएं– भारतीय कलाएँ विविधताओं से परिपूर्ण है। भारतीय कलाओं के अन्तर्गत कुछ प्रमुख कलाओं का परिगणन किया गया है। जैसे–

1. स्थापत्य कला
2. मूर्तिकला
3. चित्रकला
4. संगीत
5. काव्य
6. नृत्य
7. रंगमंच/नाट्य

स्थापत्य कला– भारतीय सन्दर्भ में वास्तुकला को वास्तुब्रह्मवाद के नाम से अभिहित किया गया है। वास्तु शब्द की उत्पत्ति वस् धातु से हुई है, जिसका अर्थ निवास करना होता है। अर्थात् वह भवन जिसमें मनुष्य निवास करते हैं। किन्तु भारतीय सन्दर्भ में वास्तुकला शब्द का प्रयोग अत्यन्त विस्तृत अर्थ में हुआ है। भारतीय वास्तुकला के विकास का महान स्त्रोत धर्म रहा है। प्राचीन मन्दिरों, गुफा आदि के अवलोकन से तीन दृश्य कलाओं का एक ही स्थान पर समन्वय प्राप्त होता है। उदाहरण स्वरूप– अजंता एलोरा, सितनवासल, बादामी, बाघ आदि। भारतीय वास्तुकला विषयक सामग्री पुराण, शैवागम ग्रन्थ, वास्तुकला प्रतिपादक ग्रन्थों में प्राप्त होती है। वास्तुकृतियों का वर्णन ऋग्वेद में भी प्राप्त होता है। शास्त्रों में भवन निर्माण को मानव शरीर

टिप्पणी

के रूप् में ग्रहण किया गया है। इसी आधार पर भवन और उसमें निवास करने वाले के मध्य शरीर एवं आत्मा का सम्बन्ध स्थापित किया गया है। प्रमुख शास्त्रकारों ने वास्तु की तीन शैलियाँ बतायी है। वे हैं- नागर, द्राविड, बेसर। इन तीन शैलियों का सम्बन्ध क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, महेश से है। समरांगण सूत्रधार का के अनुसार वास्तुकृति से विस्मय उत्पन्न होता है। इस प्रकार वास्तुकृति का लक्ष्य भी सौन्दर्य की निर्मिति एवं उपयुक्त रस की अनुभूति का आस्वादन है।

मूर्तिकला- मिट्टी, पत्थर अथवा धातु आदि को कलाकार आकार व रूप प्रदानकरता है, जो कि त्रिआयामी प्रभाव उत्पन्न करता है। भारतीय समाज में मूर्तिकला को अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त है। प्राचीन भारतीय मन्दिरों में मूर्तिकला का अत्यन्त उदात्त स्वरूप देखा जा सकता है। दक्षिण भारत में नटराज की मूर्ति परमात्मा के विराट स्वरूप का प्रतिबिम्ब है। मानसार व समरांगण सूत्रधार में मूर्ति निर्माण कला का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है और उनमें मूर्तियों के निर्माण की विधियाँ भी दी गई है।

प्राचीन काल से ही भारतीय मूर्तिकला की सबसे बडी विशेषता यह रही है कि मूर्तियों के निर्माण में विभिन्न प्रकार के द्रव्यों, धातुओं और रत्नों का उपयोग होता रहा है। मूर्ति निर्माण कला सम्बन्धी सामग्री की जानकारी हमें पुराणों, आगमों, तंत्र ग्रन्थों व शिल्प-शास्त्र आदि में प्राप्त होती है। प्राचीन काल में मूर्ति निर्माण में धार्मिक भावना की प्रधानता रहती थी। शुक्रनीति अनुसार मूर्तिकार को मूर्ति के अनुकूल ध्यान योग में प्रवीण होना आवश्यक कहा गया है। प्रतिमाओं के मान, गुण, दोष, आसन, अलंकरण, परिधान आदि पर भी शास्त्रकारों ने अपने विचार प्रस्तुत किए है। प्रतिमाओं की तीन प्रकार की मुद्राएँ विशेष रूप से मानी गई है- हस्तमुद्रायें, पाद मुद्रायें और शरीर मुद्रायें। नाट्यशास्त्र में इनका विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। पुराणों और वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों में विभिन्न देवी देवताओं की प्रतिमाओं के लक्षण दिए गए हैं और उन्हीं लक्षणों के आधार पर प्रतिमाओं का निर्माण होना चाहिए। भारतीय मूर्तिकला का मुख्य प्रयोजन है- धार्मिक, स्मारक ओर अलंकरण।

चित्रकला- विष्णुधर्मोत्तर पुराण के तृतीय खण्ड 'चित्रसूत्र' में कहा गया है कि - कलाओं में चित्रकला सर्वश्रेष्ठ है और उसकी साधना करते हुए धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चारों पुरुषार्थ की प्राप्ति हो सकती है। घरों में चित्र बनाने के समान अन्य कुछ मंगलदायक नहीं है।

कलानाम् प्रवरम् चित्रम्। धर्म कामार्थ मोक्षदम्।

मांगल्यम् प्रथमम् होतद् गहे यत्र प्रतिष्ठितम्॥

रेखा, वर्ण, वर्तना और अलंकरण इन चारों की सहायता से चित्र का स्वरूप निष्पादित होता है। वात्स्यायन कृत कामसूत्र की टीका में यशोधर पंडित ने आलेख्य के छः अंग बताये है जो षडंग के नाम से अभिहित किये गये है। वे छः अंग इस प्रकार है- 1. रूपभेद, 2. प्रमाण, 3. भाव, 4. लावण्य योजना, 5. सादृश्य, 6. वर्णिका-भंग। आधुनिक विचारधारा के अनुसार

भी चित्र के छः तत्व माने गये हैं- रेखा, रूप, वर्ण, तान, पोत व अन्तराल। भारतीय चित्रकला का इतिहास उतना ही प्राचीन है, जितना की प्राचीन मानव इतिहास। प्राचीन जनवासियों ने गुफाओं की दीवारों, चट्टानों आदि पर आडी-तिरछी रेखायें खींचकर अपने मनोभावों को व्यक्त किया, जो वर्तमान में भी कुछ सुरक्षित है। ऋग्वेद में चमडे पर बने अग्निदेव के चित्र का उल्लेख मिलता है। तीसरी व चौथी ई. पू. के बौद्ध ग्रन्थ विनय पिटक तथा थेरी गाथा में चित्रों का उल्लेख मिलता है। भोजदेव कुत समरांगण सूत्रधार में चित्रकला सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण विषयों का उललेख है। इस अध्याय में यह प्रतिपादित किया गया है कि चित्रकला समस्त कलाओं में प्रमुख है। इससे सभी व्यक्ति आनन्दित होते हैं। उसमें कहा गया है- **चित्रं हि सर्वं शिल्पानां मुखं लोकस्य च प्रियम्।**

अर्थात् चित्रकला समस्त शिल्पों और कलाओं में प्रधान है तथा सर्वप्रिय है। वह भौतिक, दैविक एवं आध्यात्मिक भावना तथा सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् की समन्वित रूप से अभिव्यक्ति करती है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में चित्रकला की विशेषतायें विस्तार से वर्णित की गई है। अभिलषितार्थ चिंतामणि में चार प्रकार के चित्रों का उल्लेख है-1. बिद्ध चित्र 2. अबिद्ध चित्र 3. रस चित्र 4. धूलि चित्र। सामान्य रूप से प्राचीन काल में तीन प्रकार के चित्र बनाए जाने का विधान है- 1. भित्ति चित्र 2. पट-चित्र 3. फलक चित्र।

कला का आरम्भ आलेखन से ही होता है। चाक्षुष कलाओं में आज भी आलेखन सर्वाधिक आवश्यक तत्व के रूप में विद्यमान है। आधुनिक चित्रकला में चेतन कला का स्थान प्रमुख है। आधुनिक चित्रकार कल्पना में पूर्ण विश्वास रखता है। वह उसके सहारे नए रूपों का सृजन करना चाहता है, जिन्हें यथार्थ में प्रकृति में भी नहीं देखा जा सके। इसीलिए आधुनिक चित्रकला का स्वरूप सूक्ष्म होता चला गया है।

संगीत कला- भारतीय शास्त्रों में संगीत कला को नाद-ब्रह्मवाद के नाम से अभिहित किया गया है। संगीत का माध्यम नाद है। नाद से ही उसकी सृष्टि होती है, परन्तु केवल नाद से ही संगीत की उत्पत्ति नहीं हो सकती वरन् गीत और वाद्य से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। भौतिक उपकरणों और आधार की सूक्ष्मता के कारण कुछ विद्वान काव्य तथा संगीत को एक ही श्रेणी की कलायें मानते है, क्योंकि संगीतकार भी ध्वनि की सहायता से भावों की अभिव्यक्ति करता है। भारतीय संगीत का आरम्भ वैदिक काल से ही माना जाता है। ऋग्वेद के शांखायन ब्राह्मण के अनुसार नृत्य, गीत और वाद्य तीनों शिल्पों का अभिन्न साहचर्य है। यजुर्वेद में वैदिक स्वरों की संज्ञा उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के रूप में दी गई है। कुछ विद्वानों का मत है कि सामवेद के स्वरों को ही भरत और शारंगदेव ने अपने षड्ज ग्राम के शुद्ध स्वर माने है। कई श्रुतियों के योग से एक स्वर बनता है। स्वरों के समूह को ग्राम कहते है। भारतीय पद्धति में क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद और तार षड्ज स्वर है। स्वर के विस्तार को विस्तार को ध्यान में रखकर उसके तीन स्थान बताए गए है- मंद्र, मध्य एवं तार।

काव्य कला- काव्य का वास्तविक आधार शब्द है। भारतीय शास्त्रों में इसे शब्द ब्रह्मवाद के नाम से अभिहित किया गया है। शब्दों के संयोग से भाषा का निर्माण होता है और भाषा की साधना ही काव्य को जन्म देती है। भारतीय परम्परा में काव्य के घटक तत्व हैं- शब्द और अर्थ। जो एक ही वस्तु के दो अंग है। कवि कालिदास ने शब्द और अर्थ की संपृक्ति के महत्व को इसी प्रकार स्वीकार किया गया है, जिस प्रकार पार्वती परमेश्वर एक दूसरे से सम्पृक्त है। इस प्रकार उन्होंने शब्द और अर्थ की एकता स्थापित की है। अतएव भारतीय परम्परा में काव्य के अखण्ड आस्वादन का ही प्रतिपादन किया गया है। काव्य का अपना कलात्मक वैशिष्ट्य है और उसका विवेचन, विश्लेषण भी यथेष्ट रूप में हुआ है। आनन्दवर्धन के अनुसार कवि का उद्देश्य सहृदय को आह्लाद प्रदान करना होता है और वह अपने इस उद्देश्य की पूर्ति सौन्दर्य निर्मिति से करता है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए कवि भाषा का सहारा लेता है और उसके माध्यम से काव्य सत्य का निर्माण करता है।

टिप्पणी

नृत्य कला- प्राचीन काल से ही नृत्य कला प्रमुख कला के रूप में अभिव्यक्त की गई है। अनेक शास्त्रों से नृत्य कला विषयक बोध होता है। शारदातनय ने नृत्य को भावात्मक कहा है। अभिनय दर्पण में उल्लेख प्राप्त होता है कि नृत्य को गीत, अभिनय, भाव और ताल से समन्वित होना चाहिए। नाट्यशास्त्र में नृत्य कला का विस्तार से वर्णन किया गया है। नृत्य में पांच क्रियाएँ प्रमुख मानी गई है- स्थान, चारी, करण, अंगकार और रेचक। स्थान, चारी तथा नृत्तहस्त से नृत्य की आरम्भिक भंगिमा बनती है। ये तीनों नृत्य की मूल भंगिमाएँ कही गई है। चारी नृत्य का प्रमुख अंग है। चारी से तात्पर्य है- पद संचालन। नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत पिण्डीबंध नृत्यों का भी विवेचन किया है। यह उन सामूहिक नृत्यों को इंगित करते है जिनको नाट्य के पूर्व रंग के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। नाट्यशास्त्र में इसके 17 प्रकार बताये गये है। नाट्यशास्त्र में नृत्य के मुख्यत: दो भेद किए जाते है- तांडव व लास्य। नटराज की प्रेरणा से महामुनि तण्डु द्वारा प्रवर्तित पुरुषोचित वृत्तियों से युक्त नृत्त ताण्डव एवं पार्वती द्वारा आविष्कृत और बृज वनिताओं द्वारा प्रवर्तित, सौन्दर्य व विलासिता युक्त नृत्त को लास्य नाम से अभिहित किया गया है। नाट्यशास्त्र में इनके अनेक भेदों का भी विवरण प्राप्त होता है। इन दोनों शास्त्रीय नृत्यों के अतिरिक्त भरत नाट्यम्, कत्थक, मणिपुरी, कथकली, कुचिपुडी व ओडिसी आदि नृत्य शैलियों को भी भारतीय शास्त्रीय नृत्यों की श्रेणी में रखा गया है।

नाट्यकला- भारतीय परम्परा में नाट्य कला को रस ब्रह्मवाद से अभिहित किया गया है। पाणिनी के अनुसार नटों के धर्म को नाट्य कहा जाता है। धनंजय ने अवस्था की अनुकृति को नाट्य कहा है। भरतमुनि के अनुसार जिसमें देवताओं, असुरों, राजाओं, ऋषियों, गृहस्थों आदि के कार्यों और चरित्रों का अनुकरण हो उसे नाट्य कहा जाता है। महेन्द्र विक्रम के भरतकोश में कहा गया है कि नटों द्वारा जो प्रदर्शित किया जाता है उसे नाट्य कहते है। मुख्यत: नाट्य का विषय रस है। इस कारण इसे रसाश्रित कहा गया है। नाट्य में वाक्यार्थ की प्रतीति व रसोद्रेक अभिनय के माध्यम से होता है। अभिनय चार प्रकार का कहा गया है- आंगिक, वाचिक, आहार्य, सात्विक। नाट्यशास्त्र में दृष्टि के अभिनय के आठ प्रकार कहे गए है- सम,

टिप्पणी

साची, अनुवृत्त, आलोकित, विलोकित, प्रलेकित, उल्लेकित और अवलोकित। मुख राग चार प्रकार के माने गये है-स्वाभाविक, प्रसन्न, रक्त और श्याम। हस्तक्रियाओं को तीन प्रकार से विभाजित किया गया है- असंयुक्त हस्त, संयुक्त हस्त और नृत्त हस्त।

पाठगत प्रश्न 3.1

1. कला शब्द की निष्पत्ति बताइए?
2. साहित्यसंगीतकलाविहीनम् किस ग्रन्थ से उद्धृत है?
3. नाट्यशास्त्र में कलाओं का वर्गीकरण किन रूपों में किया गया है?
4. पाश्चात्य चिंतन में कला शब्द का प्रयोग किस के रूप में किया गया है?
5. प्रमुख भारतीय कलाओं के नाम बताइए?
6. वास्तुकला का कोई उदाहरण बताइए ?
7. मूर्तिकला सम्बन्धी साहित्यिक ग्रन्थों के नाम क्या है?
8. कामसूत्र में वर्णित आलेख्य के कितने अंग है?
9. यजुर्वेद में वर्णित स्वरों की संज्ञा क्या है?
10. नृत्य में प्रयुक्त प्रमुख पाँच क्रियाएँ कौन सी है?
11. नाट्यशास्त्र में मुख्यत: नृत्य के कितने भेद है?

3.3 भारत में कलाओं का विकास

स्थापत्यकला- किसी भी महान संस्कृति की सर्वप्रथम् कला स्थापत्य कला अर्थात् वास्तुकला है। वास्तुकला गृह, राजप्रसाद, मन्दिर इत्यादि के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्राचीन भारत का अवलोकन करने पर हडप्पा एवं मोहनजोदडो विकसित नगरीय सभ्यता के रूप में दृष्टिगम्य है। वहाँ सुस्पष्ट एवं उच्चस्तरीय वास्तुकला का प्रयोग दृष्टव्य है। नगर के मुख्य भाग में नगराधिकारी हेतु दो दुर्ग का विवरण मिलता है। नगरनिवासियों के भवन निर्माण में पक्की ईटों एवं लकडी का प्रयोग होता है। मौर्य काल में लकडी के स्थान पर पत्थर का प्रयोग भवन निर्माण में होने लगा। उदाहरणस्वरूप चट्टानों को काटकर कन्दराओं का निर्माण। बौद्धकालीन वास्तुकला में स्तूप निर्माण प्रमुख है। स्तूपों में वैशाली, सांची, सारनाथ, नालन्दा इत्यादि आदर्श स्तूप के रूप में प्रतिबिम्बित है। इसमें अत्यन्त उत्कृष्ट तराशे हुए चार द्वार व सुन्दर मन्दिर

टिप्पणी

सांची में प्राप्त होते है, जिसकी मंच संरचना अर्द्धवृत्ताकार है। झरोखे वस्तुतः प्रकाश एवं वायु के लिए प्रयुक्तव्य है। द्रविड शैली के मन्दिरों की आकृति आयताकार एवं शिखर पिरामिड के रूप में प्राप्त होते है। यह क्रमशः मध्य की ओर संकुचित होता जाता हैं। शीर्ष भाग में गुम्बदाकार स्तूपिका होती है। इसके गवाक्ष एवं गलियारे अद्‌भुत कोटि के होते है। इसके अन्तर्गत कांचीपुरम् एवं महाबलिपुरम् के मन्दिर प्रसिद्ध है। तंजौर का बृहदीश्वर मन्दिर द्रविड शिल्पकला की सर्वोत्तम कृति है। बेसर शैली भारतीय वास्तुकला का अनुपम मापदण्ड है। यह नागर एवं द्रविड शैली का सम्मिश्रण है। दक्षिणापथ के मन्दिर इसी शैली के बने हुए है। उदाहरणस्वरूप देवगढ का दशावतार मन्दिर, उदयगिरि का विष्णु मन्दिर।

मूर्तिकला-भारतीय मूर्तिकला में पत्थर, धातु एवं लकडी का प्रयोग दृष्टवय है। उन पर उकेरे गए मुद्रा एवं भाव मूर्तियों को सजीव बनाते है। हडप्पा तथा भारतीय मूर्तिकला के तीन विभिन्न प्रकार दृष्टिगोचर होते है- गांधार कला, मथुरा कला एवं अमरावती कला। गांधार शैली का सर्वाधिक विकास कनिष्क के काल में हुआ। इसे मिश्रित शैली के रूप में भी जाना जाता है। क्योंकि इसमें यूनानी, मौर्य तथा शुंग काल की कलाएं भी सम्मिलित है। इस कला में सर्वाधिक मूर्ति महात्मा बुद्ध की बनी हुई है। इस शैली की मूर्तियों के लिए काले पत्थर का प्रयोग मिलता है। मथुरा शैली को शुद्ध देसी शैली भी कहा जाता है। कुषाण काल में यह उच्चतम शिखर पर दृष्टिगत होती है। इसमें महात्मा बुद्ध, बोधिसत्व इत्यादि के मूर्ति निर्माण हेतु लाल रंग के पत्थर का प्रयोग किया गया है। अमरावती शैली का विकास आंध्र प्रदेश के सातवाहन काल में हुआ। इसमें अधिकांश हिन्दू देवी देवताओं के चित्र बनाए गए।

चित्रकला-मानवीय सौन्दर्यबोध की चरम अभिव्यक्ति चित्रकला में भी प्राप्त होती है। चित्रकला में रेखाओं और रंगों के प्रयोग द्वारा वस्त्र, लकडी, भित्ति एवं कागज पर चित्रांकन किया जाता है। प्रागैतिहासिक काल में अनेक गुहा चित्र भी प्राप्त होते है, जिनमें भीमबेटका के मानव व पशु-पक्षी के लाल रंगों के चित्र हैं। द्वितीय चरण में गुप्तकाल के अजंता, एलोरा एवं बाघ गुफाओं के भित्ति चित्र प्राप्त होते है। यह विश्वकला की अनुपम चित्रशाला है। यहाँ प्राकृतिक सौन्दर्य पर आधारित वृक्ष, पुष्प, नदी एवं झरनों के चित्र हैं। वहीं अप्सराओं, गन्धर्वो एवं यक्षों के चित्र हैं। बुद्ध के विभिन्न रूपों एवं जातक कथाओं के चित्र भी प्राप्त होते है। जिसमें नीले, सफेद, हरे, लाल, भूरे रंगों का काल्पनिक रंग संयोजन अद्‌भुत सौन्दर्य को प्रकट करते हैं। इन चित्रों में करुणा, प्रेम, लज्जा, भय, मैत्री, हर्ष, उल्लास, घृणा, चिन्ता आदि सूक्ष्म भावनाओं का चित्रण है। गुप्तोत्तर काल की चित्रकला में लघु चित्रकला शैली का विकास हुआ। यह पूर्वी और पश्चिमी सम्प्रदाओं से मिश्रित राष्ट्रीय शैली है। इस शैली के चित्रों में अनन्त विविधता है। मुगलकालीन चित्रकला में पर्शियन तथा भारतीय दोनों प्रभाव परिलक्षित होते है। अकबर, जहांगीर तथा शाहजहाँ ने चित्रों के प्रति गहरा लगाव प्रस्तुत करते हुए पशु-पक्षियों आदि के चित्र बनवाये। इन चित्रों में भावहीन चेहरे और निश्चल पशु-पक्षियों के चेहरे देखने को मिलते हैं। राजस्थानी चित्रकला मुगल एवं पश्चिमी परम्परा से मिश्रित एक स्वतन्त्र कला है। हिमाचल के पहाडी क्षेत्रों में पहाडी आकृति, पृष्ठभूमि रेखा और रंग की दृष्टि से काफी विविधताएँ हैं। इसमें कृष्ण लीलाओं तथा राग-रागनियों का मिश्रण है।

टिप्पणी

संगीतकला- भारतीय संगीत कला का जन्म वेदों से हुआ है। नाद अर्थात् संगीत को ब्रह्म कहा गया है। इसीलिए उसकी तरंगें हृदय को छूती है। भारतीय संगीत की उत्पत्ति सामवेद से हुई है। लोकगीतों तथा शास्त्रीय संगीत में विकसित एवं परिष्कृत भारतीय संगीत का आधार राग है। राग स्वर माधुर्य की एक ऐसी योजना को कहते हैं, जिसमें स्वरों को परम्परागत नियमों में बांधा गया है। सात सुरों से प्रारम्भ हुए संगीत में उषाकाल, प्रभात, दोपहर, सच्चा, रात्रि और अर्द्धरात्रि के अनुसार रागों का विभाजन है। भारतीय संगीत मे ताल का विधान अत्यन्त जटिल और विस्तृत है। इसमें विलम्बित, भव्य एवं द्रुत ताल प्रसिद्ध हैं। वर्गीकरण की दृष्टि से शास्त्रीय संगीत एवं सुगम संगीत दो पद्धतियाँ हैं। शास्त्रीय संगीत की मुख्य दो पद्धतियाँ हैं- हिन्दुस्तानी संगीत और कर्नाटकी संगीत। हिन्दुस्तानी संगीत में ध्रुपद, ठुमरी, ख्याल, टप्पा प्रसिद्ध हैं। इससे सम्बन्धित घराना में ग्वालियर, आगरा, जयपुर, किराना घराना है। ग्वालियर घराने के प्रसिद्ध संगीतज्ञ बालकृष्ण दुआ, रहमत खां है। आगरा घराने से नत्थन खां, फैयाज खां, जयपुर खां, किराना घराना से अछल करीम खां, अकुल वालिद खां हैं। कर्नाटक संगीत शैली में तिल्लाना, थेवारम, पादम, जावली प्रमुख हैं। कर्नाटक संगीत कुण्डली पर आधारित है। इसमें लहर की भांति उच्चावचन नियमित हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न गाायन शैलियों में धमार, तराना, गजल, दादरा, होरी भजन गीत, लोकगीत इत्यादि हैं। संगीत की प्रमुख राग-रागनियों में भैरवी, भूपाली, बागश्री, भैरव, देस, बिलावल, यमन, दीपक, विहाग, हिण्डोली, मेघ आदि हैं।

इसमें प्रयुक्त होने वाले वाद्य हैं: सारंगी, वायलिन, मृदंगम, नादस्वरम्, गिटार, सरोद, संतूर, सितार, शहनाई, बांसुरी, तबला, वीणा, पखावज, हारमोनियम, जलतरंग आदि। प्रमुख वादकों में बाल मुरलीधरन, अमजद अली खां, शिवकुमार शर्मा, पण्डित रविशंकर, उस्ताद बिस्मिल्लाह खां, जाकिर हुसैन, अल्लारखा खां, हरिप्रसाद चौरसिया, रघुनाथ सेठ हैं। इस प्रकार भारतीय संगीत वेदों से प्रारम्भ होकर बौद्धकाल मौर्य, शुंगकाल, कुषाणकाल एवं समुद्रगुप्त के काल में काफी विकसित हुआ। अश्वघोष नामक महान संगीतज्ञ इसी काल में हुए।

नृत्य कला- नृत्यकला भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। हरिवंश पुराण में उर्वशी, हेमा, रम्भा, तिलोत्तमा, आदि देव नर्तकियों के नाम आते हैं भारतीय नृत्यकला अत्यन्त प्राचीन है। इनमें धर्म अभिव्यक्ति का प्रमुख आधार रहा है। इसमें सामाजिक जन-जीवन से जुडे नृत्यों की परम्परा भी रही है। शास्त्रीय नृत्य में ताण्डव, भरतनाट्यम्, कथक, कथकलि सम्मिलित हैं। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में संगीत, नृत्य, कविता का अद्‌भुत समन्वय मिलता है। इसका उद्देश्य मनुष्य में पवित्रता, सदाचार, मानवमूल्यों का संचार करना है। ये नृत्य कठिन साधना पर आधारित रहे हैं। वैदिक काल में मेले में युवक-युवतियाँ नृत्य करते हुए उल्लिखित है। नगरवधुएँ अपने आमोद-प्रमोद के लिए नृत्य किया करती है। देवदासी के साथ-साथ सार्वजनिक नृत्यशालाएँ भी प्रचलन में रही है। मौर्य तथा कनिष्क के समय नृत्य का पुनर्जागरण हुआ। गुप्तकाल को नृत्यकला के स्वर्णिम युग के रूप में देखा जा सकता है। जबकि मुगलकालीन नृत्यकला दरबारों तक सीमित परिलक्षित होती है।

टिप्पणी

नाट्यकला- नाट्यकला को ललित कला की संज्ञा से भी अभिहित किया गया है। जिसके अन्तर्गत अभिनय, मनोरंजन एवं रस की सृष्टि की जाती है। वैदिक काल में नाट्य रूप पुरूरवा-उर्वशी, यम-यमी, सरमा पाणि इत्यादि संवादों में दृष्टिगत होता है। पाणिनी और पतंजलि की व्याकरण सम्बन्धी रचनाओं में भी नाट्य सम्बन्धी सूत्रों का विवरण प्राप्त होता है। आचार्य भरत के द्वारा नाट्य को पंचम वेद के रूप में स्थापित किया गया है। भरत के नाट्यशास्त्र में नाटक से सम्बन्धित विविध पक्षों, रंग, वस्तु, अभिनय, संगीत आदि का विशद् निरूपण किया गया है। बाद में इनके समुचित प्रयोग से भारतीय नाट्य महाकाव्य, नाटक इत्यादि के रूप में विकसित हुए।नाटक की नई शैलियों का विकास हुआ जैसे- कश्मीर में भांड, थार और गुजरात में भवाई, रामलीला, उत्तर भारत में नौटंकी, रामलीला, रासलीला का प्रयोग प्रचलित है।

साहित्यकला- भारतीय साहित्यकला की अत्यन्त समृद्ध, गौरवशाली एवं विपुल परम्परा रही है। धार्मिक साहित्य में वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण आते हैं। वैदिक साहित्य में शक्तिशाली देवताओं और दानवों के बीच संघर्ष का वर्णन है। वैदिक काल में 6 वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द, ज्योतिष) का वर्णन है। प्राचीन भारतीय साहित्य में रामायण एवं महाभारत प्रसिद्ध पुस्तकें है। रामायण में जहाँ राम का आदर्श चरित्र है, वही महाभारत में कौरव और पाण्डवों के बीच युद्ध की कथा है। जैन और बौद्ध ग्रन्थ व्यक्ति एवं घटनाओं पर आधारित हैं। जातक कथाएं पालि भाषा में है और जैन ग्रन्थों की भाषा प्राकृत है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र भारतीय राजतन्त्र एवं अर्थव्यवस्था के समन्वय का उदाहरण है। गुप्तकालीन साहित्य संगम साहित्य, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक जीवन की जानकारी देता है। ब्रह्मगुप्त ने गुरुत्वाकर्षण, वराहमिहिर ने खगोल, भूगोल, नागार्जुन ने रसायनशास्त्र के क्षेत्र में इस्पात बनाने, पक्के रंग तैयार करने, चरक और सुश्रुत संहिताओं में कपाल छेदन, हाथ-पैर काटे जाने तथा मोतियाबिन्द जैसी जटिल शल्य क्रिया का वर्णन है। इस प्रकार साहित्य अपनी समृद्ध विरासत के साथ अपनी सृजन यात्रा में गतिशील है।

पाठगत प्रश्न 3.2

1. मौर्यकाल में भवन निर्माण के लिए किसका प्रयोग किया जाने लगा?

2. बौद्धकालीन प्रमुख स्तूपों के नाम बताइए?

3. द्रविड शैली में बने प्रमुख मन्दिरों के नाम लिखिए?

4. भारतीय मूर्तिकला कितने प्रकार की है, विवरण दीजिए?

5. मथुरा शैली में मूर्ति निर्माण हेतु किस रंग के पत्थर का प्रयोग किया है?

टिप्पणी

6. भारतीय संगीत की उत्पत्ति किस वेद से हुई है?

7. प्रमुख वाद्य यन्त्रों के नाम लिखिए?

8. प्रमुख शास्त्रीय नृत्यों का उल्लेख कीजिए?

3.4 नाट्यकला का अन्य कलाओं से सम्बन्ध

नाट्यशास्त्र में नाट्येतर कलाओं पर विचार किया गया है। नाट्य के अन्तर्गत विभिन्न कलाओं के सिद्धान्तों एवं उपादानों का समावेश होता है। भरतमुनि द्वारा कहा भी गया है-

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

अर्थात् कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग और कर्म नहीं है, जो इस नाट्य में नहीं देखा जाता। नाट्यशास्त्र में नाट्य को अनुकृति या अनुकरण के द्वारा परिभाषित किया गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार अनुकरण का तत्व सभी कलाओं में रहता है। मूल तत्व के एक होने पर भी सभी कलाओं में पारस्परिकता, आत्मनिर्भरता तथा साम्य दिखाई देता हैं। इसमें उल्लेख प्राप्त होता है।

एते कलाकौशलसम्प्रयुक्ताः कार्यास्तथा लोकविधानयुक्ताः।
धर्मार्थकामाद्युपदेशकाश्च हिताय लोकस्य नरेन्द्रचन्द्र॥

अर्थात् ये नाटक आदि प्रबन्ध विभिन्न कलाओं के कौशल से युक्त, लोकविधान से समन्वित तथा धर्म, अर्थ और काम के उपदेशक होते हैं, लोक हित के लिए इनका प्रयोग करना चाहिए। नृत्य और नाटक की पारस्परिकता भी इस पुराण में स्वीकार की गई है। वहाँ प्रतिमा, चित्र, नृत्त, आतोद्य और गीत की आत्मनिर्भरता को इस प्रकार बताया गया है।

चित्रसूत्रं न जानाति यस्तु सम्यङ् नराधिप।
प्रतिमालक्षणं वेत्तुं न शक्यं तेन कर्हिचित्॥

बिना तु नृत्तशास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुविदम्।
जगतोऽनुक्रिया कार्या द्वयोरपि यतो नृप॥

आतोद्यं यो न जानाति तस्य नृत्तं सुदुर्विदम्।
आतोद्येन बिना नृत्तं विद्यते न कथंचन॥

न गीतेन बिना शक्यं ज्ञातुमातोद्यमुच्यते।
गीतशास्त्रविधानज्ञः सर्वं वेत्ति यथाविधि।

अर्थात् जो अच्छी तरह चित्रसूत्र नहीं जानता, वह प्रतिमा लक्षण नहीं जान सकता है। नृत्तशास्त्र के बिना चित्रसूत्र का भी ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों में ही जगत की अनुकृति रहती है। आतोद्य के बिना नृत्त भी सम्भव नहीं है, इसलिए जो आतोद्य नहीं जानता, उसके लिए नृत्त अज्ञेय ही रहेगा। गीत के बिना आतोद्य नहीं जाना जा सकता, गीतशास्त्र के विधान को जानने वाला विधिपूर्वक अन्य सब कलाओं को जानने लगता है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण का गीत से यहाँ आशय बडा व्यापक है, क्योंकि जो कुछ पाठ्य हैं, उसे यहाँ गीत कहा गया है, जिसमें गद्य तथा पद्य दोनों का समावेश माना गया है, अतएव गीतशास्त्र से काव्यकला का भी संग्रह कर लिया गया है।

आचार्य भरतमुनि ने नाट्य में रंगशाला के निर्माण एवं उसके महत्व को बताया है। उनके मतानुसार आकार के आधार पर आयताकार, वर्गाकार तथा त्रिकोणाकार ये तीन प्रकार की रंगशाला का निर्माण करना चाहिए। उनका आकार विशाल, मध्यम तथा लघु होता है। भरत ने अणु से दण्ड तक के मानों अर्थात् प्रमाणों का विशेष महत्व बताया है। वास्तु से सम्बन्धित सामान्य बातें जैसे- गृहभूमि का चयन, उसका परिमार्जन, शिलान्यास की धार्मिक विधि, भित्ति रचना तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के आधार पर स्तम्भों की रचना, प्रसाधन-कक्ष आदि का भी वर्णन नाट्य में ध्यान रखना आवश्यक कहा गया है। रंगमंच का फर्श दर्पण के समान समतल होना चाहिए। दर्शकों के बैठने का स्थान सोपान की भांति होना चाहिए। इनके समुचित प्रयोग से ही श्रेष्ठ नाट्य सम्भव होता है।

पाठगत प्रश्न 3.3

1. नाट्य को किसके द्वारा परिभाषित किया गया है?
2. नाट्यशास्त्र में कितने प्रकार की रंगशाला का विवेचन किया गया है? नामोल्लेख कीजिए?
3. 'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला' पंक्ति उद्धृत है?

3.5 नाट्य प्रस्तुति में अन्य कलाओं का योगदान

गीत एवं वाद्य- भरत के नाटयशास्त्र में नाट्य प्रयोग की सिद्धि के लिए संगीत एवं वाद्य यन्त्रों को आवश्यक कहा गया है। नाट्यशास्त्र के अध्याय 28 से 34 तक इन्हीं विषयों का प्रतिपादन किया गया है। नाटक में गीत प्रयोग के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में एक संतुलित विधान दृष्टिगत होता है। नाट्य प्रयोग का प्रारम्भ भी गीत एवं नृत्य के माध्यम से होता है। नाट्य के आरम्भ, मध्य एवं अन्त में गीत प्रयोग का विधान किया गया है। भरतमुनि नाट्य प्रयोग में गीत वाद्य एक आवश्यक एवं महत्वपूर्ण अंग के रूप में स्वीकार किया है। वाद्य-भांड एवं वीणा आदि के वादन का संतुलित प्रयोग हो तो नाट्य प्रयोग भाव-समृद्ध एवं रस से परिपूर्ण हो जाता है।

टिप्पणी

पूर्वरंग विधान के प्रसंग से स्पष्ट होता है कि नाट्य प्रणेता भरतमुनि ने गीत को नाट्य प्रयोग का अंग मानकर ही उसका विधान नाट्य प्रयोग के सहायक अंग के रूप में किया है। नाट्यशास्त्र के 28वें अध्याय में उद्धरण प्राप्त होता है- एवं गीतं च वाद्यं नाट्यं च विविधाश्रयम्। **अलातचक्रप्रतिमं कर्तव्यं नाट्योक्तृभिः।** अर्थात् गीत ओर वाद्य नाट्य प्रयोग में अलातचक्र की तरह मिले रहते हैं। वहां गीत एवं नृत्य का विधान करते हुए उन्होंने प्रतिपादित किया है कि नाट्य की भावधारा में रागात्मकता के संचार के लिए इनका प्रयोग होता है। यहाँ ध्यातव्य है कि जहाँ गीत और वाद्य नाट्य प्रयोग को शक्ति और गति नहीं देते, वहाँ इनका प्रयोग अपेक्षित नहीं है। इसे नाट्यशास्त्र में इस प्रकार उद्धृत किया गया है- **कार्यो नात्तिप्रसंगोऽत्र नृत्तगीतविधिं प्रति। गीते वाद्ये च नृत्ते च प्रवृत्तेऽति प्रसंगतः। खेदो भवेत् प्रयोक्तृणां प्रेक्षकानां तथैव च। खिन्नानां रसभावेषु स्पष्टता नोपजायते॥ ततः शेष प्रयोगस्तु न रागजनको भवेत्।** अर्थात् गीत-वाद्य-नृत्य का अतिशय प्रयोग होने पर प्रयोक्ता ओर प्रेक्षक दोनों खेद अनुभव करते और भाव एवं रस अस्पष्ट हो जाते हैं। गीतों का प्रयोग भाव एवं रस के प्रकाशन के लिए होता है लेकिन उसके अतिशय प्रयोग होने पर वह नाट्य रागजनक न होकर खेदजनक हो जाता है।

नृत्य-नाट्य में शोभा प्रसार हेतु नृत्य का समावेश किया गया है। नाट्यशास्त्र में उल्लेख प्राप्त होता है कि नाट्य में नृत्य का प्रयोग शिव की प्रेरणा से हुआ है। भरत के द्वारा त्रिपुरदाह डिम का प्रयोग किया गया, परन्तु उसका पूर्वरंग नृत्य विहीन होने के कारण शुद्ध था। शिव ने उसमें गीत वाद्ययुक्त नृत्य का प्रयोग करके उसे चित्र रूप में प्रस्तुत करने के लिए महामुनि तण्डु को आदेश दिया कि वह भरत को नृत्य की शिक्षा दें। इसीलिए नृत्य का एक प्रधान भेद ताण्डव नाम से प्रसिद्ध हुआ। नाट्य शास्त्र में एक अन्य विवरण भी प्राप्त होता है। प्रजापति दक्ष के यज्ञध्वंस के पश्चात् शिव के द्वारा गीत के ताल पर अनेक मुद्राओं में नृत्य किया। उन्होंने विविध मुद्राओं में प्रत्येक देवता का अनुकरण नृत्य में प्रस्तुत किया। नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत नृत्य के उद्धत (ताण्डव) और सुकुमार (लास्य) भेदों का निरूपण हुआ है।

पाठगत प्रश्न 3.4

1. ''एवं गीतं च वाद्यं नाट्यं च विविधाश्रयम्। अलातचक्रप्रतिमं कर्तव्यं नाट्योक्तृभिः'' पंक्ति कहाँ से उद्धृत है?

2. भरत के द्वारा प्रयुक्त डिम का नाम बताइए?

3. प्रजापति दक्ष के यज्ञध्वंस के पश्चात् किसके द्वारा गीत के ताल पर अनेक मुद्राओं में नृत्य किया।

आपने क्या सीखा

- कला का निरंतर इतिहास रहा है जो प्राचीन सभ्यताओं से निरंतर चला आ रहा है।
- जीवन को व्यवस्थित एवं आनन्दपूर्ण बनाने के लिए उपयोगी एवं ललित कला का प्रयोग किया गया।
- प्रमुख भारतीय कलाएं पुरुषार्थ सिद्धि में सहायक रही।
- सभी कलाओं का समावेश नाट्य में हो सकता है।
- समस्त कलाओं के समुचित प्रयोग से समन्वित नाट्य प्रयोग समस्त मनुष्यों के लिए आह्लादकारी होता है।
- प्रत्येक कला के विकास क्रम एवं शैलियों का बोध हुआ।

पाठान्त प्रश्न

1. कला के स्वरूप एवं वर्गीकरण पर प्रकाश डालिए।
2. प्रमुख भारतीय कलाओं की विवेचना कीजिए।
3. वास्तुकला का नाट्यकला से किस प्रकार सम्बन्ध है?
4. स्थापत्य कला के विकास क्रम को दिखाइये।
5. नाट्य प्रस्तुति में सहायक कलाओं पर प्रकाश डालिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

3.1

1. 'कल्' धातु 'घञ्' प्रत्यय
2. नीतिशतकम्
3. मुख्य एवं गौण
4. शारीरिक और मानसिक

5. स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत, काव्य, नाट्य, नृत्यकला
6. अंजता ऐलोरा
7. मानसार, समरांगणसूत्रधार
8. 6
9. उदात्त, अनुदात्त, स्वरित
10. स्थान, चारी, करण, अंगकार, रेचन।
11. दो (ताण्डव एवं लास्य)

3.2

1. पत्थर
2. वैशाली, सारनाथ, सांची
3. बृहदीश्वर, कांचीपुरम्, महाबलिपुरम्
4. मथुरा, गांधार, अमरावती
5. लाल
6. सामवेद
7. सारंगी, वीणा, तबला, बांसुरी, सितार आदि
8. ताण्डव, भरतनाट्यम्, कत्थक आदि

3.3

1. अनुकरण
2. तीन आयताकार, वर्गाकार, त्रिकोणाकार
3. नाट्यशास्त्र

3.4

1. नाट्यशास्त्र 26 वां अध्याय
2. त्रिपुरदाह
3. शिव

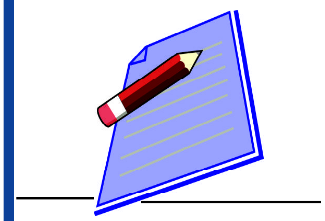

टिप्पणी

4

नाट्य का सौन्दर्यशास्त्र

भारतीय वांग्मय में कतिपय शास्त्र परम्परा आदिकाल से चली आ रही है, यथा- काव्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र, नाट्यशास्त्र, साहित्यशास्त्र, अर्थशास्त्र इत्यादि। वर्तमान काल में सौन्दर्यशास्त्र को एक महत्वपूर्ण अवधारणा के रूप मे देखा और समझा जा रहा है। हिन्दी तथा कुछ अन्य भारतीय भाषाओं में इसका निर्माण ऐस्थेटिक्स के पर्याय रूप में किया गया है। ऐस्थेटिक्स शब्द यूनानी भाषा के ऐस्थेसिस शब्द से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है 'ऐन्द्रिय संवेदना'। इस प्रकार ऐस्थेटिक्स का शब्दार्थ होता है ऐन्द्रिय संवेदना का शास्त्र। परम्परा के अनुसार सौन्दर्यशास्त्र दर्शन की वह भाषा है जिसका विवेच्य विषय है- कला और प्रकृति का सौन्दर्य। आधुनिक विद्वानों ने इसे दर्शन की अपेक्षा विज्ञान के रूप प्रतिपादित किया है अर्थात् ऐन्द्रिय संवेदना का विज्ञान जिसका लक्ष्य हैं -'सौन्दर्य'। प्रस्तुत पाठ के द्वारा सौन्दर्यशास्त्र का परिचय तथा नाट्य में उसके घटकों का महत्व प्रतिपादन किया जा रहा है।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप-

- सौन्दर्यशास्त्र का परिचय जानते हैं;
- नाट्य में सौन्दर्य के प्रमुख तत्त्वों के महत्व को जानते हैं; और
- नाट्य की विभिन्न विधाओं में सौन्दर्यात्मक एकात्मकता को जानते हैं।

टिप्पणी

4.1 सौन्दर्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय

वर्तमान युग से पूर्व भारतीय वांग्मय में सौन्दर्यशास्त्र का कोई भी साक्षात् प्रयोग अथवा व्यवस्थित ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता किन्तु आज इसे एक महत्वपूर्ण अवधारणा के रूप में देखा जा रहा है। लगभग 18वीं शताब्दी में पाश्चात्य वांग्मय के 'वाउम गार्टन' को इसके प्रतिपादक आचार्य के रूप में देखा जाता है। 1753 ईस्वी में 'ईस्थेटिका' नामक पुस्तक में इस अवधारणा की आधारशिला रखी गई। यद्यपि यह विचारधारा 1753 ईस्वी में प्रकाश में आयी किन्तु चिन्तन के आरम्भ से ही इसके बीज देखने को मिलते हैं जो पूर्वी और पाश्चात्य दोनों ही धाराओं में द्रष्टव्य हैं। पश्चिम में जहाँ प्लेटों (रिपब्लिक), अरस्तु (एथिका निक्रोमिका), कांट (क्रिटिक ऑफ जजमेन्ट), हीगल (फिलॉसफि ऑफ आर्ट) आदि विद्वान हैं। वहीं भारत में आचार्य भरत (नाट्यशास्त्र), आचार्य नन्दिकेश्वर (अभिनवदर्पण), महाकवि कालिदास, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, भट्तौत (काव्यकौतुक), आनन्दवर्धन (ध्वन्यालोक), अभिनवगुप्त (तन्त्रालोक लोचन, अभिनवभारती), कुन्तक (वक्रोक्तिजीवित), क्षेमेन्द्र (औचित्यविचारचर्चा), आचार्य वामन (काव्यालंकार सूत्र-'सौन्दर्यमलंकार') पण्डितराज जगन्नाथ (रसगंगाधर) जैसे विद्वानों के चिन्तन में सौन्दर्यदृष्टि पर्याप्त होती है। यद्यपि भारतीय चिन्तन में 'सौन्दर्य' पर व्यवस्थित शास्त्रीय चिन्तन उपलब्ध नहीं होता तथापि काव्य से 'आस्वाद' और 'सौन्दर्य' का अनिवार्य सम्बन्ध होने के कारण प्रकारान्तर से इन पर प्रकीर्ण एवं व्यवस्थित चर्चा उपलब्ध होती ही है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा सौन्दर्यशास्त्र की प्रामाणिक परिभाषाएँ प्रस्तुत की गयी। इस प्रकार, सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओं के रूप में अभिव्यक्त सौन्दर्य से संबद्ध मौलिक प्रश्नों के तात्त्विक विवेचन और उसे परिणामी सिद्धांतों की संहिता का नाम है।

आज विज्ञान का युग है। जीवन तकनीक एवं वैज्ञानिक उपकरणों के प्रयोग से मशीनीकृत हो गया है। व्यावसायिक अथवा व्यापारिक संपुष्टता ही एकमात्र जीवन का उद्देश्य परिलक्षित होता है। जिसके परिणामस्वरूप मानव भी उसी संरचना में सोचने लगा है, जैसे कि वैज्ञानिक उपकरण व्यवहार करते हैं। उनमें भावनाएँ, संवेदनाएँ, नैतिकता एवं जीवन-मूल्यों का अभाव सा होता जा रहा है। ऐसे में 'सौन्दर्य-विमर्श' जैसे विषय पर चर्चा करना नितान्त आवश्यक हो जाता है। इसकी पुष्टि भारतीय अथवा पाश्चात्य दोनों ही परम्परा से की जा सकती है। वास्तव में देखा जाए तो सौन्दर्य का परिणाम आनन्द ही होता है और जो आनंद है वो मांगलिक भी है। प्लेटों की दृष्टि में भी सुन्दर वहीं हैं, जो आनंदप्रद है और जो इच्छा तर्पक होते हुए भी परिणाम में अत्यन्त मांगलिक है। यहीं सम्भवत: भारतीय दृष्टि में "सत्यं-शिवं-सुन्दरम्" है।

पश्चिम में चाहे प्लेटो, अरस्तु, एक्वीनास हो या फिर लौंजाइनस काण्ट या फिर हीगल। सभी किसी न किसी रूप में सौन्दर्य को मानवीय संवेदना, नैतिकता, मानवीय भावना एवं जीवनमूल्य

से सम्बद्ध मानते हैं और भारतीय दृष्टि तो वैसे ही सौन्दर्य को आत्मनिष्ठ व्यापार के रूप में देखती है। यह बात और है कि 'सौन्दर्य' के भारतीय परम्परा में अनेक पर्याय परिलक्षित होते हैं, इसे कहीं लावण्य कहा गया है, कहीं रमणीयता, कहीं चमत्कार, तो कहीं अलौकिक आस्वाद। इस प्रकार सौन्दर्यशास्त्र की अवधारणा की मानव जीवन में आवश्यकता तथा पाश्चात्य एवं भारतीय वाङ्मय में इसकी महत्ता का प्रतिपादन किया गया है।

टिप्पणी

इसी शृंखला में सौन्दर्यशास्त्र की अवधारणा को समझने तथा इसकी स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करने हेतु इसे काव्यशास्त्र, तत्त्वमीमांसा या मनोविज्ञान का पर्याय नहीं माना जाना चाहिए। सर्वप्रथम काव्यशास्त्र का एक अंग जिसका सम्बन्ध रीति निरूपण से सौन्दर्यशास्त्र की परिधि में नहीं आता, दूसरे अंग को जिसमें मूल सिद्धान्तों का विवेचन रहता है, सौन्दर्यशास्त्र की एक शाखा ही माना जा सकता है क्योंकि उसकी सीमित परिधि केवल काव्य-सौन्दर्य अर्थात् शब्दार्थ के माध्यम से व्यक्त सौन्दर्य तक ही है। तत्त्वमीमांसा और मनोविज्ञान सौन्दर्यशास्त्र के साधनभूत अनुशासन हैं अर्थात् सौन्दर्यशास्त्र उक्त विचारधाराओं की विशेष पद्धतियों का उपयोग अपने प्रतिपाद्य विषय के स्वरूप, अनुभूति, अभिव्यक्ति आदि के विवेचन हेतु करता है। उपर्युक्त सभी शास्त्रों एवं मीमांसाओं में कलाशास्त्र सौन्दर्यशास्त्र के अत्यन्त निकट है क्योंकि सौन्दर्यशास्त्र की विषय-परिधि में भी ललित कलाओं के सौन्दर्य का ही विवेचन आता है, प्राकृतिक सौन्दर्य का ही नहीं। परन्तु कलाशास्त्र का क्षेत्र अधिक व्यापक होने से यह सौन्दर्यशास्त्र से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार सौन्दर्यशास्त्र की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है तथा इसके विभिन्न घटकों एवं तत्त्वों का अनुशीलन वर्तमान युग की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

सौन्दर्यशास्त्र के सम्बन्ध में पाश्चात्य वाङ्मय में व्याख्यान विवेचन आरम्भ से ही होता आया है और यह परम्परा निरन्तर चल रही है। प्लेटों के मतानुसार सौन्दर्य सृष्टि का मूल तत्त्व है और इसका साक्षात्कार ही तत्त्ववादियों का परम लक्ष्य है। उन्होंने इसे सत् का पर्याय तथा श्रेयस् से अभिन्न मानते हुए सौन्दर्य एवं प्रेम को एक ही तत्त्व के दो पक्षों के रूप में व्याख्यात किया है। इसके अतिरिक्त सौन्दर्य के कतिपय स्तर, तथा शारीरिक सौन्दर्य, मानसिक सौन्दर्य, नैतिक सौन्दर्य और शुद्ध बुद्धि का सौन्दर्य अथा प्रज्ञात्मक सौन्दर्य, भी पाश्चात्य विचारधारा के महत्वपूर्ण पक्ष रहे हैं।

आधुनिक युग में कांट और हीगेल ने भी सौन्दर्य को नवीन तर्कशास्त्र के आलोक तथा विज्ञान के आधार पर वर्णित किया गया हैं।

पाश्चात्य वाङ्मय में सौन्दर्यशास्त्र तथा सौन्दर्य की अनेक दृष्टियों के आधार पर व्याख्या की गयी है। इस विचारधारा के विद्वानों के मतानुसार सौन्दर्य वस्तु का गुण है और वह रूप-आकार में निहित रहता है। एक और हीगेल जैसे आत्मवादी व्याख्याकारों के लिए सौन्दर्य अथवा कला के आध्यात्मिक अर्थ ही व्याख्या करना ही सौन्दर्यशास्त्र का ध्येय है। उनके लिए सौन्दर्य परम सत्ता अथवा सृष्टि-विधान की पारमार्थिक एकता का प्रतीक है। वहीं रूपवादी इनके मत का खण्डन करते हुए सौन्दर्य को स्वयं से इतर किसी अपर तत्त्व का प्रतीत मानने में अस्वीकृति

टिप्पणी

दिखाई है। उन्होंने वस्तु के रूप आकार की रचना हेतु अनुक्रम, अनुपात, समन्विति, वर्ण-योजना आदि तत्त्वों को ही आवश्यक बताकर उन्हें सौन्दर्य के तत्त्व रूप में निरूपित किया गया है।

आधुनिक साहित्य में भी रूपवादी व्याख्याकारों के अनुसार जीवन की रसात्मक अनुभूतियों और प्रेरक विचारों की अभिव्यक्ति में काव्य अथवा कला की सार्थकता या सौन्दर्य नहीं अपितु कलाकृति की अपनी संरचना या रूप निर्मित ही उसका सौन्दर्य है।

भाववादी व्याख्या

सौन्दर्यशास्त्र के विचारकों में आत्मवादी तथा वस्तुवादी (रूपवादी) के अतिरिक्त भी एक अन्य श्रेणी है जो काम अथवा इच्छा को सौन्दर्य का प्राण-तत्त्व स्वीकार करते हैं। इनके मतानुसार सौन्दर्य भाव की अभिव्यक्ति है। इस व्याख्या में सौन्दर्य की सत्ता एक जैविक अभिवृत्ति अथवा रागात्मक अनुभूति के रूप में प्रतिपादित है। 19वीं सदी के जर्मन विद्वान फैख्नर द्वारा कांट और हीगेल के द्वारा प्रतिपादित सौन्दर्य के पारमार्थिक (आध्यात्मिक) स्वरूप का खण्डन करके लौकिक अनुभूति के रूप में सौन्दर्य का निवर्चन करते हुए सौन्दर्यशास्त्र की मनोवैज्ञानिक एवं प्रयोगात्मक दृष्टि को प्रस्तुत किया गया। मनोविश्लेषण शास्त्र के आचार्य फ्रॉयड, डार्विन, रिचड्र्स, ग्राण्ट एलेन इत्यादि द्वारा प्रस्तुत मतों एवं तर्कों के आधार पर सौन्दर्य का साक्षात् सम्बन्ध कामेच्छा अथवा रति-भावना से माना जा सकता है। इस प्रकार मनोविज्ञान, जीवविज्ञान, और मनोविश्लेषण शास्त्र आदि के प्रभाव से जीवन की वृत्ति काम अथवा राग की अभिव्यक्ति एवं परितृप्ति के रूप में सौन्दर्य को परिभाषित किया गया है। आदिकाल में अरस्तू, लोंजाइनस, दार्शनिकों में नीत्शे, स्पिनोजा और शोपनहॉवर तथा मानवतावादी साहित्यकारों में टॉलस्टाय आदि द्वारा सौन्दर्यशास्त्र के रागात्मक प्रभाव की महत्त्व प्रतिष्ठा की गयी है।

भारतीय वाङ्मय में सौन्दर्यशास्त्र

भारतीय वाङ्मय में 'सौन्दर्य' शब्द का प्रयोग अधिक प्राचीन नहीं है। वेदों में और मूल उपनिषदों में यह शब्द प्राप्त नहीं होता किन्तु सौन्दर्य की अवधारणा एवं उसके वाचक शब्दों एवं उक्तियों का अभाव भी नहीं रहा है। संस्कृत वाङ्मय में अमरकोश ग्रन्थ के अन्तर्गत सुन्दर शब्द के निम्नलिखित पर्याय उपलब्ध हैं- रूचिर, चारू, सुषम, साधु, शोभन, कान्त, मनोरम, रूच्य, मनोज्ञ, मंजु, दयित, वल्लभ, प्रिय, हृदय, अभीष्ट, अभीप्सित व्याप्ति। इसके अतिरिक्त संस्कृत काव्यों और काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में ललित, सुष्ठु, काम्य, कमनीय और रमणीय आदि शब्दावलियों के प्रयोग द्वारा सौन्दर्य का निरूपण किया गया है।

सर्वप्रथम वेदों में सुन्दर अथवा सौन्दर्य शब्दों की अनुपस्थिति होने पर भी इनके कतिपय पर्यायों का मुक्त प्रयोग किया गया है। प्रकृति के वैभव और जीवन के आनन्द से प्रेरित वैदिक ऋचाओं में रूप और रस का अपूर्व वर्णन है। ऋग्वेद में काव्य-तत्त्व तथा काव्यशास्त्र के विषय में विस्तृत वर्णन है जिसमें सौन्दर्य का वर्णन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। ध्यातव्य

है कि सौन्दर्य के विषय में विवेचन कहीं-कहीं संकेत रूप में ही मिलता है। वैदिक ऋषि अथवा कवि के अनुसार सौन्दर्य का स्वरूप मूलतः ऐन्द्रिय है। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में सौन्दर्यशास्त्र के कतिपय अंगों का सूत्रबद्ध किन्तु प्रभावपूर्ण विवेचन प्राप्त होता है, यथा-वाणी के सौन्दर्य का स्वरूप, सौन्दर्यानुभूति, प्रेरणा-स्त्रोत, प्रयोजन और सार्थकता, शब्द, अलंकार, छन्द, लय आदि उपकरण इत्यादि। वेदों में जहाँ कवि द्वारा सौन्दर्य के लौकिक और दिव्य, ऐन्द्रिय और आत्मिक दोनों रूपों की चर्चा की गयी वहीं औपनिषदिक वाङ्मय में चिन्तकों द्वारा आत्मा के सौन्दर्य के प्रति उन्मुखता परिलक्षित होती है।

उपनिषद् में आधारभूत सिद्धान्त है अद्वेत अर्थात् अनेकता में एकता और यही सामरस्य अथवा सामंजस्य सौन्दर्य के मूल लक्षण के रूप में दृष्टिगोचर होता है। यहाँ वस्तुतः सौन्दर्य का वर्णन प्रकाश और आनन्द के रूप में किया गया है। इसी श्रृंखला में रामायण रूप आर्षकाव्य पर विचार करें तो इसके एक काण्ड का नाम ही सुन्दरकाण्ड है, परन्तु सामान्यत काव्य के वर्णनों में सुन्दर अथवा सौन्दर्य विषयक विवेचन के लिए रमणीय, रम्य, शोभन, चारू, रूचिर आदि का प्रयोग प्रचुरता से देखा जाता है। रामायण में प्रायः समस्त ललित कलाओं का स्पष्टतः उल्लेख है, जैसे स्थापत्य कला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत एवं नृत्य कला आदि जो सौन्दर्यशास्त्रीय पक्षों के उद्घाटन में उपयोगी प्रतीत होते हैं। इस प्रकार से यहाँ प्राकृतिक सौन्दर्य को प्रधानता देने पर भी मानव-सौन्दर्य अथवा रूप तथा कलागत सौन्दर्य की भी प्रतिष्ठा की गयी है। महाकाव्य युग के दूसरे महान ग्रन्थ महाभारत में भी सौन्दर्यशास्त्रीय विषयों के उद्धरण प्राप्त होते हैं। महाभारत में काव्य-तत्त्व की अपेक्षा इतिहास-तत्त्व और सौन्दर्य-वर्णन की अपेक्षा वृत्त-वर्णन की प्रधानता होने पर भी सौन्दर्य-विषयक धारणा का स्वरूप सहज रूप से देखा जाता है- यहाँ सौन्दर्य वह तत्त्व है जो इन्द्रियों विशेषतः चक्षुरिन्द्रिय के माध्यम से चेतना का प्रसादन करता है। इसके अतिरिक्त महाकवि कालिदास की रचनाओं में कलात्मक सौन्दर्य के स्वरूप, सृजन-प्रक्रिया एवं आस्वादन आदि का मार्मिक विवेचन कर स्वयं को वस्तुतः सौन्दर्य के कवि के रूप में सर्वथा सिद्ध कर दिया है। बाणभट्ट के कादम्बरी एवं हर्षचरित में, भवभूति के उत्तररामचरित तथा अन्य कृतियों में मानवीय भावना सौन्दर्य काव्य सौन्दर्य, हृदय सौन्दर्य, प्राकृत सौन्दर्य आदि के द्वारा भारतीय साहित्य में सौन्दर्यशास्त्र के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन प्रत्येक युग एवं काल में देखा जाता है। पश्चिम में सौन्दर्यशास्त्र को दर्शन के एक अंग रूप में स्वीकार कर दार्शनिक चिंतकों द्वारा सौन्दर्य का अन्वेषण प्राचीनकाल से किया जा रहा है। यद्यपि भारतीय दर्शन के अन्तर्गत सौन्दर्य स्वतंत्र प्रतिपाद्य विषय नहीं रहा है किन्तु इसमें कतिपय स्फुट तथा अप्रत्यक्ष संकेत सौन्दर्य-विषयक विचार प्रस्तुत करते हैं। जैसे- योगदर्शन में प्रतिपादित 'प्रज्ञा' के स्वरूप को भारतीय सौन्दर्यशास्त्रीय विद्वानों द्वारा प्रतिभा के विवेचन में ग्रहण किया गया है। षड्दर्शन की अपेक्षा भारतीय सौन्दर्य-चिन्तन पर प्रत्यभिज्ञादर्शन अर्थात् काश्मीर शैवदर्शन का प्रभाव अधिक प्रत्यक्ष और व्यापक है। भारतीय कलादर्शन के सर्वाधिक प्रभावशाली आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा सौन्दर्यशास्त्र तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धान्त परस्पर व्याख्यात किये गए हैं। इस प्रकार भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का अन्य तथा विकसित स्वरूप काव्यशास्त्र में भी दिखाई देता है। यद्यपि यहाँ सौन्दर्यशास्त्र की

एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठा नहीं हुई फिर भी उसके मूल तत्त्वों और विविध पक्षों और अंगों का विवेचन विश्लेषण अत्यन्त सूक्ष्मतम स्तर पर किया गया है। प्रस्तुत प्रसंग में सौन्दर्यशास्त्र की पश्चिम एवं भारतीय दोनों विचारधाराओं का समन्वित परिचय प्रस्तुत किया गया है।

पाठगत प्रश्न 4.1

1. सौन्दर्यशास्त्र के प्रतिपादक आचार्य कौन माने जाते हैं?
2. सौन्दर्यशास्त्र की आधारशिला किस पुस्तक में रखी गई?
3. प्लेटों की दृष्टि में सुन्दर क्या हैं?
4. कौनसा शास्त्र सौन्दर्यशास्त्र के अत्यन्त निकटवर्ती माना गया हैं?
5. पाश्चात्य में सौन्दर्य की कितनी प्रकार की व्याख्याएँ की गयी हैं?
6. भाववादी व्याख्याकारों में किसको सौन्दर्य का प्राणतत्त्व माना हैं?
7. अमरकोष में वर्णित सुन्दर शब्द के क्या पर्याय हैं?
8. वैदिक तथा औषनिषदिक कवियों द्वारा सौन्दर्य की कैसी चर्चा की गयी हैं?
9. रामायण में किन कलाओं के उद्धरण प्राप्त होते हैं?
10. भारतीय साहित्य में सौन्दर्य के कवि रूप में कौन स्थापित हैं?

4.2 नाट्य में सौन्दर्य के प्रमुख तत्त्व

सौन्दर्य शब्द के पर्याय 'सुन्दर' का शब्दार्थ है- नयनों को सिक्त कर देने वाला अर्थात् सुख देने वाला। सौन्दर्यशास्त्र समस्त कलाओं का अध्ययन प्रस्तुत करता है। संगीत, साहित्य, नाटक, नाटक, नृत्य, चित्रपट, चित्रकला, मूर्त्तिकला, भू-दृश्य-रूपरेखा आदि सभी सौन्दर्यशास्त्र के विषय हैं। ध्यात्वय है कि समस्त कलाओं में काव्य का उत्कृष्टतम रूप नाट्य है। इस कारण भारतीय परम्परा में स्वतन्त्र कलाओं की समस्याओं का दार्शनिक अध्ययन प्रधानतः नाट्यकला के सम्बन्ध में हुआ है। संगीत, नृत्य और चित्रकलाएँ नाट्यकला की सहयोगिनी कलाएँ हैं। कलाकृति जीवन की जिन विविध दशाओं और रूपों को प्रकट करती हैं, उनका प्रदर्शन नाटक में सर्वोत्कृष्ट रूप में होता है, क्योंकि नाट्य प्रधान रूप से नेत्रों और कर्णों के लिए रूचिकर होता है जो रसानुभूति के लिए सर्वोपयुक्त इन्द्रियाँ हैं। नाट्य में काव्य तथा अन्य कलाओं का

उपयोग सहायक रूप में किया जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि भारतीय काव्यशास्त्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग नाट्य हैं जिसमें प्रायः समस्त ललित कलाओं का किसी न किसी रूप में उपयोग हो जाता है। वास्तव में भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का स्वरूप और विकास नाट्यकला के स्वरूप और विकास के रूप में देखा जा सकता हैं।

भारतीय साहित्य, साहित्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र आदि में सौन्दर्य का विशेष महत्व रहा है और उसकी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में विशेष चर्चा होती रही है। नाट्यशास्त्र अथवा नाट्य विधा में संस्कृत कवियों द्वारा सौन्दर्य-वर्णन तो उनके गौरव के अनुरूप अत्यन्त समृद्ध एवं परिष्कृत है ही, उनका सौन्दर्य-विवेचन भी अत्यन्त गम्भीर एवं मार्मिक है। इनमें मूर्धन्य हैं महाकवि कालिदास जो मूलतः सौन्दर्य के कवि हैं। उन्होंने कतिपय स्थानों पर कलात्मक सौन्दर्य के स्वरूप, सृजन-प्रक्रिया एवं आस्वादन आदि का मार्मिक विवेचन किया है। सौन्दर्य का आकर्षण वास्तव में नैसर्गिक ही होता है। वह अलंकार पर निर्भर नहीं करता। कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि में मानसी कल्पना का प्राधान्य रहता है। इस तथ्य को कालिदास ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अपनी नाट्य-कृति अभिज्ञानशाकुन्तलम् में व्यक्त किया गया है। उनके काव्य में चित्र, मूर्ति आदि कलाओं के विषय में प्रचुर संकेत मिलते हैं। सौन्दर्य का सम्बन्ध रचना की अपेक्षा व्यंजना पर अधिक निर्भर करता है- कलादर्शन के इस रहस्य का कालिदास में अत्यन्त निपुणता से अपने नाट्य में प्रकाशन किया है। कालिदास के अतिरिक्त भवभूति में भी अपनी रचनाओं में सौन्दर्यशास्त्रीय पक्षों का उद्घाटन किया है। वह मूलतः भावना के नाट्यकार हैं। उनके द्वारा अंकित भौतिक सौन्दर्य के चित्र भव्य हैं; किन्तु उनकी प्रतिभा वास्तविक रूप में भाव-सौन्दर्य के अंकन में ही अधिक रमणीय प्रतीत होती हैं।

करूणरस के महत्व के विषय में उनका यह प्रसिद्ध उद्धरण **एको रसः करूण एवं** वस्तुतः हृदय-सौन्दर्य अथवा भाव-सौन्दर्य का ही कीर्तन है। इसका वास्तविक अर्थ यही है कि मानवीय भावना रस अर्थात् काव्य सौन्दर्य का मूल-आधार है।

सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय के महाकवियों ने अपने काव्यों तथा नाट्यों में सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्वों तथा सौन्दर्य-विषयक घटकों का संकेत प्रचुरता से प्रस्तुत किया है। नाट्यकारों के अतिरिक्त काव्यकारों में बाणभट्ट द्वारा भी अपनी कृतियों में विविध वर्णो से परिपूर्ण चित्रों का अपूर्व संकलन किया गया है। कादम्बरी और हर्षचरित जैसे ग्रन्थों में चित्रों के विविध भेदों, रचना-प्रक्रिया आदि के विषय में अनेक उल्लेख मिलते हैं जो सौन्दर्यशास्त्र के कलाविषयक तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। माघ द्वारा भी सौन्दर्य को चिर नवीन आकर्षण में पर्याय रूप में व्याख्यात किया गया है- **क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।** उनकी यह सूक्ति वर्तमानयुग में भी सौन्दर्य के लक्षण-रूप में प्रचलित है। इस प्रकार कतिपय नाट्यकारों तथा महाकवियों के उदाहरणों द्वारा नाट्य में सौन्दर्य के विविध तत्त्व एवं घटकों के समावेश को प्रस्तुत किया गया है। भारतीय काव्यपरम्परा में सौन्दर्य-विषयक रचनाओं के लिए प्राचीन कवियों में कालिदास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष, भवभूति इत्यादि मधुसूदन सरस्वती, हिन्दी कवियों

टिप्पणी

में गोस्वामी तुलसीदास, बिहारी, आधुनिक चिंतकों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत आदि के द्वारा सौन्दर्य के रहस्यात्मक किन्तु मोहक एवं हृदयावर्जक पक्षों का निरूपण किया गया है। इसी श्रृंखला में नाट्य के अन्तर्गत समाविष्ट कतिपय तत्त्वों पर विचार किया जाना आवश्यक है।

रस-तत्त्व

रस 'सौन्दर्यशास्त्र' का विशिष्ट भारतीय प्रमेय है। जिस प्रकार पाश्चात्य कला-चिन्तन की केन्द्रीय संकल्पना 'सौन्दर्य' है, जापान का कला-चिन्तन 'यूगेन' पर केन्द्रित है तथा चीनी कला-चिन्तन की मुख्य अवधारणा ध्वनि-बोधक है, उसी प्रकार भारतीय कला-चिन्तन का अपना विशिष्ट अन्वेषण रस है। काव्यानुभूति अथवा नाट्यानुभूति को संस्कृत वाङ्मय में 'रस' संज्ञा से अभिहित किया गया है।

आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा रस के स्वरूप-बोधक विशेषताओं का उल्लेख नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती टीका में किया गया है - चमत्कार, रसन, आस्वादन, भोग, लय, विश्रान्ति, समापत्ति आदि। इसके अतिरिक्त आचार्य विश्वनाथ द्वारा साहित्यदर्पण में रस का सत्वोद्रेक, अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, ब्रह्मस्वाद-सहोदर, लोकोत्तर, चमत्कार-प्राण, स्वाकारवत् अभिन्न, आस्वाद रूप आदि विशेषणों द्वारा निरूपिण किया गया है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में सर्वप्रथम काव्यशास्त्रीय रस-सिद्धान्त का सूत्रपात हुआ। यह एक व्यापक सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणा है जिसकी व्यापकता सम्पूर्ण काव्यशास्त्र में देखी जाती है। रस के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए नाट्यशास्त्र में वर्णित है कि रस के बिना कोई अर्थ प्रवर्तित हो ही नहीं सकता अर्थात् रस ही नाट्य का सारभूत तत्त्व है जिसको परवर्ती आचार्यो द्वारा काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया। भरत मुनि के अनुसार जिस प्रकार नाना व्यंजनों, औषधियों और द्रव्यों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है अथवा जिस प्रकार द्रव्यों, औषधि यों या व्यंजनों में छः प्रकार के रस उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार कवि के हृदयगत स्थायीभाव विभिन्न प्रकार के भावों अर्थात् विभाव, अनुभाव, व्याभिचारिभाव के रूप को प्राप्त होने पर रसत्व को प्राप्त होते हैं। नाट्यशास्त्र के अर्न्तगत आठ रसों का उल्लेख किया गया है - श्रृंगार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत। कालान्तर में अभिनवगुप्त आदि आचार्यो द्वारा शान्त को नौवें रस के रूप में सम्मिलित कर लिया गया। उनके मतानुसार रस का सम्बन्ध मानव जीवन के अन्तिम उनके मतानुसार रस का सम्बन्ध मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष से हैं क्योंकि सभी प्रकार के काव्य (नाट्य) का आस्वादन अलौकिक है और ब्रह्मस्वाद के सदृश है, अतः शान्त रस को ही मूल रस मानना चाहिए। नाट्य का प्राणतत्त्व रस सौन्दर्यशास्त्र का भी प्रमुख तत्त्व है। वस्तुतः रस और सौन्दर्य एक दूसरे के पूरक हैं तथा नाट्य में रस की निष्पत्ति अथवा आस्वादन सौन्दर्य का चरम लक्ष्य माना जाता है। भारतीय नाट्य-परम्परा में नाटकों के अन्तर्गत एक अंगी अर्थात् प्रधान रस तथा अन्य गौण रस होते हैं जिसकी निष्पत्ति नाट्य के सौन्दर्य का चरमोत्कर्ष रूप होती है। यथा- अभिज्ञानशाकुन्तल नाट्य

टिप्पणी

में कालिदास द्वारा श्रृंगार रस की प्रधानता निरूपित कर सौन्दर्यानुभूति एवं रसास्वादन का महानतम् उद्धरण प्रस्तुत किया गया है जो वर्तमानकालिक पाठकों एवं सहृदयों पर भी प्रभावशाली छाप अंकित करता दिखाई देता है।

भाव तत्त्व

कलाओं में भारतीय विद्वानों के लिए नाट्य ही मापदण्ड या कसौटी रही है तथा नाट्य-मंचन में रस-तत्त्व ही केन्द्र-बिन्दु रहा है। इसकी प्रक्रिया का आधारभूत तत्त्व है- भाव। भरतमुनि द्वारा रसों की व्याख्या भावों द्वारा की गयी जिनमें विभाव, अनुभाव, व्याभिचारी भाव तथा सात्त्विक भाव प्रमुख हैं। भाव शब्द भू धातू से निष्पन्न है जो होने अथवा घटित होने के अर्थ में प्रयोग होता है। भरत के रससूत्र के अनुसार विभाव, अनुभाव और व्याभिचारीभाव के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है; अतः इन भावों को पृथक स्पष्टीकरण द्वारा समझना आवश्यक है।

(i) **विभाव**- जिनके द्वारा शारीरिक, वाचिक एवं सात्त्विक अभिनयों का विभावन होता है (अर्थात् ज्ञान होता है), वह विभाव हैं। यह दो प्रकार के होते हैं -

क **आलम्बन विभाव** - नायक, नायिका आदि पात्र आलम्बन विभाव कहलाते हैं क्योंकि उनके आलम्बन से ही रस का उद्‌भव होता है।

ख **उद्दीपन विभाव** - स्थायीभाव के उद्दीपक विभावों को उद्दीपन विभाव कहा जाता है। जैसे- चन्द्रोदय, उत्थान, वस्त्राभूषण, ऋतु, वन आदि।

आलम्बन विभाव से स्थायी भाव उद्‌बुद्ध होते हैं तथा उद्दीपन विभाव से उद्दीप्त होते हैं जो रस की निष्पत्ति में अनुकारक हैं।

(ii) **अनुभाव**- जिस प्रकार कारण के पीछे कार्य होता है, उसी प्रकार विभाव के पीछे अनुभाव होता हैं। कारण रूप विभावों से उद्‌बुद्ध रति आदि स्थायी भावों को प्रकाशित करने वाले कार्य नाट्य में अनुभाव कहलाते हैं। जैसे - कटाक्ष, भुजाक्षेप, रोमांच, कम्पन, अश्रु, मूर्छा आदि शारीरिक चेष्टाएँ एवं मानसिक विकार।

(iii) **व्याभिचारी भाव**- ये स्थिर न रहने वाली चित्तवृत्तियाँ हैं। व्यभिचारी भाव विभाव और अनुभाव की अपेक्षा विभिन्न रसों में अनुकूल होकर विचरण करते हैं, अतः इन्हें संचारीभाव भी कहा जाता है। एक रस में अनेक व्याभिचारी भावों की तथा व्याभिचारी भाव में अनेक रसों की स्थिति हो सकती है। व्यभिचारी भावों की संख्या 33 कहीं गई है- निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, लज्जा, चंचलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, उत्सुकता, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, विबोध (जागरण), अमर्ष, नति, उग्रता, अवहित्थ, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क।

टिप्पणी

(iv) सात्त्विक भाव- सात्त्विक भाव को शारीरिक संवेदन माना जा सकता है। 'सात्त्विक' शब्द का अर्थ हैं वह जिसका अस्तित्त्व है, अर्थात् वास्तविक जगत् से सम्बद्ध। इनकी संख्या आठ हैं- स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय। भरतमुनि द्वारा आठ की संख्या में वर्गीकृत में सात्त्विक भाव परस्परानुप्रवेशी प्रतीत होते हैं।

(v) स्थायीभाव- मनुष्य अपने दैनिक जीवन में जो कुछ देखता है, सुनता है और अनुभव करता है, उसका संस्कार मन पर स्थिर हो जाता है। इस संस्कार को दार्शनिक शब्दावली में वासना भी कहते हैं। यह वासना रूप संस्कार ही स्थायीभाव कहलाते हैं। ये स्थायीभाव आधुनिक मनोविज्ञान में वर्णित वेगों के समान हैं। सभी प्राणियों में प्रेम आदि की प्रवृत्तियाँ विद्यमान होती हैं जो विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न स्तर पर होती है। सर्वप्रथम आचार्य भरत द्वारा आठ रसों के अनुसार आठ स्थायीभाव सुनिश्चित किये गए। कालान्तर में स्थायीभावों की संख्या रसों के आधार पर नौ सुनिश्चित कर दी गई जो हैं भय, क्रोध, जुगुप्सा, उत्साह, निर्वेद, रति, हास, विस्मय और शोक। ये स्थायीभाव नाट्य में ही नहीं मनुष्य के हृदयों में चित्तवृत्तियों के रूप में दीर्घकाल तक स्थिर रहते हैं।

इस प्रकार विभाव, अनुभाव, व्याभिचारीभाव तथा स्थायीभाव के परम्पर संयोजन से रस की निष्पत्ति होती है। नाट्य प्रस्तुति में कतिपय भाव अभिनेताओं के अन्दर पूर्णतः विद्यमान होते हैं तथा कुछ का प्रस्तुतीकरण मंच पर किया जाता है जिसके फलस्वरूप सौन्दर्य के पर्याय रस का आस्वादन सम्भव हो पाता है।

कला तत्त्व

सौन्दर्यशास्त्र कला-विषयक शास्त्र रहा है। समस्त ललित कलाओं का सम्बन्ध सौन्दर्य-तत्त्व तथा सौन्दर्यानुभूति से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से माना जा सकता है। इन कलाओं में वास्तुकला (स्थापत्य कला), चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्यकला, संगीतकला, काव्यकला अथवा नाट्यकला को महत्वपूर्ण रूप से परिगणित किया गया है।

नाट्य एक ऐसी सर्वोत्कृष्ट विधा है जिसमें समस्त ललित कलाओं का समावेश कर लिया जाता है। नाट्य-प्रस्तुति में कलाओं के प्रस्तुतिकरण तथा मंचन द्वारा सौन्दर्य तत्व का प्रकाशन स्पष्ट रूप से दर्शनीय है। अतः कला एवं इसके विविध पक्षों को नाट्य में सौन्दर्य के प्रमुख तत्त्वों के रूप में परिगणित कर लेना युक्तिसंगत प्रतीत होता हैं। उदाहरण- भास कृत स्वप्नवासदत्ता नामक नाट्य में चित्रकला तथा संगीतकला के उत्कृष्ट प्रणयन से नाट्य के सौन्दर्य की वृद्धि तथा रसानुभूति रूप फल-प्राप्ति सुनिश्चित होती है। इस प्रकार नाट्य तथा नाट्य में विद्यमान सौन्दर्य विषयक तत्त्वों में कला एक अनिवार्य अंग रूप में विधित माना जाना चाहिए।

टिप्पणी

उपर्युक्त तत्त्वों के अतिरिक्त अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि कतिपय ऐसे तत्त्व हैं जो नाट्य में सौन्दर्य-वृद्धि के महत्वपूर्ण हेतु के रूप में देखे जा सकते हैं। नाट्य-परम्परा में नाटकों में निहित सौन्दर्य तत्त्व ही अन्ततः आनन्द रूप परम फल की प्राप्ति का साधन रूप परिलक्षित होता है।

4.3 नाट्य की विभिन्न विधाओं में सौन्दर्यात्मक एकात्मकता

भारतीय परम्परा के अन्तर्गत भरतप्रणीत नाट्यशास्त्र नाट्य एवं सौन्दर्यशास्त्र के विषय पर रचित प्रथम सुनियोजित एवं उपलब्ध ग्रन्थ है। नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत नाट्य ही नहीं सभी प्रमुख ललित कलाओं यथा काव्य, नृत्य, संगीत, वाद्य आदि तथा उनके महत्वपूर्ण घटकों का समाहार किया गया है। काव्य की दृश्यविधा का सर्वोत्कृष्ट रूप नाट्य अथवा रूपक माना गया है। नाट्य एक ऐसी कला है जिसमें अन्य ललित एवं उपयोगी कलाओं का भी समावेश होता है। यह मौलिक रूप में उच्चतम साहित्य है जो काव्य में सबसे रम्य एवं प्रभावशाली होता है। यह मानव-जीवन के प्रतिबिम्ब को निर्मित करने के कारण विशिष्ट साहित्यिक रूप ही नहीं विशिष्ट काव्यात्मक वृत्ति भी है।

भारतीय वाङ्मय में नाट्य (रूपक) की मुख्यतः दस विधाओं का वर्णन किया गया है। रूपक के दस भेद निम्नलिखित हैं- नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, ईहामृग तथा अंक। इन भेदों में नाटक तथा प्रकरण ही मुख्य माने जाते हैं क्योंकि कथानक का विकास इनमें पंचसन्धियों तथा अन्य नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों द्वारा होता है। भाण, वीथी, प्रहसन, अंक इत्यादि रूपक के लाुतम भेद हैं तथा अभिनय की दृष्टि से अत्यन्त सुविधाजनक हैं। रूपकों के मुख्य उपादान तीन हैं- कथावस्तु, नायक और रस (वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः -दशरूपक 1/11) इसके अतिरिक्त अट्ठारह उपरूपकों का भी वर्णन परवर्ती आचार्यों द्वारा किया गया है। रूपकों से भिन्न उपरूपकों में रस की प्रधानता न होकर भाव, ताल या लय की प्रधानता परिलक्षित होती है।

वस्तुतः भारतीय नाट्यविधाओं में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सौन्दर्यशास्त्रीय तत्त्वों यथा रस तत्त्व, भाव, ताल-लय इत्यादि की एकात्मकता प्रारम्भ से विद्यमान रही है। सौन्दर्य का परिणाम तो आनन्द ही होता है और जो आनन्द है, वहीं मांगलिक भी है। इस प्रकार नाट्य-विधाओं पर विहंगम दृष्टि डालकर पाठकों द्वारा यह अनुशीलन किया जाना आवश्यक है कि भारतीय नाट्य की विभिन्न विधाओं का चरम परिणति रस-तत्त्व तथा रसानुभूति ही है। नाट्य ही नहीं समस्त काव्य-परम्परा का परम लक्ष्य रस-निष्पत्ति ही माना गया है जिसे आचार्य भरत तथा परवर्ती मनीषियों के द्वारा ब्रह्मानन्द-सहोदर (सदृश) के पर्याय रूप में व्याख्यात किया गया है। नाट्य विधाओं में नाटक, प्रकरण इत्यादि समस्त रूपक भेद रस-तत्त्व के परमोन्मेष हेतु ही अभिनीत किये जाते हैं तथा यही भारतीय नाट्य परम्परा की सौन्दर्यात्मक एकात्मता की परिणति है।

पाठगत प्रश्न 4.2

1. कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि में क्या प्रधान है?
2. भवभूति सौन्दर्य के किस पक्ष पर बल देते प्रतीत होते हैं।
3. हिन्दी भाषा के किन कवियों द्वारा अपनी कृतियों में सौन्दर्यशास्त्रीय वर्णन किया गया हैं?
4. आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा रस तत्त्व की किन विशेषताओं का उल्लेख अभिनवभारती में किया गया हैं?
5. सर्वप्रथम-रस-सिद्धान्त का सूत्रपात किस ग्रन्थ में प्राप्त होता हैं?
6. रस कितने हैं? नामोल्लेख करें।
7. विभाव किसे कहते हैं?
8. स्थायीभावों की संख्या कितनी हैं?

आपने क्या सीखा

- ऐस्थेटिक्स शब्द यूनानी भाषा से लिया गया है जिसका अर्थ हैं- ऐन्द्रिय संवेदना का शास्त्र।
- 18वीं शताब्दी के जर्मन विद्वान वाउम गार्टन को सौन्दर्यशास्त्र की अवधारणा का प्रतिपादक आचार्य के रूप में देखा जा सकता है।
- 1753 ईस्वी में 'ईस्थेटिका' नामक पुस्तक में सौन्दर्यशास्त्र की आधारशिला रखी गई।
- पश्चिम के अनेक विद्वान, जैसे-प्लेटों, अरस्तू, काण्ट, हीगल आदि द्वारा सौन्दर्य पर विशद् विवेचन किया गया है।
- वहीं भारत में आचार्य भरत, नन्दिकेश्वर, कालिदास, भट्टतौत, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र, कुन्तक, वामन, पण्डितराज, जगन्नाथ आदि विद्वानों के चिन्तन में सौन्दर्यदृष्टि पर्याप्त रही है।

- भारतीय परम्परा में सौन्दर्य के अनेक पर्याय परिलक्षित होते हैं - लावण्य, रमणीयता, चमत्कार, अलौकिक, आस्वाद इत्यादि।
- सौन्दर्यशास्त्र कलाशास्त्र, काव्यशास्त्र, तत्त्वमीमांसा या मनोविज्ञान का पर्याय न होकर एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में निरन्तर विकसित हो रहा है।
- पाश्चात्य विद्वानों द्वारा सौन्दर्य की आत्मवादी (आध्यात्मवादी), वस्तुवादी (रूपगत), भाववादी, प्राकृतवादी व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं।
- भारतीय वाङ्मय में यद्यपि सौन्दर्य की स्थिति आदिकाल से स्वतन्त्र रूप से नहीं दिखती किन्तु इसके पर्याय सम्बन्धी विश्लेषण प्राप्त होते हैं।
- अमरकोश ग्रन्थ में सुन्दर शब्द के निम्नलिखित पर्याय हैं- रूचिर, चारू, सुषम, साधु, शोभन, कान्त, मनोरम, रूच्य, मनोज्ञ, मंजू, दयित, वल्लभ, प्रिय, हृदय, अभीष्ट, अभीप्सित इत्यादि।
- कालिदास को सौन्दर्य का कवि माना गया है।
- भवभूति की रचनाओं में भाव-सौन्दर्य का उत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है।
- नाट्य विद्या में सौन्दर्य के प्रमुख तत्त्व हैं- रस, भाव, कला, अलंकार, रीति, ध्वनि आदि।
- सौन्दर्य का परम लक्ष्य आनन्द प्राप्ति ही माना जा सकता है।

पाठान्त प्रश्न

1. नाट्य में सौंदर्य के प्रमुख तत्वों का विवेचन कीजिए।
2. भाव तत्व पर लघु टिप्पणी लिखिए।
3. सौंदर्यशास्त्र में रस तत्व के महत्व पर प्रकाश डालिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

4.1

1. लगभग 18वीं शताब्दी में पश्चिमी वाङ्मय के वाउम गार्टन सौन्दर्यशास्त्र के प्रतिपादक आचार्य के रूप में देखे जाते हैं।

टिप्पणी

2. 1753 ईस्वी में ईस्थेटिका नामक पुस्तक में

3. प्लेटों के अनुसार सुन्दर वहीं है जो आनन्दप्रद हैं और जो इच्छापूर्वक होते हुए भी परिणाम में अत्यन्त मांगलिक हैं।

4. कलाशास्त्र

5. पाश्चात्य वाङ्मय में सौन्दर्य की आत्मवादी (आध्यात्मिक), वस्तुवादी (रूपवादी), भाववादी इत्यादि व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं।

6. भाववादी व्याख्याकारों ने काम अथवा इच्छा को सौन्दर्य का प्राण-तत्त्व माना हैं।

7. रूचिर, चारू, सुषम, साधु, शोभनम्, कान्त, मनोरम, रूच्य, मनोज्ञ, मंजु, दयित, वल्लभ, प्रिय, हृदय, अभीष्ट, अभीप्सित इत्यादि।

8. वेदों में जहाँ कवि द्वारा सौन्दर्य के लौकिक और दिव्य, ऐन्द्रिय और आत्मिक दोनों रूपों की चर्चा की गयी हैं वहीं औपनिषदिक कवि द्वारा आत्मा के सौन्दर्य के प्रति उन्मुखता दिखाई गयी हैं।

9. रामायण में स्थापत्य कला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला, नृत्यकला आदि के उद्धरण प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं।

4.2 महाकवि कालिदास

1. कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि में मानसी कल्पना प्रधान है।

2. भवभूति भाव-सौन्दर्य के उत्कृष्ट नाट्यकार हैं।

3. गोस्वामी तुलसीदास तथा बिहारी हिन्दी साहित्य के वे रचनाकार हैं जिन्होंने सौन्दर्यशास्त्रीय वर्णन किया है।

4. अभिनवगुप्त द्वारा रस के स्वरूप-बोधक विशेषताओं का उल्लेख अभिनवभारती में किया गया हैं- चमत्कार, रसन, आस्वादन, भोग, लय, विश्रान्ति, समापत्ति आदि।

5. नाट्यशास्त्र (भरतमुनिकृत)

6. रस नौ हैं- श्रृंगार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत एवं शान्त।

7. जिनके द्वारा शारीरिक, वाचिक और सात्त्विक अभिनयों का ज्ञान होता है, वे विभाव कहलाते हैं।

8. स्थायीभाव रसों के अनुसार नौ हैं- भय, क्रोध, जुगुप्सा, उत्साह, निर्वेद, रति, हास, विस्मय और शोक।

मॉड्यूल-2

नाट्य के प्रमुख अंग

इस मॉड्यूल में नाट्य के प्रमुख तत्त्वों-कथावस्तु, पात्र, रस तथा रंगमंच का सामान्य परिचय देकर शिक्षार्थियों में नाट्य विषय के प्रति ज्ञान वृद्धि का प्रयास किया गया है।

5. कथावस्तु परिचय

6. पात्र-योजना

7. अभिनय परिचय

टिप्पणी

5

कथावस्तु परिचय

प्रिय शिक्षार्थी पूर्व पाठ में हमने नाट्य के सौंदर्यशास्त्र के विषय में जाना। किसी नाट्य की कथावस्तु उसका मूल्य होती है। इसलिए इस पाठ में हम कथावस्तु का सामान्य परिचय, कथावस्तु के मुख्य भेद, अर्थ प्रकृतियां, पांच कार्य अवस्थाएं, पांच संधियां तथा नाट्यधर्म की दृष्टि से कथावस्तु के भेदों पर विस्तार से चर्चा करेंगे। क्योंकि कथावस्तु को विस्तार से जाने बिना नाट्य को पूर्ण रूप से समझना दुरुह है।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ के पढ़ने के उपरांत आप-

- नाट्य के अंग- 'कथावस्तु' का सामान्य परिचय जानते हैं;
- कथावस्तु के भेदों को उदाहरण सहित जानते हैं;
- कथावस्तु में अर्थ प्रकृतियों को जानते हैं;
- कथावस्तु की पांच अवस्थाओं को जानते हैं;
- नाट्य में सन्ध्यंगों को जानते हैं; और
- नाट्य धर्म की दृष्टि से कथावस्तु के भेदों को जानते हैं।

5.1 कथावस्तु का सामान्य परिचय

नाट्य के कथानक को कथावस्तु कहते हैं। यह कथानक तीन प्रकार का होता है प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र। पौराणिक अथवा ऐतिहासिक कथानक को प्रख्यात, काल्पनिक कथानक को

उत्पाद्य और इन दोनों के मिश्रित रूप को मिश्र कथानक कहते हैं। नाटक के विकास की दृष्टि से उसकी कथावस्तु को दो रूपों में बाँटा जा सकता है- आधिकारिक और प्रासंगिक।

आरम्भ से अन्त तक चलने वाली कथा को आधिकारिक और इस कथा के विकास में सहायक प्रसंगवश चलने वाली कथा को प्रासंगिक कथावस्तु कहते हैं। नाटक की कथावस्तु यथा सम्भव यथार्थ, संक्षिप्त और स्पष्ट होनी चाहिए। नाटक कथावस्तु यदि कल्पना से गढ़ी जाए तो भी वह इतनी यथार्थ होनी चाहिए कि पाठक उसको समाज की एक घटना के रूप में स्वीकार करे। नाटककार की सफलता इस बात में निहित होती है कि वह कथानक को कम-से-कम विस्तार दे और उसे अधिक से अधिक स्पष्ट करे।

दशरूपककार धनंजय ने नाट्य का स्वरूप बतलाते हुए कहा है: **अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्** अर्थात् अवस्था का अनुकरण नाट्य कहलाता है। काव्य में वर्णित नायक की धीरोदात्त आदि अवस्थाओं का अनुकरण अर्थात् चार प्रकार के अभिनय - आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक के द्वारा एकरूपता प्राप्त कर लेना ही नाट्य कहलाता है।

इतिहास प्रसिद्ध नायक की विभिन्न अवस्थाओं का अनुकरण जब नट के द्वारा किया जाता है तो वह कर्म नाट्य कहलाता है। किसी काव्य आदि के पात्रों का ही अभिनय किया जाता है, इसलिए वह काव्य नाट्य कहलाता है। यतोहि नाट्य को देखा जाता है इसलिए उसे दृश्य भी कहते हैं। दिखाई दिये जाने के कारण उन्हें रूप भी कहा जाता है। इतिहास प्रसिद्ध पात्र का नट आदि में उसके रूप का आरोप किया जाता है इसलिए उसे रूपक कहते हैं।

धनंजय ने रूपक की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है: 'रुप्यते दृश्यते इति।' राम आदि के रूप का नट में आरोप करना ही रूपक शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है।

रूपक के दो भेद हैं: 1. शुद्ध रूपक, 2. संकीर्ण रूपक। धनंजय के अनुसार वस्तु, नेता और रस के आधार पर एक दूसरे से भिन्न स्वरूप वाले दस ही रूपक हैं। ये रूपक के शुद्ध भेद हैं। जिसमें इन रूपकों में से दो या तीन के कतिपय लक्षणों का मिश्रण जिस रूपक में पाया जाता है वह संकीर्ण रूपक कहलाता है। इस प्रकार धनञ्जय का अभिप्राय यह है कि रस पर आश्रित होने वाले अभिनय रूपक कहलाते हैं। ये शुद्ध रूपक 10 प्रकार के होते हैं। इन दस रूपकों में भिन्न-भिन्न रसों का आश्रय लिया जाता है।

पाठगत प्रश्न 5.1

1. नाट्य का कथानक कितने प्रकार का होता है?

(क) 2 (ख) 5

(ग) 3 (घ) 4

टिप्पणी

2. आधिकारिक एवं प्रासंगिक भेद किस नाट्य के अंग के हैं?

(क) वस्तु (ख) नेता

(ग) रस (घ) इनमें से कोई नहीं

3. अवस्था का अनुकरण करना कहलाता है?

(क) नाटक (ख) नाट्य

(ग) भाव (घ) रस

5.2 कथावस्तु प्रकार भेद

नाट्य में कथावस्तु के प्रकार का वर्णन करते हुए आचार्य धनञ्जय कहते हैं कि **'वस्तु च द्विधा'** अर्थात् नाट्य में कथावस्तु दो प्रकार की होती है। प्रस्तुत अंश में रूपक के भेदों में से प्रथम भेद वस्तु का वर्णन किया गया है।

रूपक के मुख्य रूप से तीन भेद हैं: वस्तु, नेता और रस। इन्हीं के आधारों पर रूपक भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। इनमें से वस्तु दो प्रकार की होती हैं : (i) आधिकारिक कथावस्तु, (ii) प्रासंगिक कथावस्तु।

(i) आधिकारिक कथावस्तु-

अधिकारः फलस्वाम्यधिकारी च तत्प्रभुः।
तन्निर्वृत्यमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम्॥

अर्थात् अधिकार का अर्थ है फल का स्वामी होना। उस फल का स्वामी अधिकारी कहलाता है। उस अधिकारी के द्वारा किया हुआ या उससे सम्बद्ध काव्य में अभिव्याप्त इतिवृत्त आधि कारिक कहलाता है। यह इतिवृत्त या कथावस्तु प्रधान होती है और शुरू से लेकर अन्त तक चलने वाली होती है।

(ii) प्रासंगिक कथावस्तु-

'प्रासङ्गिकस्तु परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः'

अर्थात् जो इतिवृत्त या कथावस्तु दूसरे के प्रयोजन की सिद्धि के लिए होती है, किन्तु प्रसङ्ग से उसके अपने प्रयोजन की भी सिद्धि हो जाती है, वह प्रासङ्गिक कथावस्तु कहलाती है। प्रासङ्गिक कथावस्तु अधिकारिक कथा की फलसिद्धि में सहायक होती है, किन्तु प्रसङ्ग से इसका अपना प्रयोजन भी सिद्ध हो जाया करता है। जैसे राम की कथा में राम की कथावस्तु

का मुख्य उद्देश्य रावण का वध और सीता की प्राप्ति है। इस उद्देश्य की प्राप्ति में सुग्रीव कथा सहायक है, किन्तु उस कथा का फल बालि वध और सुग्रीव को राज्यप्राप्ति भी प्रसङ्ग से सिद्ध हो जाती है।

प्रासङ्गिक कथावस्तु दो प्रकार की होती है : (क) पताका प्रासङ्गिक कथावस्तु, (ख) प्रकरी प्रासङ्गिक कथावस्तु।

(क) पताका प्रासङ्गिक कथावस्तु- अनुबन्ध सहित दूर तक चलने वाला प्रासङ्गिक वृत्त पताका कहलाता है; जैसे रामकथा में सुग्रीव का वृत्तान्त रामकथा के साथ दूर तक चलता है। जिस प्रकार पताका या ध्वज नायक का असाधारण चिन्ह होती है और उसका उपकार करती है। इसी प्रकार यह इतिवृत्त भी नायक तथा तत्सम्बन्धी कथा का उपकार करता है, इसलिए पताका कहलाता है।

(ख) प्रकरी प्रासङ्गिक कथावस्तु- एक प्रदेश में रहने वाला प्रासंगिक इतिवृत्त प्रकरी कहलाता है; जैसे रामायण में श्रवण कुमार की कथा। यह वृत्त थोड़ी दूर तक चलता है। प्रकरी की कथा एकदेशीय होती है। प्रकरी का नायक अपने किसी प्रयोजन की सिद्धि न करके निरपेक्ष भाव से प्रधान नायक का सहायक होता है; जैसे रामचरित में जटायु है।

पताका और प्रकरी दोनों ही प्रासङ्गिक कथावस्तु हैं और आधिकारिक कथा के प्रवाह में योग देती हैं और प्रधान फल की सिद्धि में सहायक होती हैं। फिर भी दोनों में अन्तर हैं :

पताका नायक का कुछ अपना भी प्रयोजन होता है। वह अपने प्रयोजन की सिद्धि के साथ-साथ प्रधान नायक के कार्य की सिद्धि में सहायक होता है। जैसे रामकथा में सुग्रीव का प्रयोजन बालिवध या राज्य प्राप्ति के रूप में है और अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए राम का सहायक होता है। प्रकरी का नायक अपने किसी प्रयोजन की अपेक्षा न करके निरपेक्ष भाव से प्रधान नायक का सहायक होता है। जैसे रामकथा में जटायु।

5.3 पांच अर्थप्रकृतियां

नाटकीय इतिवृत्त को पांच भागों में विभाजित किया जाता है, इन्हीं नाटकीय इतिवृत्त को अर्थप्रकृतियां भी कहते हैं। फल की सिद्धि के उपाय ही अर्थप्रकृतियां कहलाती हैं। ये अर्थप्रकृतियां पांच होती हैं, जो नायक के फल सिद्धि का कारण होती हैं।

बीज बिन्दु पताकाख्यप्रकरी कार्यलक्षणः।
अर्थ प्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्तिताः॥

1. **बीज** - जो इतिवृत्त नाटक के प्रारम्भ में संक्षेप में कहा जाता है और फल प्राप्ति पर्यन्त

टिप्पणी

अनेक रूपों में पल्लवित होता हुआ विस्तार को प्राप्त होता है, वह बीज कहलाता है।

अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति।
फलावसानं यच्चौव बीजं तदभिधीयते॥

यह बीज महाकार्य और अवान्तर कार्य का हेतु होने से अनेक प्रकार का होता है- फलबीज, वस्तुबीज तथा अर्थबीज।

2. **बिन्दु**- कारण बनकर आने वाली वह बात बिन्दु कहलाती है जिससे समाप्त होने वाली अवान्तर कथा आगे बढ़ती है और प्रधान कथा अविच्छिन्न बनी रहती है।

'अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्।'

अर्थात् अवान्तर प्रयोजन की समाप्ति से कथावस्तु के मुख्य प्रयोजन में विच्छेद प्राप्त हो जाने पर जो उसके अविच्छेद का कारण होता है, वह बिन्दु कहलाता है। जिस प्रकार जल में तेल बिन्दु फैल जाता है, उसी प्रकार यह नाट्य में फैली होती है। बीज के समान ही यह नाटक के अन्त तक फैला रहता है। यह बिन्दु फल प्राप्ति का अनुग्राहक है तथा स्वयं भी परम कारण है। इसको अवान्तर बीज भी कहते हैं।

3. **पताका**- जो प्रासंगिक इतिवृत्त व्यापक होता है अर्थात् जो कथा दूर तक चलती है और प्रधान फल का उपकारी होता है, उसे पताका कहते हैं।

'व्यापि प्रासंगिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते।'

4. **प्रकरी**- नाटक में आए हुए प्रासंगिक वृत्त को प्रकरी कहते हैं जो आधिकारिक वृत्त के साथ थोड़ी ही दूर तक सम्बद्ध रहता है।

'प्रासंगिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता।'

5. **कार्य**- कार्य का अर्थ के लिए उपाय किया जाता है जो साध्य होता है, वह कार्य है।

अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः।
समापनं तु यत्सिद्ध्यै तत्कार्यमिति संमतम्॥

इस प्रकार वह साध्य जिसकी समग्र सामग्री एकत्र की जाती है कार्य कहलाता है। वस्तुतः अर्थप्रकृतियां भौतिक विभाजन हैं जिसका सम्बन्ध कथावस्तु से ही है। इनके होने पर नाटक का रूप या ढांचा खड़ा हो जाता है।

5.4 पांच कार्यावस्थाएं

टिप्पणी

संसार में जिस प्रकार कार्य की स्पष्ट पांच अवस्थाएं होती हैं, नाटक में भी ठीक उसी प्रकार और उतनी ही अवस्थाएं होती हैं।

अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्ति फलागमाः॥

अर्थात् नाट्य के कथावस्तु की पांच अवस्थाएं देखी जाती हैं। वे अवस्थाएं निम्न प्रकार वर्णित हैं-

1. **आरम्भ**- प्रचुर फल की प्राप्ति के लिए उत्सुकता मात्र होना ही आरम्भ कहलाता है।

   'औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे'। जैसे किसी छात्र ने अपने जीवन का लक्ष्य स्नातकोत्तर परीक्षा में सफलता को मान रखा है। इस कार्य की पहली दशा में वह छात्र अपने कार्य की सिद्धि के लिए उत्सुकता दिखलाता है। उसके हृदय में तीव्र इच्छा जागती है कि वह परीक्षा पास कर अपने जीवन को कृतकृत्य बनावे। यह दशा 'आरम्भ' कहलाती है।

2. **यत्न**- फल के प्राप्त न होने पर अत्यन्त वेगपूर्वक उद्योग करना ही प्रयत्न कहलाता है। **'प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः।'** जैसे विद्यार्थी अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रकार के कार्य करता है। वह अपना घर छोड़कर विद्यालय में पढ़ता है, घोर अध्यवसाय करता है और अन्त में स्नातकोत्तर की परीक्षा देता है ये सभी कार्य उसके प्रयत्न के सूचक हैं। यह दूसरी अवस्था है जो 'यत्न' के नाम से जानी जाती है।

3. **प्राप्त्याशा** - उपाय (साधन) और अपाय (विघ्न बाधाओं) दोनों के बीच की अवस्था में जब दोनों की खींचातानी में फल प्राप्ति का निश्चय न किया जा सके उसे प्राप्त्याशा कहते हैं। **'उपायापायशंकाभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः।'**

   जैसे विद्यार्थी को परीक्षा देने पर पता चलता है कि कुछ प्रश्नों का उत्तर तो ठीक-ठाक दे सका है, परन्तु कुछ के उत्तर बिल्कुल ठीक होने में उसे सन्देह है इसलिए उसे फल की प्राप्ति की आशा बनी रहती है, यही तीसरी अवस्था 'प्राप्त्याशा' कहलाती है।

4. **नियताप्ति**- विघ्न-बाधाओं के दूर हो जाने से निश्चित फल की प्राप्ति को नियताप्ति कहते हैं। **'अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता'** जैसे विद्यार्थी द्वारा अनेक उपाय करने पर जब विघ्न बाधाएं हट जाती हैं और उसे विश्वास हो जाता है कि परीक्षा फल अच्छा ही होगा तब उस कार्य की चौथी अवस्था 'नियताप्ति' होती है, जिसमें विरुद्ध वस्तुओं के हट जाने पर प्राप्ति के निश्चय की स्थिति आ जाती है।

5. **फलागम-समग्र फलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः** अर्थात् समग्र फल की प्राप्ति को

टिप्पणी

फलागम कहते हैं। फलागम वह कार्यावस्था है जिसमें पूर्णरूप से फल लाभ होता है। जैसे विद्यार्थी का नाम जब परीक्षाफल सूची में आ जाता है, वह पास हो जाता है और उसके जीवन का लक्ष्य पूरा हो जाता है, तब फल की प्राप्ति होने से कार्य की अन्तिम अवस्था फलागम होती है।

कार्य की अवस्थाओं का यह विश्लेषण नितान्त सुन्दर तथा व्यावहारिक है तथा यह विश्लेषण गूढ़ मनोवैज्ञानिकता का पर्याप्त सूचक है। यह विश्लेषण दिखलाता है कि मानव को अपने जीवन के लक्ष्य तक पहुंचने के लिए नाना विरोधी घटनाओं के साथ संघर्ष करना पड़ता है वह सीधे ढंग से अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकता, बल्कि रास्ते में आने वाले विघ्नों को कुचलना तथा पदललित करना उसका कार्य होता है। इस प्रकार नाटक के कथानक में संघर्ष अवश्य होता है। यह संघर्ष बाहरी घटनाओं में होने पर अत्यन्त स्थूल होता है, परन्तु मानसिक वृत्तियों में भी जब संघर्ष दृष्टिगोचर होता है तब वह सूक्ष्म रूप धारण कर लेता है। संघर्ष जितना सूक्ष्म होगा वह नाटक भी उतना ही प्रभावशाली, अन्तरंग तथा प्रख्यात होगा। कालिदास और भवभूति के नाटकों की प्रसिद्धि इसी कारण से है।

5.5 पांच सन्धियां

सन्धि का अर्थ होता है जोड़। कोई भी वस्तु बिना जोड़ की नहीं होती। अनेक जोड़ों को समुचित रीति से मिला देने पर वह समग्र पदार्थ एक विशिष्ट समन्वित रूप में हमारे नेत्रों के सामने आता है। नाटक भी ऐसा ही एक समन्वित पदार्थ है। जिसमें पांच सन्धियां होती हैं। **अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति।** अर्थात् किसी एक प्रयोजन से परस्पर अन्वित या सम्बद्ध कथाओं को जब किसी दूसरे एक प्रयोजन से सम्बद्ध किया जाता है, तो वह सम्बन्ध 'सन्धि' कहलाता है। जिसके द्वारा परस्पर कथावस्तु के उद्देश्य और कार्यों का जोड़ या संयोग हो उसे सन्धि कहते हैं। पांच कार्य अवस्थाएं और पांच अर्थ प्रकृतियों से मिलकर पांच सन्धियों का निर्माण होता है।

अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः॥

'मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः।'

ये सन्धियां पांच होती हैं- मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहृति।

1. **मुख**- बीज नामक अर्थप्रकृति और आरम्भ नामक कार्य अवस्था को मिलाने वाली सन्धिजिसमें बहुत से रसों की कल्पना होती है, मुख सन्धि कहलाती है।

मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा।
अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात्॥

टिप्पणी

अर्थात् जहां अनेक प्रकार के प्रयोजन तथा रस को उत्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति होती है, वह मुख सन्धि है। यह मुख सन्धि बीज और आरम्भ के समन्वय से 12 प्रकार के अंगों से युक्त होती है।

2. **प्रतिमुख**- बिन्दु नामक अर्थ प्रकृति और यत्न नामक कार्य अवस्था को मिलाने वाली सन्धि प्रतिमुख सन्धि कहलाती है। रूप के प्रधान फल का साधक कथानक जिसमें कभी गुप्त और कभी प्रकट होता दिखाई दे, उसे प्रतिमुख सन्धि कहते हैं।

लक्ष्यालक्ष्य तयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्।
बिन्दु प्रयत्नुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश॥

अर्थात् जहां उस मुख सन्धि में निविष्ट फल के प्रधान उपाय बीज का कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य की तरह प्रकाशन होता है, वह प्रतिमुख सन्धि कहलाती है। बिन्दु और प्रयत्न के योग से इसके 13 अंग होते हैं।

3. **गर्भ**- पताका नामक अर्थप्रकृति और प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था के योग से गर्भ सन्धि होती है। इनमें पताका की आवश्यकता सर्वत्र नहीं होती, कहीं वह विद्यमान रहती है और कहीं नहीं। परन्तु प्राप्त्याशा का तो होना एकदम निश्चित है इसमें फल छिपा रहता है उसे इसलिए गर्भ सन्धि कहते हैं।

गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः।
द्वादशाङ्गः पताका स्यात् स्यात्प्राप्तिसम्भवः॥

अर्थात् जहां बीज कभी दिखाई देता है, कभी नष्ट हो जाता है और फिर बार-बार उसका अन्वेषण किया जाता है वहां गर्भ सन्धि होती है। प्राप्त्याशा और पताका के योग से गर्भ सन्धि के 12 अंग होते हैं।

4. **विमर्श**- जहां नियताप्ति तथा प्रकरी का योग होता है, वहां विमर्श सन्धि होती है। परन्तु प्रकरी की स्थिति वैकल्पिक है। जहां पर फल का उपाय तो पहले की अपेक्षा अधिक विकसित होता है, परन्तु विघ्नों के आ जाने से उसमें आघात पहुंचता है वह विमर्श सन्धि होती है।

क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः॥

अर्थात् जहां क्रोध से, व्यसन से या प्रलोभन से फल प्राप्ति के विषय में विमर्श किया जाता है तथा जिसमें गर्भ सन्धि द्वारा निर्भिन्न बीजार्थ का सम्बन्ध दिखलाया जाता है, कहलाती है। वह विमर्श सन्धि है। इस सन्धि के 13 अंग हैं।

5. **निर्वहण**- जहां कार्य नामक अर्थप्रकृति और फलागम नामक कार्यावस्था मिलते हैं

अर्थात् प्रयोजन की पूर्ण सिद्धि होती है, वहां निर्वहण सन्धि होती है।

बीजवन्तो मुखाद्यार्था विप्रकीर्णा यथायथम्।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्॥

अर्थात् यह रूपक प्रबन्ध की वह अर्थराशि है जिसमें उन सन्धियों में यत्र-तत्र उपन्यस्त बीजादि रूप इतिवृत्तांश प्रधान फल के निष्पादक बनते दिखाई दिया करते हैं अर्थात् जहां पर यथास्थान प्रकीर्ण बीज से युक्त मुखादि अर्थ प्रधान प्रयोजन के लिए प्राप्त कराए जाते हैं वहां निर्वहण सन्धि होती है। इस सन्धि के 14 अंग होते हैं।

5.6 कथावस्तु या इतिवृत्त

नाटक में समग्र घटनाओं के प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं होती है। कार्य की सिद्धि के लिए उनमें परिष्कार करना, काट-छांट करना आवश्यक होता है। जो घटनाएं कार्य सिद्धि से सीध ा लगाव या सम्बन्ध नहीं रखतीं, उन्हें काट-छांटकर अलग करना तो पड़ता है, परन्तु कथा को अखण्ड बनाए रखने के लिए उनकी सूचना तो अवश्य ही दी जाती है। ऐसी ही घटनाएं 'सूच्य' कहलाती हैं। इन्हीं का शास्त्रीय नाम अर्थोपक्षेपक है जो संख्या में पांच होते हैं ख्र (1) विष्कम्भक, (2) चूलिका, (3) अंकास्य, (4) अंकावतार और (5) प्रवेशक।

1. **विष्कम्भक**- जो घटनाएं अतीत हो गई और जो घटनाएं अभी भविष्य में आने वाली हैं, उन दोनों की सूचना देने वाला विष्कम्भक होता है।

वृत्त वर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः॥

विष्कम्भक दो प्रकार का होता है : (i) शुद्ध विष्कम्भक (ii) संकीर्ण विष्कम्भक। नाट्य में तीन प्रकार के पात्र होते हैं- (1) उत्तम- जिसमें राजा आदि संस्कृत बोलते हैं। (2) मध्यम- जिसमें अमात्य, सेनापति, आदि संस्कृत बोलते हैं। (3) निम्न या अधम- जिसमें दास, चेटी, आदि प्राकृत भाषा बोलते हैं।

(i) शुद्ध विष्कम्भक- जिसमें केवल मध्यम पात्र होते हैं, वह शुद्ध विष्कम्भक होता है।

(ii) संकीर्ण विष्कम्भक- जिसमें मध्यम तथा अधम दोनों प्रकार के पात्र होते हैं वह संकीर्ण विष्कम्भक कहलाता है।

विष्कम्भक में वही बातें आती हैं जिनको अंकों में नहीं दिखाया जा सकता। वह भूत तथा भविष्य की कथाओं को सूचित करके उन्हें एक क्रम में जोड़ देता है। विष्कम्भक का प्रयोग अंक के प्रारम्भ में किया जाता है। मुख्य रूप से इसके

टिप्पणी

सूचक मध्यम श्रेणी के पात्र होते हैं।

2. **चूलिका**- जहां परदे के भीतर से पात्र के प्रवेश होने की सूचना दी जाती है, वहां 'चूलिका' नामक अर्थोपक्षेपक होता है। **'अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना'** अर्थात् जवनिका के भीतर स्थित पात्रों के द्वारा किसी अर्थ की सूचना देना चूलिका कहलाता है। जैसे उत्तररामचरित के द्वितीय अंक के प्रारम्भ में तपोधना आत्रेयी का प्रवेश परदे के भीतर से सूचित किया गया है, इसी सूचना को चूलिका कहते हैं।

3. **ंकास्य**- यदि किसी अंक के अन्त में पात्रों के द्वारा किसी ऐसी बात की सूचना दी जाए जिससे अगले अंक का आरम्भ होता है, उसे अंकास्य या अंकमुख कहते हैं। **'अंकान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात्'** अर्थात् अंक के अन्त में आने वाले पात्रों के द्वारा असम्बद्ध अग्रिम अंक के अर्थ की सूचना देने के कारण यह अङ्कास्य कहलाता है। अंक के अन्त में आने वाला पात्र अंकपात्र है। उसके द्वारा असम्बद्ध अग्रिम अंक के प्रारम्भिक अर्थ की सूचना लेकर जहां आगे के अंक की शुरूआत होती है वह अंकास्य कहलाता है। जैसे- महावीरचरित के द्वितीय अंक में सुमन्त्र द्वारा सूचना मिलती है कि वसिष्ठ और विश्वामित्र आपको परशुराम सहित बुला रहे हैं। इस सूचना के बाद तृतीय अंक में वसिष्ठ, विश्वामित्र और परशुराम बैठे हुए प्रवेश करते हैं। यही अंकास्य है।

4. **अंकावतार**- जहां प्रथम अंक की वस्तु का विच्छेद किए बिना दूसरे अंक की वस्तु आरम्भ हो, वहां अंकावतार होता है। **अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्यविभागतः।** अर्थात् जहां एक अंक का अन्त हो जाने पर दूसरे अंक का अभिन्न रूप से अवतरण हो जाता है वह अङ्कावतार कहलाता है। अर्थात् जब प्रथम अंक के पात्र किसी बात की सूचना दें तथा वे ही पात्र उसीं कथावस्तु को लेकर अगले अंक में भी प्रवेश करें, तब इसे अंकावतार कहते हैं। जैसे- मालविकाग्निमित्र के प्रथम अंक के अन्त में विदूषक कहता है कि दोनों देवियों को मृदंग का शब्द ही उठा देगा। इसके बाद मृदङ्ग का शब्द सुनने के बाद सभी पात्र द्वितीय अंक के आरम्भ में प्रथम अंक के ही पात्र आगे की कथावस्तु को आरम्भ कर देते हैं। इस प्रकार यहां प्रथम अंक की कथा का विच्छेद हुए बिना द्वितीय अंक की कथा का अवतरण हुआ है अतः अङ्कावतार नामक अर्थोपक्षेपक है।

5. **प्रवेशक**- प्रवेशक में भी घटनाओं की सूचना पूर्ववत् दी जाती है, परन्तु इसमें सूचक पात्र अधम श्रेणी का ही होता है; जैसे नौकर, नौकरानी, आदि।

   निम्न श्रेणी के पात्रों से युक्त होने के कारण नाटक के आरम्भ में प्रवेशक का प्रयोग नहीं होता। विष्कम्भक की भांति ही प्रवेशक भी सूचक होता है। इसके समग्र पात्र निम्न श्रेणी के होते हैं और प्राकृत भाषा बोलते हैं।

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः॥

अर्थात् भूत और भविष्यत् अर्थ की सूचना एक या अनेक नीच पात्रों द्वारा दो अंकों के बीच में देने वाला 'प्रवेशक' होता है। नाटकों में बहुत सी बातें वर्ज्य मानी जाती हैं। उनका प्रदर्शन रंगमंच के ऊपर नहीं होता है, वे भी किसी-न-किसी प्रकार सूचित ही की जाती हैं, जैसे दूर से बोलना, वध, युद्ध, राजविप्लव, देशविप्लव, विवाह, भोजन, मृत्यु, रमण, आदि। इसी प्रकार की अन्य लज्जाकारी बातें, शयन, अधर चुम्बन, नगर को घेर लेना, स्नान, चन्दन आदि का लेप तथा किसी बात का अति विस्तार भी रंगमंच के ऊपर निषिद्ध माना जाता है और इसलिए ये संसूच्य की कोटि में आते हैं जिनको अर्थोपक्षेपक कहा जाता है।

5.7 नाट्य धर्म की दृष्टि से कथावस्तु के भेद

कथावस्तु को अभिनय तथा संवाद के विचार से दो भागों में विभक्त किया है। अभिनय के अनुसार कथावस्तु दो प्रकार की होती है-वाच्य तथा सूच्य। संवाद के विचार से भी कथावस्तु के भेद किए जाते हैं। नाट्य धर्म की दृष्टि से संवाद कथावस्तु तीन प्रकार की मानी जाती है।

'सर्वेषां नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च।'

अर्थात् (1) सबके सुनने योग्य- सर्वश्राव्य (2) नियत जनों के सुनने योग्य- नियतश्राव्य, तथा (3) किसी के भी न सुनने योग्य- अश्राव्य।।

1. **सर्वश्राव्य**- किसी पात्र की बात को यदि रंगशाला में उपस्थित सभी लोग सुनें, तो इसे सर्वश्राव्य कहते हैं। जो सर्वश्राव्य वस्तु है वह प्रकाश नाम से कही जाती है: **'सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्।।'**

2. **नियतश्राव्य**- यदि पात्र द्वारा कही गई बात को कुछ निश्चित लोग ही सुनें तो उसे नियतश्राव्य कहते हैं। नियतश्राव्य के दो भेद हैं : (i) जनान्तिक, (ii) अपवारित।

'द्विधाऽन्यन्नाट्यधर्माख्यं जनान्तमपवारितम्।।'

(i) **जनान्तिक नियतश्राव्य** - बातचीत के समय हाथ की त्रिपताका रूप से बहुत से लोगों में से कुछ के साथ आपस में बातचीत करना ही जनान्तिक है।

त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम्।
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्।।

अर्थात् जिस व्यक्ति को कोई बात नहीं बतानी हो तो उसके बीच में हाथ की

टिप्पणी

सारी अंगुलियों को त्रिपताका रूप में करके जब कोई पात्र दूसरे के साथ बातें करता है, वह जनान्तिक कहलाता है।

(ii) **अपवारित नियतश्राव्य**- बातचीत के समय मुंह फेरकर दूसरे व्यक्ति से गुप्त बात कही जाती है, उसे अपवारित कहते हैं। **'रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्त्यापवारितम्'** अर्थात् मुंह फेरकर दूसरे व्यक्ति से रहस्य की बातें करना ही अपवारित है।

3. **अश्राव्य**- यदि कहने वाला ही पात्र अपनी कही हुई बात सुनता है और दूसरे लोग उसे नहीं सुनते हैं या उसको सुनने के अधिकारी नहीं होते हैं तो इसे अश्राव्य कहते हैं।

'अश्राव्यं स्वगतं मतम्।' अर्थात् अश्राव्य को ही स्वगत कथन कहा जाता है।

पाठगत प्रश्न 5.2

1. सानुबन्ध कथावस्तु इनमें से कौन-सा है?

(क) पताका (ख) अंक

(ग) प्रकरी (घ) आधिकारिक

2. अर्थोपक्षेपक कितने माने गये हैं?

(क) 7 (ख) 6

(ग) 5 (घ) 8

3. नाट्य धर्म की दृष्टि से वस्तु के कितने भेद हैं?

(क) 7 (ख) 6

(ग) 3 (घ) 8

4. इनमें से सन्धि का भेद नहीं है?

(क) मुख (ख) प्रतिमुख

(ग) उपसंहति (घ) यत्न

5. निम्न में से कार्यावस्था नहीं है?

(क) नियताप्ति (ख) फलागम

(ग) आरम्भ (घ) प्रकरी

9. प्रासंगिक कथावस्तु के कितने भेद हैं?

(क) 2 (ख) 3

(ग) 8 (घ) 5

10. नियतश्राव्य के कितने भेद माने गये हैं?

(क) 2 (ख) 3

(ग) 8 (घ) 5

आपने क्या सीखा

प्रिय विद्यार्थियों इस प्रकार आपने इस पाठ में यह जाना कि नाट्य की कथावस्तु के कितने भेद होते हैं एवं कथावस्तु का स्वरूप क्या होता है? इन सब विषयों को उदाहरण सहित इस पाठ में स्पष्ट कर दिया गया है। इस प्रकार नाट्य की कथावस्तु के अनेक भेद अनेक प्रकार से निरूपित किये गये हैं जिनमें दृश्य एवं श्रव्य की दृष्टि से कथावस्तु का विभाजन भी प्रस्तुत किया गया है। कथावस्तु के प्रकारों के निरूपण क्रम में पांच अर्थप्रकृति, पांच कार्यावस्था व पांच सन्ध्यंगों का निरूपण भी किया गया है जो कि साक्षात् कथावस्तु से ही सम्बद्ध हो कर नाट्य की उपकारभूत सामग्री बनती है। महाकवि कालिदास विरचित अभिज्ञानशाकुन्तलम् आदि नाटकों में इन्हीं कथावस्तुओं का प्रयोग किया गया है। संस्कृत के सभी नाटककारों ने कथावस्तु के इन प्रकारों का प्रयोग अपने अपने प्रसिद्ध रूपक में किया है। इस इकाई के अध्ययन से नाट्य की कथावस्तु का अवबोध छात्रों को हो जाता है जो कि नाट्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है।

पाठान्त प्रश्न

1. कथावस्तु का परिचय देते हुए उसके भेदों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

2. अर्थ प्रकृतियां कितनी होती हैं। विस्तार से वर्णन कीजिए।

3. कार्यवस्थाओं पर एक टिप्पणी लिखिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

5.1

1. (ग)
2. (क)
3. (ख)

5.2

1. (क)
2. (ग)
3. (ग)
4. (घ)
5. (घ)
6. (क)
7. (क)

टिप्पणी

6

पात्र-योजना

प्रिय शिक्षार्थी, पूर्व पाठ में हमने कथावस्तु के विषय में जाना। नाट्य में नायक, नायिका तथा अन्य पात्रों की समुचित योजना और रसों का उचित प्रयोग नाट्य को आकर्षक बनाता है। अत: नाट्य के प्रमुख अंग पात्रों की संकल्पना, नायक-नायिका भेदों को जानना तथा अन्य पात्रों के विषय में विस्तार से जानना आवश्यक है। अत: इस पाठ में हम नाट्य में पात्र योजना के विषय में विस्तार से जानेंगे।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ के पढ़ने के उपरांत आप-

- नाट्य के पात्रों की संकल्पना को जानते हैं;
- नाट्य में नायक एवं नायिका के भेदों को जानते हैं; और
- नाट्य के अन्य सहायक पात्रों को जानते हैं।

6.1 पात्र योजना की संकल्पना

पात्रों का निर्माण करते समय नाटककार को अनेक बातों का ध्यान रखना पड़ता है। वह अपनी कल्पना द्वारा वास्तविक चरित्र विकास को एक ठोस आधार प्रदान करता है। पात्रों में विश्वसनीय चरित्र लक्षण होने चाहिए, जो चरित्र के बढ़ने के साथ विकसित होते हैं।

एक नाटककार एक काल्पनिक चरित्र को अपनी कल्पना से ऐसा रूप प्रदान करता है कि दर्शक उस काल्पनिक चरित्र को वास्तविक मानकर उससे जुड़ जाता है और रसास्वादन कर पाता है।

टिप्पणी

पात्र का विकास वास्तविक जीवन से बहुत अलग नहीं होता है क्योंकि कथावस्तु में पात्र भी वास्तविक स्थितियों की तरह आगे बढ़ते हैं। इस तरह नाटक में दर्शक को एक काल्पनिक कहानी भी वास्तविक लगने लगती है। इसलिए यह जरूरी है कि पात्र निर्माण के समय हमें पात्र योजना और चरित्र विकास के समय उन्हें वास्तविक जीवन के समान गहराई और जटिलता के साथ काल्पनिक रूप प्रदान करना चाहिए। इस तरह हम कह सकते हैं कि 'चरित्र विकास वास्तविक जीवन के मनुष्यों के समान गहराई और जटिलता के साथ काल्पनिक पात्रों को बनाने की प्रक्रिया है।'

एक चरित्र के निर्माण में चरित्र की बाहरी अभिव्यक्ति उस चरित्र के आंतरिक जीवन से प्रवाहित होनी चाहिए। यहां तक कि उस चरित्र की अपनी यादें, विश्वास, पूर्वाग्रह, बोलने का तरीका, पहनावा और चाल-चलन (हावभाव, चेहरे के भाव आदि) और अन्य गतिविधियां नट (अभिनेता) द्वारा उसी रूप में अभिनय करते समय अनुभूत कर पारदर्शित की जानी चाहिए। पात्र रचना के समय इस बात का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए कि जब इस पात्र की प्रस्तुति होगी तो नट (अभिनेता) उसे प्रदर्शित कर पाने में कितना सक्षम होगा। संक्षेप में कहें तो एक ऐसे चरित्र का निर्माण करना चाहिए जो दर्शकों को आकर्षित कर सके, नाटक के प्रदर्शन के समय दर्शक के मन में रस का उद्बोधन कर सके और उसे रसानंद की अनुभूति करा सके।

6.2 नायक : प्रकार भेद तथा नायक के गुण

नायक शब्द प्रापणार्थक 'नी' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है – 'ले जाने वाला'। वह नाटकीय कथावस्तु को फलागम तक ले जाता है, इसलिए उसे 'नायक' या 'नेता' कहते हैं। नेता रूपक का द्वितीय भेदक तत्त्व है। यहाँ 'नेता' पद से केवल नायक का ग्रहण नहीं होता अपितु नायक, नायिका, विट, चेट, चेटी आदि सभी पात्रों का ग्रहण होता है। इस प्रकार रूपक में 'नेता' पद से सामान्य रूप से नायक आदि सभी पात्र गृहीत किये जाते हैं।

6.2.1 नायक के प्रकार

1. मानवीय प्रकृति के आधार पर नायक के प्रकार बताये ललित, शान्त, उदात्त और उद्धत। सभी नायक धीर होते हैं। यही कारण है कि नायक के सभी भेदों के साथ 'धीर' शब्द जुड़ा रहता है। धीरललित, धीरप्रशान्त, धीरोदात्त और धीरोद्धत।

   धीरललित – धीरललित नायक निश्चिन्त, कलासक्त, सुखी और मृदु (कोमल) होता है। वह सामान्यत: राजा होता है, जो अपनी रानी की स्वाभाविक ईर्ष्या से उत्पन्न बाधाओं को दूर करके अपनी प्रेयसी का सुख प्राप्त करना चाहता है। शारदातनय के अनुसार नायक विलासी, रसिक एवं रतिप्रिय होता है। नाटिका का नायक धीरललित होता है। जैसे रत्नावली नाटिका का नायक उदयन 'धीरललित' नायक है।

टिप्पणी

धीरप्रशान्त- धीरप्रशान्त नायक में उपर्युक्त सभी गुण पाये जाते हैं। नाट्यदर्पण के अनुसार धीरप्रशान्त नायक निरभिमानी, दयालु, विनयी और न्यायपरायण होता है तथा वह ब्राह्मण या सार्थवाह होता है। प्रकरण का नायक सामान्यतः इसी कोटि का होता है। जैसे- मृच्छकटिक का नायक चारुदत्त और मालती माधव का नायक माधव इसी श्रेणी में आते हैं।

धीरोदात्त- धीरोदात्त नायक महासत्त्व, अतिगम्भीर, अविकत्थन, क्षमा- शील, स्थिर, अहङ्कार-रहित तथा दृढव्रत होता है। विद्यानाथ के यह कृपालु भी होता है। नाटक के अनुसार नायक प्रायः धीरोदात्त होता है। जैसे नागानन्द नाटक का नायक जीमूतवाहन धीरोदात्त नायक है।

धीरोद्धत - धीरोद्धत नायक दर्प और ईर्ष्या से युक्त, मायावी, छद्मपरायण, अहङ्कारी, चञ्चल, प्रचण्ड और आमश्लाघी होता है। जैसे महावीरचरित में परशुराम।

2. **शृंगार की दृष्टि से नायक भेद** - कामवृत्ति के आधार पर शृङ्गारी नायक के चार प्रकार होते हैं दक्षिण, शठ, धृष्ट और अनुकूल। अनेक नायिकाओं के साथ समान प्रेम-व्यवहार करने वाला नायक 'दक्षिण' नायक कहलाता है। वह दूसरी नायिका से प्रेम हो जाने पर भी पहली नायिका के प्रति उदासीन नहीं होता। जैसे वत्सराज उदयन। धनञ्जय के अनुसार प्रधान नायिका के साथ हार्दिक प्रेम रखने वाला 'दक्षिण' नायक कहलाता है। (दशरूपक)

शठ - ज्येष्ठा नायिका के साथ छल करते हुए प्रच्छन्न रूप से कनिष्ठा नायिका के प्रति आसक्त रहने वाला नायक 'शठ' कहलाता है। जैसे पुरूरवा। **धृष्ट** जो अन्य नायिका के साथ संभोग का लक्षण प्रकट हो जाने पर भी निर्भीक होकर ज्येष्ठा नायिका के सामने जाने में लज्जित नहीं होता है, उसे 'धृष्ट' नायक कहते हैं। (दशरूपक)

अनुकूल- एक नायिका के प्रति आसक्त रहने वाला नायक 'अनुकूल' नायक कहलाता है। (दशरूपक) जैसे राम, नल। इस प्रकार पूर्वोक्त धीरोदात्तादि चार प्रकार के नायकों में प्रत्येक के दक्षिण आदि चार भेद हो सकते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर सोलह प्रकार के नायक हुए। ये सोलहों प्रकार के नायक मानव-स्वभाव के आधार पर उत्तम, मध्यम, अधम भेद से तीन-तीन प्रकार के कुल अड़तालीस (16×3=48) प्रकार के होते हैं। इनके पुनः दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य तीन प्रकार होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर एक सौ चौंवालीस (48×3=144) भेद होते हैं। (साहित्य दर्पण)

6.2.2 नायक के अन्य प्रकार

रूपगोस्वामी एवं शिङ्गभूपाल ने वस्तुगत दृष्टि से नायक के तीन अन्य प्रकारों का उल्लेख किया है-पति, उपपति और वैशिक। सामाजिक रीति से जिसका नायिका के साथ विधिवत्

टिप्पणी

पाणिग्रहण होता है, उसे 'पति' कहते हैं। जो कामभाव से प्रेरित होकर अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य नारी से दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित कर संकेत स्थल पर मिलता है, उसे 'उपपति' कहते हैं। वैशिक नायक रूपवान् प्रियदर्शन, शास्त्रज्ञ, कुलीन, बुद्धिमान्, प्रियभाषी, सुभग, वेश-भूषा में कुशल, कलाप्रेमी, कामोपचार में कुशल एवं रसिक होता है। कलामर्मज्ञ एवं वेश्योपचार में कुशल होने के कारण वह 'वैशिक' कहलाता है। इनके अतिरिक्त नायक के चार और प्रकार बताये गये हैं- धर्मवीर, युद्धवीर, दयावीर और दानवीर।

नायक के गुण- नाटय सिद्धान्त के अनुसार नायक को सर्वगुणसम्पन्न होना चाहिए। धनञ्जय ने नायक के गुणों की सविस्तर व्याख्या की है। उनके अनुसार नायक को विनीत, मधुर, त्यागी, चतुर, प्रिय बोलने वाला, लोगों को प्रसन्न रखने वाला, पवित्र मन वाला, वाक्पटु, कुलीन, स्थिर, युवा तथा बुद्धि, उत्साह, स्मृति, मान एवं कला- कौशल से समन्वित और दृढ़, तेजस्वी, शूर, शास्त्रज्ञाता तथा धार्मिक होना चाहिए। (दशरूपक) इनमें समस्त गुणों से युक्त नायक उत्तम नायक कहे जाते हैं, जो कुछ गुणों से हीन होते हैं वे मध्यम नायक होते हैं और जो समस्त गुणों से हीन होते हैं वे अधम कोटि के नायक होते हैं। (दशरूपक)

6.2.3 नायक के सात्त्विक गुण

नायक के आठ विशिष्ट सात्त्विक गुण बताये गये हैं, - शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, तेज, ललित और औदार्य।

शोभा विलासो मायुर्ध स्थेयं गाम्भीर्यमेव च।
ललितौदार्यतेजांसि सत्त्वभेदास्तु पौरुषाः॥
(नाट्यशास्त्र)

1. **शोभा**- शूरता, दक्षता, नीच के प्रति घृणा और उच्च (उत्तम) के प्रति स्पर्धा करना 'शोभा' है।

2. **विलास**- धीरदृष्टि, धैर्ययुक्त गति और स्मितवचन का समावेश 'विलास' है।

3. **माधुर्य**- क्षोभ के कारणों के उत्पन्न होने पर भी उद्विग्न न होना 'माधुर्य' कहलाता है।

4. **गाम्भीर्य**- हर्ष, शोक, भय आदि भावों के आवेश में आकृति पर विकार परिलक्षित न होना 'गाम्भीर्य' कहा जाता है।

5. **स्थैर्य**- अनेक विघ्नों के होते हुए भी विचलित न होना 'स्थैर्य' है।

6. **तेज**- प्राण-सङ्कट में भी अपमान, तिरस्कार आदि सहन न करना 'तेज' कहलाता है।

7. **ललित**- वाणी, वेश और मधुर शृङ्गार की चेष्टा 'ललित' कहलाता है।

8. **औदार्य**- दान, परत्राण तथा प्रिय वचन के लिए प्राण देने के लिए भी तैयार रहना 'औदार्य' है।

टिप्पणी

6.2.4 नायक के सहायक अन्य प्रकार

उपनायक- नायक के समान ही पूज्य और नायक से कुछ ही गुण-हीन 'उपनायक' होता है। वह पताका व प्रकरी का नायक होता है, अतः उसे 'पताकानायक' भी कहते हैं। (सरस्वतीकण्ठाभरण) पताकानायक को 'पीठमर्द' भी कहते हैं, क्योंकि यह नायक की पीठ ठोंकता है। (साहित्यदर्पण) अपनी सेवा-सहायता से नायक की लक्ष्य- प्राप्ति में सहायक होता है। वह चतुर, बुद्धिमान् और नायक का भक्त होता है। विश्वनाथ के अनुसार वह नायक के समान में उससे कुछ कम होता है। (सरस्वतीकण्ठाभरण) जैसे रामकथा पर स्वभाव वाला, किन्तु गुणों आश्रित नाटकों में सुग्रीव उपनायक है।

अनुनायक - अनुनायक नायक का कनिष्ठ होता है और नायक के कार्य- व्यापार में योगदान करता है तथा नायक के समान गुणों में कुछ कम होता करता है। इसका कोई अपना उद्देश्य नहीं होता है, नायक की फल प्राप्ति में सहायता करता है। (दशरूपक)

प्रतिनायक - नायक की लक्ष्य-सिद्धि में प्रतिरोध उपस्थित करने वाला, नायक का प्रतिपक्षी 'प्रतिनायक' होता है। वह धीरोद्धत, घमण्डी, लोभी, दुराग्रही, पापी एवं व्यसनी होता है। (नाट्यदर्पण) जैसे रामकथाश्रित नाटकों में रावण प्रतिनायक कहा जाता है। प्रतिनायक नायक का शत्रु होता है। वह नायक के प्रतिकूल आचरण और उसका प्रतिस्पर्द्धी होता है। (साहित्यदर्पण)

विदूषक - विदूषक राजा का सहचर एवं मित्र होता है। वह अपनी वेश- भूषा एवं व्यवहार से हास्यकारी होता है। वह विकृत आकार वाला, वामन, दन्तुर, कुब्ज, खल्वाट एवं पिङ्गलाक्ष होता है।

वामनो, दन्तुरः कुब्जो द्विजन्मा विकृताननः।
खलितः पिङ्गलाक्षश्च स विज्ञेयो विदूषकः॥
(नाट्यशास्त्र)।

लालची. भोजनभट्ट एवं मोदकप्रिय होता है। अन्तरङ्ग सहचर और सदैव साथ रहने वाला विश्वनाथ के अनुसार विदूषक श्रृङ्गार रस में में निपुण, मानिनी नायिकाओं का मानभञ्जक होता है। उसका नाम किसी फूल अथवा वसन्त आदि के नाम पर रखा जाता है। वह अपने विकृत अङ्ग, वेश-भूषा एवं वाणी से लोगों को हँसाता है और कलहप्रिय होता है। हास्यकरः कलहतिविदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः।। (साहित्य दर्पण)। भरत, शारदातनय आदि आचार्यों ने विदूषक को चार वर्गों में विभाजित किया है- लिङ्गी, द्विज, राजजीवी और शिष्य।

टिप्पणी

विट- विट नायक का सेवक एवं स्वामिभक्त होता है। वह नृत्य-गीतादि कलाओं में से एक विद्या में निपुण होता है। शारदातनय के अनुसार विट को एक विद्या में निपुण एवं कामतन्त्र में कुशल होना चाहिए है। नाट्यशास्त्र के अनुसार विट मेधावी, वेश्योपचार में कुशल, मधुरभाषी, कवि एवं चतुर व्यक्ति होता है। विश्वनाथ के अनुसार विट वैषयिक भोग- विलास में अपनी सम्पत्ति को लुटाने वाला, धूर्त एवं कलानिपुण होता है। भाण में विट आवश्यक पात्र माना गया है।

वेश्योपचारकुशलः मधुरो दक्षिणः कविः।
ऊहापोहक्षमो वाग्मी चतुरश्च विटो भवेत्॥
(नाट्यशास्त्र)

चेट - भरत के अनुसार चेट कलहप्रिय, बहुभाषी, विरूप, गन्धसेवी, मान्य और अमान्य का विशेषज्ञ होता है। यह नायक का सहायक होता है।

कलहप्रियो बहुकथो विरूपो गन्धसेवकः।
मान्यामान्यविशेषज्ञश्चेटो हयेवंविधः स्मृतः॥
(साहित्यदर्पण)

शकार- शकार राजा का साला होता था, जिसे राष्ट्रिय कहा गया है **(राजश्यालस्तु राष्ट्रियः)।** भरत के अनुसार शकार उज्ज्वल वेश-भूषा धारण करने वाला, बिना कारण रुष्ट और शीघ्र ही प्रसन्न होने वाला, मागध-भाषा- भाषी, अनेक विकारों से युक्त एवं अधम प्रकृति का होता है।

उज्ज्वलवस्त्राभरणः क्रुद्धत्यनिमित्ततः प्रसीदति च।
अधमो मागधभाषी भवति शकारो बहुविकारः॥
(नाट्यशास्त्र)

विश्वनाथ के अनुसार वह नीच कुल में उत्पन्न, मंदान्ध, दम्भी, मूर्ख, अशिष्ट, अनेक दुर्गुणों से युक्त, भ्रष्टाचारी राजा की अविवाहिता पत्नी (रखेल) का भाई कहा जाता था।

मदमूर्खताभिमानी दुष्कृतैश्वर्यसंयुक्तः।
सोऽयमनूढा भ्राता राज्ञः श्यालः शकार इत्युक्तः॥
(साहित्यदर्पण)

वह शकारी भाषा बोलता था, इसीलिए शकार कहा जाता था (शकारभाषाप्रायत्वात् शकारो राष्ट्रियः स्मृतः)। मृच्छकटिक में शकार का पूर्ण विकास दृष्टिगोचर होता है। अभिज्ञानशाकुन्तल में भी शकार का उल्लेख पाया जाता है, किन्तु उसके बाद संस्कृत नाटकों में शकार का अभाव दृष्टि- गोचर होता है।

कञ्चुकी - राजा के अन्त:पुर में प्रवेश करने वाला, समस्त कार्यों में कुशल, अनेक गुणों से समन्वित, वृद्ध ब्राह्मण 'कञ्चुकी' कहा जाता था।

अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः।
सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते॥
(साहित्य दर्पण)

वह लम्बा कुर्ता पहनता था और हाथ में वेत धारण किये रहता था। लम्बा कुर्ता (कञ्चुक) धारण करने के कारण उसे 'कञ्चुकी' कहा जाता था। मातृगुप्ताचार्य के अनुसार कञ्चुकी राजा के अन्त:पुर में अव्याहत प्रवेश करने वाला वृद्ध नौकर होता था। वह ज्ञान-विज्ञान में कुशल, सत्यवादी एवं काम-दोष से रहित व्यवहारकुशल होता था। कञ्चुकी राजा का हितैषी भक्त सेवक होता था।

ये नित्यं सत्त्वसम्पन्नाः कामदोषविवर्जिताः।
ज्ञानविज्ञानकुशलाः कञ्चुकीयास्तु ते स्मृताः॥
(मातृगुप्त)

प्रतीहारी - राजा के निकट रहने वाली और सन्धि विग्रह आदि राज- विषयक कार्यो की सूचना देने वाली सेविका 'प्रतीहारी' कहलाती है। दूत-राजा के सहायकों में दूत का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। दूत को अनेक गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। विश्वनाथ ने दूत के तीन प्रकार बताये हैं- निसृष्टार्थ, मितार्थ और सन्देशहारक। जिसे विशेष अवसर पर कार्य करने का पूर्ण अधिकार रहता है और जो दोनों की भावनाओं को जानकर स्वयं ही सभी प्रश्नों का समाधान कर दे, उसे 'निसृष्टार्थ' दूत कहते हैं। जिसे सीमित कार्य का अधिकार होता है, उसे 'मितार्थ' दूत कहते हैं और जो केवल संदेश पहुँचाता है उसे 'सन्देशहारक' दूत कहते हैं।

इसके अतिरिक्त नायक के अन्त:पुर के वामन, षण्ढ (नपुंसक), किरात, म्लेच्छ, आभीर आदि भी सहायक होते हैं। नायक के शृङ्गारसहायकों के अतिरिक्त अर्थसहायक, दण्डसहायक, नर्मसहायक और धर्मसहायक भी होते हैं। नायक के अर्थसहायक मन्त्री होते हैं। दण्डसहायकों में अमात्य, प्राड्विवाक, मित्र, कुमार, आटविक, सामन्त आदि होते हैं। नर्मसहायक अन्त:पुर-सहायक ही है। धर्मसहायकों में ऋत्विक, पुरोहित, तपस्वी आदि की परि-गणना की जाती है।

6.3 नायिका : सामान्य गुणों और कामावस्था आधार पर भेद

नायिका नाट्य की प्राणवाहिनी धारा है, जिसमें जीवन का मर्मस्पर्शी मधुर रस प्रवाहित होता रहता है। नायक के पूर्वोक्त साधारण गुणों से युक्त नायिका होती है।

6.3.1 सामान्य गुणों के आधार पर नायिका भेद

सामान्य गुणों के आधार पर नायिका तीन प्रकार की होती है- स्वकीया, परकीया और

टिप्पणी

सामान्या। स्वकीया नायिका शील, आर्जव (सरलता) आदि गुणों से युक्त, पतिप्रेमपरायणा, व्यहारनिपुणा, गृहकार्य में दक्ष, विवाहिता पतिव्रता नारी होती है। **स्वकीया** नायिका भी तीन प्रकार की होती है -मुग्ध, मध्या और प्रगल्भा। इनमें मुग्धा नायिका अङ्कुरितयौवना, कामवासना में नवीन, लज्जावती, सुरतक्रीड़ा से कतराने वाली, प्रणय-कोप में भी मृदु होती है। मध्या नायिका यौवन एवं कामवासना से पूर्ण, रतिक्रीड़ा में निपुण तथा सुरतक्रीड़ा को मोह के अन्त तक सहन करने वाली होती है। प्रगल्भा नायिका यौवन के उभार से कामोन्मत्त, सुरत-क्रीड़ा के कौशल से पूर्ण परिचित, काम-व्यवहार में निर्लज्ज, पति के साथ रति-क्रीड़ा में अचेत-सी हो जाने वाली तथा विकसित हाव-भाव वाली होती है। स्वकीया के दो भेदों 'मुग्धा' और 'प्रगल्भा' नायिका के मानवृत्ति के आधार पर तीन-तीन भेद होते हैं- धीरा, अध ीरा और धीराधीरा। इनमें व्यग्यपूर्ण वचनों से रोष प्रकट करनेवाली 'धीरा', कठोर वचनों से प्रिय को प्रताड़ित करने वाली अधीरा और रो-रोकर अपना क्षोभ एवं रोष को प्रकट करने वाली नायिका 'धीराधीरा' कहलाती है। मध्या और प्रगल्भा नायिका के इन छः भेदों के भी पुनः 'ज्येष्ठ' और 'कनिष्ठा' ये दो भेद होते हैं। इस प्रकार 'मध्या' और 'प्रगल्भा' नायिकाएँ बारह प्रकार की होती हैं और 'मुग्धा' नायिका एक प्रकार की होती है। इस प्रकार स्वकीया नायिका के कुल तेरह भेद होते हैं।

परकीया- परकीया नायिका नायक की अपनी परिणीता पत्नी नहीं होती। वह पर-परिणीता भी हो सकती है और अविवाहिता कन्यका भी। इस प्रकार परकीया नायिका के दो भेद होते हैं-परोढा और अनूढा। परोढा नायिका दूसरे की विवाहिता पत्नी होती है। विवाहिता होने पर भी वह पर पुरुष के साथ सम्भोग की इच्छा रखती है और निर्लज्ज होती है। अनूढा नायिका अविवाहित कन्या होती है और नवयौवना एवं लज्जाशील होती है। वह माता-पिता के परतन्त्र होने से परकीया कहलाती है।

कुशल, संगीत आदि कलाओं में वह धनिकों के प्रति प्रेम प्रदर्शित करती है।

सामान्या - सामान्या नायिका रति में निपुण, प्रगल्भ तथा धूर्त गणिका होती हैं। करती है और तभी तक प्रेम करती है जब तक उसका धन समाप्त नहीं हो जाता। धन समाप्त हो जाने पर वह अपने नौकरों से अथवा अपनी मां से बाहर निकलवा देती है। सामान्या नायिका के भी दो भेद होते हैं- रक्ता और विरक्ता। किन्तु रुद्रट ने विरक्ता नायिका की अपेक्षा अनुरक्ता (गणिका) का स्थान शृङ्गार रस की दृष्टि से कुलाङ्गना और परकीया से श्रेष्ठ बताया है। इसीलिए अनुरक्ता का ही नाटकादि में नायिका के रूप में चित्रण पाया जाता है। विरक्ता भावहीन एवं निर्लिप्त होने के कारण नाटकादि में नायिका (पात्र) नहीं हो सकती। इस प्रकार सामान्या नायिका एक ही प्रकार की होती है। इस प्रकार सामान्य गुणों के आधार पर नायिका के (स्वीया) के 13 भेद, परकीया के दो भेद तथा सामान्या के एक भेद कुल (13+2+1 =16) सोलह भेद होते हैं।

टिप्पणी

6.3.2 कामावस्था आधार पर नायिका भेद

ये सभी नायिकाएँ कामावस्था-भेद से आठ-आठ प्रकार की होती हैं- स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया और अभिसारिका।

1. **स्वाधीनपतिका**- जिसका पति उसके प्रेम से आकृष्ट होकर सदा उसके पास रहता है और उसके दश में रहता है, उसे 'स्वाधीनपतिका' नायिका कहते हैं।

2. **वासकसज्जिका**- जो नायिका अपने सुसज्जित भवन में वेश-भूषा से सुसज्जित होकर प्रियतम के मिलन की प्रतीक्षा करती है, उसे 'वासकसज्जा' कहते हैं।

3. **विरहोत्कण्ठिता**- प्रियतम के मिलने के लिए उत्सुक होने पर भी दैववशात् पति के न मिलने से उसके विरह में उत्कण्ठित होकर उसकी प्रतीक्षा करती है, उसे 'विरहोत्कण्ठिता' नायिका कहते हैं।

4. **खण्डिता**- जिसका प्रेमी किसी दूसरी प्रेमिका के प्रेम-प्रपञ्च में बासक्त होने के कारण निश्चित समय पर उसके पास न जा सकने के कारण उसकी विरह-वेदना से पीड़ित हो, उसे 'खण्डिता' नायिका कहते हैं। धनञ्जय एवं विश्वनाथ के अनुसार जो नायिका नायक के शरीर पर अन्य किसी प्रेमिका के नखक्षत एवं दन्तक्षत आदि चिह्नों को देखकर ईर्ष्या से कलुषित हो उठती है, उसे 'खण्डिता' नायिका कहते हैं।

5. **कलहान्तरिता**- जो नायिका प्रणय-याचना करने वाले प्रियतम को रोष से निरादृत कर देती है और पुनः स्वयं पश्चात्ताप करती है, उसे 'कलहान्तरिता' कहते हैं। भरत के अनुसार ईर्ष्या या कलह के कारण प्रियतम के परदेश चले जाने पर जिसका पति लौटकर नहीं आता, तो ईर्ष्या से युक्त नायिका 'कलहान्तरिता' कहलाती है।

6. **विप्रलब्धा**- जिसका प्रेमी स्वयं संकेतस्थल पर प्रेमिका से मिलने का समय देकर भी मिलने के लिए नहीं आता, उसे 'विप्रलब्धा' नायिका कहते हैं।

7. **प्रोषितप्रिया या प्रोषितभर्तृका**- जिस नायिका का पति किसी कार्य से परदेश चला गया है, वह 'प्रोषितप्रिया' कहलाती है।

8. **अभिसारिका**- जो नायिका कामपीड़ित होकर स्वयं अपने प्रेमी नायक के पास अभिसरण करती है या स्वयं उसे अपने पास बुलाती है, उसे 'अभिसारिका' कहते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त सोलह नायिकाएँ आठ अवस्थाओं के भेद से एक सौ अट्ठाईस (128) प्रकार की होती हैं। पुनः इनके भी तीन-तीन भेद होते हैं - उत्तम, मध्यम और अधम। इस प्रकार नायिकाओं के कुल तीन सौ चौरासी (128×3= 384) प्रकार हुए। धनञ्जय, शारदातनय, विश्वनाथ, रुद्रट आदि आचार्यों ने भी नायिकाओं के तीन सौ चौरासी भेद माने हैं।

नायिका की सहायिकाएँ - नायक के साथ नायिकाओं को मिलाने वाली कुछ सहायिकाएँ होती हैं। दूती, दासी, सखी, पड़ोसिन, शिल्पिनी, संन्यासिनी, चेटी, दाई, कथिनी, कारु, विप्रश्निका आदि नायिका की सहायिकाएँ होती हैं, जो नायक को मिलाने में नायिका का सहयोग करती हैं।

पाठगत प्रश्न 6.1

1. नाट्य मानवीय प्रकृति के आधार पर नायक के कितने भेद माने गए हैं?

   (क) 2 (ख) 5

   (ग) 3 (घ) 4

2. इनमें से कौन-सा नायक का प्रकार नहीं है?

   (क) धीरललित (ख) धीरोदात्त

   (ग) स्वीया (घ) धीरप्रशान्त

3. मृच्छकटिकम् का नायक किस प्रकार का नायक है?

   (क) धीरललित (ख) धीरोदात्त

   (ग) धीरोद्धत (घ) धीरप्रशान्त

4. श्रृंगार की दृष्टि से नायक कितने भेद माने गये हैं?

   (क) 7 (ख) 4

   (ग) 5 (घ) 8

5. श्रृंगार की दृष्टि से इनमें से नायक का भेद है?

   (क) धीरललित (ख) धीरोदात्त

   (ग) धीरोद्धत (घ) शठ

6 निम्न में से राजा का सहचर एवं मित्र होता है?

   (क) शकार (ख) चेट

   (ग) विट (घ) विदूषक

7. नायक के कुल कितने भेद होते हैं?

(क) 124 (ख) 144

(ग) 132 (घ) 140

8. विश्वनाथ के अनुसार दूत के कितने भेद माने गए हैं?

(क) 5 (ख) 8

(ग) 3 (घ) 2

9. सामान्य गुणों के आधार पर नायिका के कितने भेद हैं?

(क) 2 (ख) 3

(ग) 8 (घ) 5

10. स्वकीया नायिका के कितने भेद माने गये हैं?

(क) 2 (ख) 3

(ग) 8 (घ) 5

आपने क्या सीखा

इस पाठ में हमने नाटक के प्राणभूत अंगों का पात्रों का परिचय जाना। पात्रपरिचय में हमने यह पाया कि नायक एवं नायिका ये दो ही नाट्य में मुख्य पात्र होते हैं अन्य पात्र प्रत्यक्ष व परोक्षरूप से नायक अथवा नायिका के ही सहायक होते हैं।

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने भी यही स्वीकारा है कि नायक एवं नायिका ही प्रधान पात्र होते हैं। नायक के धीरोदात्तादि भेद एवं अन्य भी उपयुक्त भेदों को हमने जाना।

इसी प्रकार नायिका के स्वकीया परकीया आदि भेदों का ज्ञान हमने इस पाठ में प्राप्त किया। इस पाठ के अध्ययन के पश्चात् आप संस्कृत एवं अन्य भाषाओं के नाटकों एवं रूपकों में इन पात्रों का स्वरूप जान पाए हैं।

पाठान्त प्रश्न

1. नायक कितने प्रकार के होते हैं। उनके गुणों का भी उल्लेख कीजिए।
2. नायक के सहायक अन्य पात्रों पर चर्चा कीजिए।
3. सामान्य गुणों के आधार पर नायिका के भेद बताइये
4. कामावस्था के आधार पर नायिका के भेदों को स्पष्ट कीजिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

1. (घ)
2. (ग)
3. (घ)
4. (ख)
5. (घ)
6. (घ)
7. (ख)
8. (ग)
9. (ख)

7

अभिनय परिचय

प्रिय शिक्षार्थी, पूर्व पाठ में हमने नाट्य में पात्र योजना के विषय में जाना है। इस पाठ में हम अभिनय के सामान्य परिचय तथा अभिनय के प्रकारों को समझेंगे। नाट्य के लिए आवश्यक चार तत्त्वों में अभिनय नाट्य का अभिन्न अंग है। नाट्य लोकवृत्तानुकरण अर्थात् तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्तन है।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप-

- अभिनय का विस्तृत परिचय जानते हैं;
- अभिनय भेद-चतुर्विध अभिनय को जानते हैं; और
- आधुनिक नाटकों में अभिनय के क्षेत्र में आए बदलावों को जानते हैं।

7.1 अभिनय का स्वरूप

दृश्य और श्रव्य नामक काव्य भेदों में से आचार्यों ने अभिनय के योग्य अर्थात् अभिनेय काव्य को दृश्य काव्य कहा है- दृश्यं तत्राभिनेयं। दृश्य के पर्याय के रूप में नाट्य अथवा अभिनय, रूप, रूपकादि शब्दों की भी चर्चा प्राप्त होती है। आचार्यों का मत है कि एक ही शब्द 'दृश्य' के लिए यहाँ प्रयुक्त होने वाले विविध शब्द प्रवृत्ति निमित्त भेद से ग्राह्य हैं। प्रवृत्ति निमित्त का अर्थ है- जिस निमित्त से किसी अर्थ में शब्द का प्रयोग किया जाता है। यहाँ शब्दों के अर्थ में तो भेद नहीं होता है किन्तु शब्दों के प्रयोग का निमित्त भिन्न हो सकता है, जैसे कि अभिनेय या दृश्य काव्य में नायकादि की उदात्तादि अवस्था का अनुकरण नाट्य (अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्), दृश्य होने से रूप (रूपं दृश्यतयोच्यते), रूप का आरोप होने से रूपक (रूपकं तत्समारोपात्,

टिप्पणी

तद्रूपारोपात्तु रूपकम्) आदि में प्रवृत्ति निमित्त की दृष्टि से भेद होते हुए भी पर्याय के रूप में प्रयुक्त होने वाले ये शब्द एकार्थवाचक हैं।

जब हम 'अभिनय' तत्त्व पर विचार करते हैं तो हमारी दृष्टि सर्वप्रथम नाट्य शास्त्र के उस कथन पर जाती है जहाँ पंचमवेद माने जाने वाले नाट्यवेद की रचना के लिए चार अनिवार्य तत्त्वों की चर्चा की गई है। वे चार तत्त्व हैं- पाठ्य, गीत, अभिनय और रस। आचार्य भरत के अनुसार तत्त्वविद् ब्रह्मा ने उक्त चारों तत्त्वों का ग्रहण चारों वेद से किया है। उन्होंने पाठ्य को ग्रहण ऋग्वेद से, गीत का सामवेद से, अभिनय का यजुर्वेद से तथा रसों का अथर्ववेद से किया-

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् गीतमेव च। यजुर्वेदादभिनयान् रसानथर्वणादपि।।

स्वर, अलंकारादि सामग्री की योजना से युक्त संवाद का अन्तर्भाव पाठ्य में होता है। अभिनय प्रकारों में वाचिक अभिनय का संबंध पाठ्य से ही है, फिर भी नाट्यतत्त्व में सर्वाधिक प्रधान होने के कारण इसका यहाँ अलग से वर्णन किया गया है और इसे नाट्य का शरीर माना गया है। आंगिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनयादि अंग वाणी के अर्थ को ही अभिव्यक्त करते हैं। सामवेद से गृहीत गीत में स्वरों की प्रधानता होती है अर्थात् स्वर गीतरूप है। गीत पाठ्य का उपरंजक होता है। रसचर्वणा गीत के द्वारा ही होती है। भरत ने गीत को नाट्य की शय्या कहा है। गीत और वाद्य के प्रयोग से नाट्य प्रयोग सफल होता है। अभिनय द्वारा नाट्य का साक्षात्करण होता है। अभिनय में पात्र और रंगनिर्देश गतार्थ होते हैं। अभिनय का ग्रहण यजुर्वेद से माना जाता है। यज्ञप्रधान यजुर्वेद में होने वाली आंगिक क्रियाएँ आंगिक अभिनय का रूप मानी जा सकती हैं। उसी तरह यज्ञ सम्पादन काल में विशेष वेशभूषा आदि का ग्रहण आहार्य अभिनय का रूप माना जा सकता है।

यज्ञक्रिया में मन को समाहित करना पड़ता है। समाहित मन से ही सत्त्व का उदय होता है, जिससे सात्त्विक अभिनय का ग्रहण होता है। मंत्रोच्चारण काल में पाठ्य व गीत की भी आवश्यकता होती है जो वाचिक अभिनय के रूप में माना जाता है। अथर्ववेद में शान्तिक, पौष्टिक, मारण, मोहन, उच्चाटनादि कर्म बताये गये हैं। यहाँ नट के समान अथर्ववेद का ऋत्विक प्रजा की शान्ति एवं हित के लिए शान्तिकादि कर्म एवं शत्रु के मारण के लिए ग्रहणादि कर्म करता है। यहाँ प्रजा एवं शत्रु आलम्बन विभाव, प्रसाद एवं विषाद अनुभाव, धृति एवं प्रमोद व्यभिचारी भाव हैं। इन सभी का मुख्य रूप से संयोग होने पर विभावादिरूप रसात्मक चर्वणा होती है। इस दृष्टि से ही यहाँ अथर्ववेद से रस का ग्रहण बताया गया है। रस आनन्दस्वरूप है। गीत के श्रवण एवं नाट्य के अवलोकन से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है, जो ब्रह्मानन्द से बढ़कर है। नाट्यप्रयोग के द्वारा सामाजिक विभावादि व्यञ्जक-सामग्री से अभिव्यक्त विभावादि से विलक्षण अनिर्वचनीय आनन्दरूप रस का आस्वादन करता है, जो वास्तविक लक्ष्य है। यहाँ पाठ्य, गीत, अभिनय और रस तत्त्वों में से तीन साधक तत्त्व है तथा अन्तिम रस साध्य है, जो सर्वप्रधान तत्त्व है और जिससे व्याप्त होकर नाट्य दर्शकों में आनन्द का विधान करता है।

टिप्पणी

नाना प्रकार के भावों से सम्पन्न तथा नाना प्रकार के भावों का निर्देश करनेवाला नाट्य होता है। यह नाट्य उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणी के मनुष्यों के कर्म का आश्रय, हितकारी उपदेश देनेवाला और धैर्य, क्रीड़ा एवं सुखादि को देनेवाला, सभी रसों, सभी भावों, समस्त कर्म एवं क्रियाओं में सबको उपदेश देनेवाला, दु:खियों, थके हुए लोगों, शोकसंतप्त लोगों, तपस्वियों के लिए विश्रान्ति देनेवाला, धर्म, यश और आयु प्रदान करने वाला, वेद, विद्या एवं इतिहास की कथाओं की परिकल्पना करने वाला एवं लोक में विनोद को उत्पन्न करने वाला होता है। नाट्य के अन्तर्गत नटादि या अभिनेतादि लोक के अनुरूप ही अभिनय करता है। लोक का जो सुख-दु:खमय स्वभाव है, वही आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य आदि अभिनयों से युक्त होकर नाट्य कहलाता है। लोकानुसारी मन, अंग, वाणी, वेशभूषादि के द्वारा कलात्मक भावपूर्ण प्रदर्शन सामाजिक, दर्शक, प्रेक्षक या सहृदय के हृदय में सौंदर्यानुभूति या रसतत्त्व को उद्बुद्ध करता है जो सहृदय को नट के साथ ही रस प्रदेश में ले जाता है, जहाँ वह अलौकिक आनन्द में निमग्न हो जाता है। रस प्रदेश तक की यात्रा का प्रमुख वाहक नट या अभिनय के द्वारा प्रदर्शित अभिनय तत्त्व ही है। भरत के अनुसार जिसमें सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ को ले जाकर उनके हृदय में रसास्वादन कराया जाता है, वह नाट्य है। यहाँ अभिनयप्रधान प्राचीन इतिवृत्त का आश्रय लेकर नर्तन द्वारा दर्शकों के हृदय में अनुकूल रस का संचार किया जाता है। इस प्रकार भावाश्रय नर्तन नृत्य, भावाभिनयहीन नर्तन नृत्त और रसाश्रयभूत चतुर्विध अंगादि अभिनय से युक्त नर्तन नाट्य है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाट्य ही अभिनय है, अभिनय ही नाट्य है और नाट्य ही रस है।

अभिनीयते हृद्‌गतक्रोधादिभाव: प्रकाश्यतेऽनेनेति अभिनय: अर्थात् जिसके द्वारा हृद्‌गत क्रोधादि भाव को प्रकाशित किया जाता है अथवा प्रदर्शित किया जाता है, वह अभिनय है – इस व्युत्पत्ति के आधार पर कोशग्रंथों में अभि उपसर्ग पूर्वक णीञ् प्रापणे धातु से अच् प्रत्यय करने पर अभिनय शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ नाटक खेलना, अंगविक्षेप, नाटकीय प्रदर्शनादि प्राप्त होता है। अभि अभिमुखे नयति इति अभिनय: अर्थात् नाट्य प्रयोग को सामाजिकों के सम्मुख ले जाना अभिनय है। अभिनीयते इति अभिनय: अर्थात् साक्षात्कारात्मक रूप से नाटकीय कार्य व्यापार को दर्शकों तक पहुँचाना अभिनय है। अभिनय शब्द की व्याख्या करते हुए नाट्यशास्त्रकार आचार्य भरत भी कहते हैं कि अभि उपसर्ग पूर्वक णीञ् (नी) प्रापणे धातु से 'एरच्' सूत्र से अच् प्रत्यय लगकर अभिनय शब्द सम्पन्न होता है, जिसका अर्थ आभिमुख्यनयन है अर्थात् नाट्यप्रयोग के अर्थों को प्रेक्षकों अथवा सामाजिकों के अभिमुख या सन्मुख ले जाना या प्रेक्षकों के सम्मुख प्रदर्शित करना अभिनय है।-

अभिपूर्वस्तु णीञ् धातुराभिमुख्यार्थनिर्णये। यस्मात्पदार्थान्नयति तस्मादभिनय: स्मृत:॥

अभिनय के द्वारा ही नाट्य-कथावस्तु दर्शकों के समक्ष उपस्थित होता है। अभिनय प्रयोग के द्वारा ही नानाविध अर्थ सामाजिकों के हृदय में विभावित होते हैं। शाखा, अंग, उपांगों से युक्त अभिनय प्रयोग के द्वारा नाट्य के नानाविध अर्थों को सामाजिकों के हृदय में विभावन (रसास्वादन) कराये जाने के कारण ही अभिनय कहलाता है –

विभावयति यस्माच्च नानार्थान् हि प्रयोगतः। शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः॥

इस प्रकार दृश्य सामग्री को लेकर रंगमंच पर जो व्यापार प्रदर्शित किया जाता है, वही अभिनय है। भाव यह है कि अभिनेता अभिनय के द्वारा अभिनेय रामादि के क्रियाकलापों, वेशभूषा, विविध चेष्टादि एवं भावमुद्राओं को रंगमंच पर प्रदर्शित करता है, संयम के साथ उचित स्थल पर काकु, यति आदि का संयोजन कर उचित रीति से वाक्याभिनय करता है, पात्रों के अनुरूप देशकालोचित, वेशभूषा एवं साजसज्जा का संयोजन करता है। अभिनय पात्रों के मानसिक भावों का प्रकाशन करता है।

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र अभिनय का व्युत्पत्तिगत अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि आभिमुख्य से अर्थात् साक्षात्कारात्मक रूप से अभिनेतव्य अर्थ जिसके द्वारा सामाजिकों के पास पहुँचाया जाता है। यहाँ अभिनय के द्वारा सामाजिक रामादि का साक्षात्कारात्मक अनुभव किया करते हैं।

दशरूपक में निर्दिष्ट नाट्यप्रयोग नाट्याभिनय ही है। यहाँ धनञ्जय एवं धनिक की दृष्टि में अवस्था की अनुकृति नाट्य है। काव्य में वर्णित या निबद्ध नायकादि की धीरोदात्तादि अवस्थाओं का अनुकरण नाट्य है। वाचिकादि चार प्रकार के अभिनय के द्वारा अभिनेता या नट रामादि अनुकार्य के साथ एकरूपता प्राप्त कर लेता है। दृश्य अर्थात् चाक्षुष ज्ञान का विषय होने से नाट्य का अभिनय रूप कहलाता है। नाट्य या अभिनय यह रूपक भी कहलाता है।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने अवस्थानुक्रम अवस्था के अनुकरण को अभिनय कहा है।

यहाँ अभिनेता या नटादि मन, वचन एवं शरीरादि के द्वारा अभिनेय रामयुधिष्ठिरादि की अवस्थाओं का अनुकरण करते हैं। अतः नटादि या अभिनेतादि के द्वारा रामयुधिष्ठिरादि अभिनेय का अनुकरण अभिनय है-

तत्र दृश्यं काव्यं नटे रामादिस्वरूपारोपाद्रूपकमित्युच्यते।

आचार्य मानते हैं कि अभिनेय अथवा दृश्य काव्य में नटादि में अथवा अभिनेतादि में रामादि के अर्थात् अभिनेय नायकादि के स्वरूप का आरोप होने से दृश्य या अभिनेय काव्य रूपक भी कहलाता है -

'तद्रूपारोपात्तु रूपकम्'

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुछ आचार्यों ने केवल अवस्थानुकार को अभिनय कहा है तो अनुव्यवसायात्मक मानने वाले आचार्यों की भी विद्यमानता है। कोई इसका व्यावहारिक अर्थ लेते हैं तो कोई पारमार्थिक अर्थ। अभिनवगुप्त एवं नाट्यदर्पणकार के अतिरिक्त प्रायः नाट्याचार्यों ने इसका व्यावहारिक अर्थ लिया है। आचार्य धनञ्जय एवं आचार्य विश्वनाथ इसका

टिप्पणी

व्यावहारिक स्वरूप ही ग्रहण करते हैं। इन आचार्यों की दृष्टि में सामाजिक एवं प्रेक्षक की दृष्टि से जो अभिनरूप है वही अभिनेता के लिए अभिनेय एवं नाट्य है एवं रचनाकार की दृष्टि में वह रूपक है। इस प्रकार दृश्य या रूप या रूपक या नाट्य या अभिनय एकार्थवाचक शब्द हैं और इन विविध पर्यायों में प्रवृत्तिनिमित्तक भेद हैं।

भरत सहित अभिनवगुप्त एवं रामचन्द्र-गुणचन्द्र की नाट्य विषयक विवेचना अपेक्षाकृत व्यापक है। अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्य न अनुकरणरूप है और न ही अनुभावनरूप है बल्कि समस्त लोकों के भावों का अनुकीर्त्तनरूप है। अनुकरण अनुकीर्तन से भिन्न होता है। अनुकरण प्रत्यक्ष का होता है और अनुकीर्तन विभावादिविशिष्ट का होता है। अनुकरण का संबंध प्रत्यक्ष से है और अनुकीर्तन के द्वारा साधारणीकृत रूप का ग्रहण होता है। साधारणीकृत रूप होने पर सामाजिक का नट के अनुव्यवसाय रूप अनुकीर्तन से तादात्म्य हो जाता है और इसी तादात्म्य से रसानुभूति होती है। अनुकरण और अनुकीर्त्तन में वस्तुत: भेद होने पर भी अनुकरण का प्रयोग देखा जाता है। नाट्यदर्पणकार कहते हैं कि वाणी आदि का अनुकरण - यह राम का कथन है- इस प्रकार के निश्चय के कारण होता है, वास्तविक रूप में नहीं। कारण यह है कि नट ने अथवा प्रेक्षकों ने, किसी ने भी अनुकार्य रामादि को स्वयं नहीं देखा है। अनुकरण करने वाला नट अनुकार्य रामादि को देखे बिना उसका अनुकरण करने में समर्थ नहीं हो सकता है। प्रेक्षक भी अनुकार्य को देखे बिना अनुकरण करने वाले को अनुकर्त्ता नहीं मान सकता है। इसलिए नट कवि के द्वारा निबद्ध राम आदि के चरित्र को पढ़कर अत्यन्त अभ्यास के द्वारा स्वयं देखा जैसा मानकर 'मैं इस समय उसका अनुकरण कर रहा हूँ' ऐसा निश्चय करता है। इस अध्यवसाय के कारण उसके व्यापार को अनुकरण कहा जाता है। वास्तव में वह राम के व्यापार का नहीं, अपितु लोकव्यवहार का ही अनुकरण करता है। प्रेक्षक भी नट के विषय में रामादि शब्द-संकेत को समझने तथा अत्यन्त मनोहर संगीत को सुनने आदि के कारण विवश हो जाता है। यहाँ स्वरूप, देश और काल का भेद होता है। अत: उस प्रकार के रामादि रूप न होने पर भी वाचिकादि अभिनयों के द्वारा नट के स्वरूप का आवरण कर लिए जाने से उस प्रकार के रामादि-रूप बने हुए नटों में राम का निश्चय कर लेते हैं। इसीलिए उस प्रकार की सुखदु:खमयी रामादि की अवस्था में तन्मय-सा हो जाता है।

भरत यद्यपि नाट्य में यथार्थ स्वरूप की बात करते हैं। किन्तु वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि अभिनय काल में देश-कालादि से संबंधित सीमाएँ ऐसी होती हैं जिसमें प्रत्येक वस्तु का यथार्थ स्वरूप का प्रदर्शन सम्भव नहीं है। नाट्याचार्यों ने इस बात का उल्लेख किया है कि नट या अभिनेता अभिनेय के शारीरिक वेश-भूषा धारण करने के साथ-साथ उस अभिनेय व्यक्ति के व्यक्तित्व को भी आत्मसात् कर लेता है तथा अपने स्वत्व का परित्याग कर देता है। अभिनवभारतीकार का मानना है कि जिस प्रकार पूर्ण, शुद्ध, चैतन्य एवं ज्योतिरूप आत्मा अनश्वर एवं स्वतंत्र होते हुए भी अपने मूल स्वभाव का परित्याग कर धारण किये हुए शरीर के सर्वथा अनुकूल स्वभाव को धारणकर उसके साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेता है उसी प्रकार नट भी अपने स्वत्व का परित्याग कर रामादि अभिनेय के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित

टिप्पणी

कर लेता है। इस प्रसंग में वे इस बात का भी उल्लेख करते हैं कि अभिनेय के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करने के समय में भी अभिनेता के द्वारा अपने व्यक्तित्व का पूर्ण परित्याग सम्भव नहीं है। सामाजिक या दर्शक नट के शारीरिक एवं मानसिक परिवर्त्तनों के कारण ही उसे केवल नटादि न मानकर रामादि अभिनेय के रूप में स्वीकार कर लेता है। जिस प्रकार आत्मा शरीरादि रूप नेपथ्य को धारण कर भोग्य पदार्थों का उपयोग करते हुए भी निर्लिप्त रहती है उसी प्रकार नट भी अभिनेय के नेपथ्य में रहते हुए भी अपने को नट समझता है सामाजिक उसे राम समझता है तभी सामाजिक में रसानुभूति होती है। अभिनवगुप्त कहते हैं कि नाट्य में नट रामादि के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेने पर भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता है और सामाजिक उस नट को राम समझता है। तभी सामाजिक में रसानुभूति होती है। वस्तुत: अभिनय एक साधना है, जिसमें शरीर, मन, वाणी, हस्त, पाद, दृष्टि आदि सभी की एकाग्रता एवं संयमादि की पूर्ण आवश्यकता होती है। अत: अभिनय काल में इस बात की अपेक्षा की जाती है कि शरीर, मन, वाणी, दृष्टि, हस्त, पाद आदि सभी अवयवों पर नियन्त्रण रखते हुए उसका भावानुकूल प्रयोग किया जाता है। अभिनय-प्रदर्शन में उक्त सभी अवयवों के पारस्परिक सहयोग की अपेक्षा होती है।

7.2 अभिनय-भेद

प्राय: सभी नाट्याचार्यों ने अभिय के चार भेदों की चर्चा की है, वे हैं- आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। आचार्य भरत मुख्य रूप से अभिनय के इन्हीं चार भेदों को स्वीकार करते हैं-

आङि्गको वाचिकश्चौव ह्याहार्य: सात्त्विकस्तथा।
ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्रा: चतुर्धा परिकल्पत:।।

नाट्यशास्त्रकार चार भेदों के अतिरिक्त अभिनय के दो अन्य भेदों की भी चर्चा करते हैं वे हैं- सामान्य अभिनय और चित्र अभिनय। सामान्याभिनय के विषय में कहा गया है- **सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागंगसत्त्वज:।** अर्थात् अभिनय का विषय होने से यह भी अभिनयों में सामान्य है, जिसमें आंगिकादि चारों अभिनय समाहित हैं। इसी तरह चित्र अभिनय के विषय में कहा गया है कि संध्या, सूर्य, चन्द्र, वन, उपवन, नदी, पर्वतादि प्राकृतिक पदार्थों और परिस्थितियों का आंगिक चेष्टा की विभिन्न मुद्राओं द्वारा प्रतीक रूप में अभिनय चित्राभिनय है-

अंगाद्यभिनयस्यैव यो विशेष: क्वचित् क्वचित्।
अनुक्त उच्यते चित्र: स चित्रभिनयस्मृत:।।

नाट्य-प्रयोग के प्रति व्यावहारिक दृष्टि रखने वाले आचार्य भरत के अतिरिक्त परवर्ती नाट्याचार्यों ने सामान्य और चित्र नामक अभिनय को अलग से मान्यता प्रदान नहीं की है।

किन्तु आंगिक आदि चार अभिनयों की स्वीकृति सभी नाट्याचार्यो ने प्रदान की है। इस दृष्टि से अभिनय के चार प्रकार सर्वग्राह्य हैं। वे हैं- आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। अभिनयदर्पणादि ग्रन्थों में इन्हीं चार प्रकारों की चर्चा है-

आंगिको वाचिकस्तद्वदाहार्यः सात्विको परः।- अभिनयदर्पण

साहित्यदर्पणकार भी कहते हैं -

भवेदभिनयोवस्थानुकारः स चतुर्विधः।
आङ्गिको वाचिकश्चौवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा॥

अभिनयदर्पणकार का कहना है कि आंगिकादि चारों अभिनय नटराज शिव के चार रूप हैं, जिनके अधिष्ठाता स्वयं शिव ही हैं। आचार्य कहते हैं कि यह चराचरात्मक अखिल विश्व शिव का आंगिक अभिनय है। सम्पूर्ण वाङ्गमय इस शिव का वाचिक अभिनय है। चन्द्र तथा तारागण आदि से मण्डित आकाश शिव का आहार्य अभिनय है तथा सात्त्विक अभिनय के रूप में शिव स्वयं सुशोभित हैं-

आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववामयम्।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्विकं शिवम्॥

आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक- इन चतुर्विध अभिनयों का विवेचन क्रमशः इस प्रकार है- अभिनय-प्रकार का विशद विवेचन

7.2.1 आङ्गिक अभिनय

नाट्याचार्यों ने अभिनय के जिन चार प्रकारों की चर्चा की है, उनमें सर्वप्रथम आङ्गिक अभिनय है। अङ्गेन अङ्गचालनेन निर्वृत्तम्; अङ्गेन निवृत्तं विक्षेपादिः अङ्गेनिष्पन्नभावव्यञ्जक विक्षेपादिः अङ्ेन कृतं आङ्गिकम् आदि अर्थाधारित अङ्ग शब्द से ठञ् प्रत्यय लगकर आङ्गिक शब्द निष्पन्न होता है, जिसका सामान्य अर्थ है- शरीर के विविध अंगों के द्वारा प्रदर्शित किया जाने वाला अभिनय। यहाँ नट अपने शरीर के विविध अंगों, उपांगों और प्रत्यंगों के द्वारा रामादि अनुकार्य की विविध चेष्टाओं का सामाजिकों के समक्ष साक्षात् प्रदर्शन करता है। अभिनयदर्पणकार भी कहते हैं कि अंग, उपांग और प्रत्यंग- इन तीन साधनों के द्वारा किया जाने वाला अभिनय आंगिक अभिनय है-

तत्राङ्गिकोऽङ्गप्रत्यंगोपाङ्गस्त्रेधा प्रकाशतः।

नाट्यदर्पण में भी चर्चा है कि अंगों और उपांगों के द्वारा कार्यों का साक्षात्कार कराना आंगिक अभिनय है-

कर्मणोऽङ्गैरुपाङ्गेश्च साक्षाद् भावानामाङ्गिकः।

टिप्पणी

नाट्यदर्पणकार आंगिक शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुए कहते हैं कि अंग जिस अभिनय कार्य का प्रयोजन अथवा हेतु है वह आंगिक अभिनय कहलाता है। अंगानि प्रयोजनं हेतवः यस्येत्याङि्गकः। उनकी दृष्टि में सिर, हाथ, छाती, कमर, पार्श्व और पैर आदि अंगों, नेत्र, भौहें, पलक, अधर, कपोल, ठोड़ी आदि उपांगों एवं रामादि अनुकार्य के क्रोध, उत्साह, आवेग, वैमनस्य, हर्ष, वैवर्ण्य, मुखराग और भृकुटि आदि से युक्त चेष्टाविमिश्रित भाव से समन्वित अनुकार्यादि का सामाजिकों के लिए साक्षात्करण आंगिक अभिनय है। स्पष्ट है कि शरीर के विविध अंगों, उपांगो एवं प्रत्यांगो की विविध चेष्टाओं एवं भावमुद्राओं द्वारा रमणीय अर्थ का सृजन आंगिक अभिनय है। आचार्य भरत ने आंगिक अभिनय के तीन प्रकार बतलाये हैं - शरीरज, मुखज और चेष्टाकृत (चेष्टाक्रियाभिनय)। इनमें शरीरज अभिनय शाखा, अंग एवं प्रत्यांगो द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। केवल उपांगो के द्वारा किया जाने वाला अभिनय मुखज या उपांग अभिनय कहलाता है। इसी प्रकार विविध चेष्टाओं के द्वारा किया जाने वाला अभिनय चेष्टाकृत अभिनय या चेष्टाक्रियाभिनय है। भरत के अनुसार यहाँ अंग और उपांग की संख्या छह-छह है। शिर, हस्त, वक्ष, पार्श्व, कटि और पाद- ये छह अंग हैं। कुछ आचार्यों ने ग्रीवा को एक अतिरिक्त अंग माना है तो कुछ आचार्य स्कन्ध को सातवाँ अंग मानते हैं। इसी तरह नेत्र, भौहें, नासिका, अधर, कपोल और चिबुक- ये छह उपांग हैं। कुछ आचार्यों ने दोनों मणिबन्ध, दोनों जानु और दोनों घुटनों को अतिरिक्त प्रत्यंग माना है। कुछ आचार्य ग्रीवा की गणना प्रत्यांगो में करते हैं। शाखा, अंकुर और नृत्त नामक तीन अभिनयरूपों में आंगिक अभिनय को शाखा कहा जाता है। नाट्यशास्त्र में आंगिक अभिनय के भेदोपभेदों का सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।

7.2.2 वाचिक अभिनय

वाचा निष्पन्नो, वाचा कृतम्- वाणी से निष्पन्न या वाणी से संबंधित- इस व्युत्पत्ति के आधार पर वाच् शब्द से ठञ् प्रत्यय लगकर वाचिक शब्द सम्पन्न होता है। वाचिक शब्द का सामान्य अर्थ है- वाणी से संबंधित अथवा वाणी का। वाणी से संबंधित अभिनय वाचिक अभिनय है। वाचिक अभिनय में वाणी के अभिनय की प्रधानता होती है। नाट्यदर्पणकार के अनुसार वाचिक शब्द 'इक्' प्रत्यय लगकर निष्पन्न होता है। उनकी दृष्टि में वक्ता के भाव के अनुसार उसकी वाणी का अनुकरण वाचिक अभिनय कहलाता है- वाचिकोऽभिनयो वाचां यथाभावमनुक्रिया। यहाँ लक्षण में प्रयुक्त 'यथाभावम्' का अभिप्राय है- उत्साह, क्रोध, मोह, घृणा, भय, शोक, लोभ, असूया, अहंकार, शंका, रोमाञ्च, मोहादि भाव के अनुरूप शब्दों का उच्चारण करना। यहाँ प्रसंग, अनुकार्य और लोक व्यवहार को ध्यान में रखकर ही वाणी का अनुकरण किया जाता है। रामादि अनुकार्य का अनुकरण करते हुए रंगमञ्च पर पात्रों के द्वारा मुख से जो कुछ भी अभिव्यक्त किया जाता है, वह सब वाचिक अभिनय के अनतर्गत आता है। अभिनव गुप्त की दृष्टि में वाणी ही अभिनय है- वागेवाभिनयः। आचार्यों का मानना है कि वाणी अथवा वाचिक अभिनय नाट्य का शरीर है जबकि आंगिक अभिनय, आहार्य अभिनय एवं सात्त्विक अभिनय वाक्यार्थ को अभिव्यक्त करते हैं। आंगिकादि अभिनय वाचिक अभिनय से प्रभावित

टिप्पणी

व सम्पुष्ट होते हैं। अतः आचार्यों का मत है कि वाणी या वाचिक अभिनय के विषय में ही नट को यत्न करना चाहिए-

वाचि यत्नस्तु कर्त्तव्यो नाट्यस्येयं तनुः स्मृता।
अंगनेपथ्यसत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि॥

वाणी के महत्त्व की चर्चा करते हुए आचार्य भरत कहते हैं कि इस संसार में समस्त शास्त्र व समस्त वाङ्गमय वाक्निष्ठ हैं अर्थात् वाणी पर ही आधारित हैं। यह वाणी समस्त विश्व की अधिष्ठात्री देवी है। यह वाणी समस्त लोकों की उत्पादिका, शासिका और मोक्ष की उपायभूता ज्ञानमयी सर्वज्ञा है। यह समस्त लोकों में सर्वत्र अनेक रूपों में व्याप्त है। इस वाणी से बढ़कर विश्व में कुछ भी नहीं है, क्योंकि यह वाणी ही समस्त विश्व का कारण है-

वाङ्गमयानीह शास्त्रणि वाक्निष्ठानि तथैव च।
तस्माद्वाचः परं नास्ति वाग् हि सर्वस्य कारणम्॥

वाक् के इस वैशिष्ट्य से स्पष्ट है कि अन्य अभिनय प्रकार वाचिक अभिनय के संयोग से ही चरमोत्कर्ष को प्राप्त करते हैं तथा चतुर्विध अभिनय के सम्मिश्रण से अभिनेय काव्य अथवा रंगमंचीय प्रस्तुति प्रेक्षकों के हृदय में अपूर्व आनन्द का संचार करता है। भरत ने वाचिक अभिनय को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए आगम, नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, समास, तद्धित, सन्धि, वचन, विभक्ति तथा उपग्रहादि के युक्त माना है तथा शब्द विषयक उक्त नियमों पर सूक्ष्मता से विचार किया है -

आगमनामाख्यातनिपातोपसर्गसमासतद्धितैर्युक्तः।
सन्धिवचनविभक्त्युपग्रहनियुक्तो वाचिकाभिनयः॥

आचार्य भरत की दृष्टि में यहाँ दो प्रकार के पदबन्ध की आवश्यकता होती है। वे हैं निबद्ध अर्थात् छन्दोबद्ध रचना तथा चूर्णपद अर्थात् गद्य की रचना। निबद्ध पदबन्ध में (स्व-दीर्घ मात्रओं वाले वर्ण निश्चित नियमानुसार रहते हैं जबकि चूर्णबन्ध में अर्थ की अपेक्षा अनेक पद का आश्रय लिया जाता है। यहाँ छन्दब) पाठादि पर सूक्ष्मता से विचार किया गया है। भरत का कहना है कि नाना छन्दों से समुद्भूत विभिन्न वृत्तों के द्वारा काव्यबन्धों को छत्तीस काव्य लक्षणों से युक्त होना चाहिए। छन्द और लक्षण के साथ-साथ वाचिक अभिनय के निरूपण क्रम में भरत ने चार अलंकारों, दस गुणों, दस दोषों तथा रसादि काव्यकला के प्रायः सभी तत्त्वों की चर्चा की है। इसी तरह यहाँ नाट्य प्रयोग में प्रयुक्त संस्कृत एवं प्राकृत पाठ्य का भी उल्लेख प्राप्त होता है। संस्कृत एवं प्राकृत रूप भाषा वक्ता के भेद से चार प्रकार की होती है- अतिभाषा, आर्यभाषा, जातिभाषा तथा योन्यन्तरी। चार वर्णों से सम्बद्ध जातिभाषा के पाठ्य दो प्रकार के बताये गये हैं- संस्कृत और प्राकृत। यहाँ संस्कृत एवं प्राकृत भाषा की पात्रानुकूल पाठ्य-योजना की चर्चा प्राप्त होती है। यहाँ नाट्य प्रयोक्ताओं द्वारा प्रयुक्त मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी और दाक्षिणात्य आदि भाषाएँ तथा नाटक में कहलाने वाली सात

टिप्पणी

विभाषाएँ अर्थात् शकार, आभीर, चाण्डाल, शबर, द्रमिल, आन्ध्र एवं वनेचर की भाषाओं की भी चर्चा है। नाट्यसन्दर्भ में पैशाची आदि भाषाओं का प्रयोग भी दिखायी पड़ता है। पाठ्य के सन्दर्भ में उत्तम, मध्यम एवं अधम पात्रों द्वारा अपने समान, अपने से उत्कृष्ट तथा अपने से छोटे पात्रों के साथ किये जाने वाले सम्भाषण-प्रकार एवं सम्बोधन-प्रकार की भी चर्चा है। नाटक में गोत्र, गुण, जाति, चेष्टा और कर्म के अनुरूप नाम रखने का विधान भी उल्लिखित है। वाचिक अभिनय के प्रसंग में पाठ्य गुणों की चर्चा करते हुए इसके अन्तर्गत भरत ने सात स्वर, तीन स्थान, चार वर्ण, दो प्रकार के काकु, छह अलंकार और छह अंग का उल्लेख किया है। यहाँ

1. सात स्वर हैं - षडज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद।
2. तीन स्थान हैं - उरस्, कण्ठ और शिरस्।
3. वर्ण चार हैं - उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित।
4. काकु के दो प्रकार हैं - साकांक्ष और निराकांक्ष।
5. अलंकार छः हैं - उच्च, दीप्त, मन्द्र, नीच, द्रुत, और विलम्बित।
6. पाठ्यांग छः हैं - विच्छेद, अर्पण, विसर्ग, अनुबन्ध, दीपन और प्रशमन।

नाट्यशास्त्र में स्वर, स्थान, वर्णादि के रसगत व रसानुकूल प्रयोग की बात की गई है। नाट्यशास्त्र में वाचिक अभिनय के भेदों की मार्ग नाम से चर्चा प्राप्त होती है, जो इस प्रकार हैं- आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संलाप, अपलाप, संदेश, अतिदेश, निर्देश, व्यपदेश, उपदेश और अपदेश।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भरत ने वाचिक अभिनय के प्रसंग में भाषा-विधान, भाषा-विभेद, संबोधन-विधान, पात्र-नामकरण, पाठ्य गुणों आदि का मनोवैज्ञानिक एवं तात्त्विक विवेचन किया है। प्रयोक्ता पात्र, कविरचित गद्य या पद्यभाग को देश, काल, परिस्थिति के अनुसार भाषा, लय, ध्वनि, विराम, उच्चारणादि के अनुकूल पाठ करते हुए नाटक रसरूप परमानन्द की प्राप्ति को सम्भव बना देता है। यहाँ जहाँ पाठ्य गुण का सम्बन्ध नट से है वहीं पाठ्य गुण के अतिरिक्त शेष समस्त कथन का सम्बन्ध नाट्य की रचना करने वाले से है। अतः समस्त अभिनयकला का प्राण माना जाने वाला वाचिक अभिनय की उपयोगिता नाट्यकार, नट व सामाजिक तीनों के लिए सर्वग्राह्य है।

7.2.3 आहार्य-अभिनय

आङ् उपसर्ग पूर्वक हृ धातु से ण्यत् प्रत्यय लगकर आहार्य शब्द बनता है, जिसका अर्थ है- शृंगार या आभूषा से संप्रेषित या प्रभावित। नाट्यदर्पणकार कहते हैं कि बाह्य वस्तुओं के द्वारा किया जाने वाला वर्ण आदि का अनुकरण आहार्य अभिनय कलाता है-

टिप्पणी

वर्णाद्यनुक्रियाऽहार्यो बाह्यवस्तुनिमित्तकः।

अग्निपुराणकार इस अभिनय को बुद्धि प्रेरित अभिनय मानते हैं। आहार्य अभिनय का सम्बन्ध अनुकार्य रामादि के बाह्य उपकरणों से है। इसका मुख्य विधान नेपथ्य में सम्पन्न होता है अतः यह नेपथ्यज-विधान है। यह नेपथ्य रचना अथवा नेपथ्य द्वारा नियंत्रित विधान है। भरत का मानना है कि सभी प्रकार के अभिनय आहार्य अभिनय पर आश्रित है-

यस्मात् प्रयोगः सर्वोयमाहार्याभिनये स्थितः।
नानावस्थाः प्रकृतयः पूर्वं नेपथ्यसाधिताः।
अङ्गदिभिरभिव्यक्तिमुपगच्छन्त्ययत्नतः।।

उनका कहना है कि नेपथ्य-विधान से सुसज्जित पात्रों की नाना अवस्थाएँ एवं प्रकृतियाँ रहती हैं। अतएव बिना प्रयत्न के ही अंगादि के द्वारा भाव व्यक्त हो जाते हैं। यहाँ मुखसज्जा एवं वस्त्रभूषणों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। पात्रों की अवस्था, प्रकृति, वेश-विन्यास, अंगरचना, अलंकार, परिधान, वस्त्रभूषण तथा रंगमंच पर सजीव एवं निर्जीव तथ्यों आदि का नाट्यधर्मी प्रयोग आहार्याभिनय है। यहाँ नट देशकालादि के अनुरूप वेषभूषा धारण कर और अंगों के वर्ण-विन्यास युक्त होकर विभिन्न चेष्टाओं के द्वारा सामाजिक अथवा प्रेक्षकों के समक्ष भावों को अभिव्यक्त करता है जिससे सामाजिकों में रसानुभूति होती है। सामाजिक सर्वप्रथम मंचस्थ नटादि की वेशभूषा को देखकर ही उसे राम, सीता, दुष्यन्त, शकुन्तला समझ लेता है। वेशभूषादि के द्वारा रामसीतादि के रूप में यह पहचान या आहरण ही आहार्याभिनय है। यहाँ नानावस्थाओं को नेपथ्य में ही वर्णरचना और वेशविन्यास द्वारा आहरित किया जाता है। यथा शोक में मलिन वेश और शृंगार में उज्ज्वल वेश से विभूषित होकर पात्र रंगभूमि पर अवतरित होता है तथा अन्य अभिनय प्रकारों से सुसंयोजित उनकी भावाभिव्यक्ति को देखकर प्रेक्षकों में रसोद्रेक होता है। यह आहार्याभिनय समस्त नाटकीय व्यापार को प्रभावित करता है तथा समस्त अभिनय प्रकारों को अनुकूलता प्रदान करता है। अतः आहार्याभिनय को समस्त अभिनयों की आधारभित्ति माना जाता है। इसमें देश, काल, प्रकृति, दशा, स्त्रीत्व, पुंसत्व, षण्डत्व आदि के औचित्य पर विशेष बल प्रदान किया जाता है। आचार्य भरत कहते हैं कि नट या अभिनेता जिस अनुकार्य की प्रकृति का अभिनय करते हैं उसकी आकृति को ही अपनानी पड़ती है। यहाँ नट या अभिनेता को अपना स्वभाव छोड़कर अनुकार्य के स्वभावादि को ग्रहण करना पड़ता है तथा उस नट के द्वारा वेश और वर्ण से आच्छादित जिसके वेष का आश्रयण किया जाता है उसके भाव का भी अनुसरण करना पड़ता है अर्थात् अभिनय काल में जब नट अनुकार्य रामादि के वेश-वर्णादि को धारण करता है तो वह अपने व्यक्तित्व को अनुकार्य रामादि के व्यक्तित्व से आच्छादित कर लेता है। इस प्रकार तदनुरूप होकर रामादिवत् अपनी आत्मा को सहृदय सामाजिक के समक्ष प्रस्तुत करता है। जैसे उत्पन्न होने वाला प्राणी अपने पूर्व देह के सुख-दुःखादि स्वभाव को छोड़कर देहान्तर को प्राप्त करने वाले व्यक्ति के स्वभाव को धारण करता है उसी प्रकार अनुकर्त्ता नट अपने स्वभावगत सुख-दुःख का परित्याग कर अनुकार्य रामादि के स्वभाव को ग्रहण कर लेता है। आहार्य अभिनय इसी अनुकार्य एवं

टिप्पणी

अनुकर्त्ता के स्वभाव ऐक्य की प्रस्तुति में सहायक सिद्ध होता है। यह वेष-विन्यास देश, कालादि के साथ-साथ व्यक्तिविशेष की जीविका, शील, वर्णादि का भी अभिव्यञ्जक है। देशविशेष के अनुसार मुखसज्जा, वस्त्रभूषण, केश-विन्यासादि के होने से आहार्यविधान में विविधता स्पष्टतः दिखाई पड़ती है।

नाट्यशास्त्र में आहार्य अभिनय के चार प्रकार बताये गये हैं, वे हैं- (1) पुस्त (2) अलंकार (3) अंग रचना और (4) सञ्जीव।

1. **पुस्त-पुस्त का अर्थ है**- प्रतिरूप बनाकर प्रस्तुत करना। कहा गया है-

शैलयानविमानानि चर्मवर्मध्वजा नगाः।
ये क्रियन्ते हि नाट्ये तु स पुस्त इति संज्ञितः॥

अर्थात् नाट्य में जो शैल (पर्वत), यान, विमान तथा चर्मनिर्मित कवच, ध्वजा और हाथी आदि बनाये जाते हैं, उसे पुस्त कहा जाता है। पुस्त विधि के तीन प्रकार हैं-

1. सन्धिम विधि अर्थात् कई वस्तुओं को जोड़कर किसी वस्तु का प्रतिरूप बनाना।
2. व्याजिम अर्थात् यन्त्र विधि से होने वाला अभिनय।
3. वेष्टिम अर्थात् वस्त्रदि से लपेटकर वस्तु बनाना।

2. **अलंकार**- माला, आभूषण और वस्त्र को यहाँ अलंकार माना गया है। इसका अनेक प्रकार से समायोजन अंगोपांग विधि है। विविध अंगों और उपांगों को माला, आभूषण और वस्त्र से सुसज्जित करना अलंकार विधि है। यहाँ माला प्रयोग की पाँच विधियाँ, आभूषण के चार प्रकार एवं वस्त्र के तीन प्रकार बताये गये हैं, यथा -

1. **माला प्रयोग की विधि**- (1) वेष्टिम (2) वितत (3) संघात्य (4) ग्रन्थिम और प्रालम्बित।
2. **आभूषण प्रयोग के चार प्रकार**- (1) आवेध्य (2) बन्धनीय (3) क्षेप्य और (4) आरोप्य।
3. **वस्त्र प्रयोग के तीन प्रकार**- (1) शुद्ध वस्त्र (2) विचित्र वस्त्र और (3) मलिन वस्त्र।

3. **अंग रचना**- अंग रचना का अर्थ है- रामसीतादि अनुकार्य के अंगों के अनुरूप अनुकर्ता के अंगों की रचना करना। आचार्य भरत के अनुसार यहाँ अवस्था एवं प्रकृति को समझकर देश, जाति और वय के आधार पर अंगों की रचना करने का विधान किया गया है। अंगरचना, केशसज्जादि अभिनय के आवश्यक अंग माने जाते हैं, जिनके

टिप्पणी

मुख्य आधार हैं- देश, जाति, वय, अवस्था, प्रकृति आदि। भरत ने अंग रचना की दृष्टि से चार स्वाभाविक रंगों का उल्लेख किया है- श्वेत, पीत, नील और रक्त (लाल)।

इन विविध रंगों के सम्मिश्रण से अन्य रंगों का निर्माण होता है, यथा –

श्वेत + पीत – पाण्डु वर्ण

श्वेत + नील – कपोत (भूरा)

श्वेत + लाल – पद्म (गुलाबी)

पीत + नील – हरित (हरा)

नील + लाल – कषाय (कत्थक)

लाल + पीत – गौर

यहाँ अवस्था के अनुसार चार प्रकार के श्मश्रु कर्म, यथा – शुद्ध, श्याम, विचित्र एवं रोमश तथा पार्श्वगत या पार्श्वमौलि, मस्तकी और किरीटी नामक तीन प्रकार के शिरोवेष का भी विवेचन किया गया है। इस प्रकार यहाँ नाना प्रकृतियों से संभूत अंग रचनाओं की चर्चा की गई है।

4. **सज्जीव** – रंगमंच पर प्राणियों का प्रवेश सज्जीव कहलाता है। यह सज्जीव चतुष्पद, द्विपद और अपद के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। यहाँ उरग (सर्प) को अपद, पक्षी और मनुष्य द्विपद एवं ग्रामीण एवं जंगली पशुओं को चतुष्पाद कहा गया है। अन्ततः यथार्थ की अनुभूति एवं कलात्मक दृष्टि से सौन्दर्यबोध में समन्वय व सामञ्जस्य भरत निरूपित आहार्याभिनय है जिसके केन्द्र में रसाभिव्यक्ति है।

7.2.4 सात्त्विक अभिनय

सत्त्वगुणोऽस्यास्तीति सात्त्विकः, सत्त्वेन निवृत्तम् इति सात्त्विकः अथवा सत्त्वात् सत्त्वगुणप्रधानात् विष्णोर्भवति आदि व्युत्पत्ति-आधारित सत्त्व शब्द से ठञ् प्रत्यय लगकर सात्त्विक शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है- सत्त्व गुण से युक्त, सत्त्व गुण से सम्पन्न, आन्तरिक भावों या संवेगों का बाह्य संकेत, काव्य में भावों का एक प्रकार। नाट्यदर्पणकार सात्त्विक शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुए कहते हैं कि एकाग्र मन का नाम सत्त्व है तथा वह सत्त्व जिसका प्रयोजन अथवा हेतु है वह सात्त्विक होता है- अवहितं मनः सत्त्वं, तत् प्रयोजनं हेतुरस्येति सात्त्विकः। मन की स्थिरता न होने पर नट स्वरभेदादि का प्रदर्शन नहीं कर सकता है, इसलिए स्वरभेदादि अनुभावों का प्रदर्शन सात्त्विक अभिनय कहलाता है। स्वरभेदादि से तात्पर्य स्वरभेद के साथ-साथ कम्पन, स्तम्भ, रोमांच, मूर्छा, स्वेद, विवर्णता, आँसू, निःश्वास, उच्छवास, सन्ताप, शैत्य, जम्भाई, कृशता, स्थूलता, उल्लुकसन, आकारगोपन, सावधानता, लार या फेन गिराना, शरीर का शिथिल कर देना और हिचकी आदि से है। स्वरभेदादि अनुभावों का प्रदर्शन रस तथा उत्तम, मध्यम

टिप्पणी

और अधम प्रकृतियों के औचित्य का अनुसरण करता है। नाट्यशास्त्रकार ने भी कहा है कि सत्त्व मन से उत्पन्न होनेवाला भाव है और वह सत्त्व समाहित मन की एकाग्रता से उत्पन्न होता है। अश्रु, रोमाञ्च आदि सत्त्व के स्वभाव हैं जिसका अभिनय अन्यमनस्क होकर नहीं किया जा सकता है क्योंकि नाट्य में लोकस्वभाव का अनुकरण किया जाता है जिसमें सत्त्व की अपेक्षा की जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि रोमांच, अश्रु आदि मूल प्रकृति का स्वाभाविक अभिनय दूसरे मन से अन्यमनस्क ढंग से ही संभव हो सकता है। उसे सम्भव बनाना अत्यन्त कठिन है। नाटक में अभिनय करने वाला व्यक्ति दु:खी हो या सुखी - इससे उसकी भूमिका का सम्बन्ध नहीं होता है। उसे तो रंगमंच पर संवाद में निहित भाव के अनुरूप प्रदर्शन करना पड़ता है। नाटक में यथार्थ एवं स्वाभाविक स्थिति को उत्पन्न करने के लिए नट को सत्त्व के स्वरूप का अनुसरण करना पड़ता है -

सत्त्वं नाम मन: प्रभवम्। मनस समाधौ सत्त्वनिष्पत्तिर्भवति॥

सात्त्विक भाव आठ हैं-

स्तम्भ: स्वेदोऽथ रोमाञ्च: स्वरभेदो वेपथु:। वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मता:॥

अर्थात् स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। प्रत्येक के उत्पन्न होने के कारण इस प्रकार हैं-

1. **स्तम्भ**- हर्ष, भय, शोक, विस्मय, विषाद और रोष।
2. **स्वेद**- क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दु:ख, श्रम, रोग, ताप, घात, व्यायाम, क्लेश, धूप तथा संपीडन।
3. **रोमाञ्च**- स्पर्श, भय, शीत, हर्ष, क्रोध तथा रोग।
4. **स्वरभेद**- भय, हर्ष, क्रोध, जरा, रुक्षता, रोग और मद।
5. **वेपथु**- शीत, भय, हर्ष, रोष, स्पर्श।
6. **वैवर्ण्य**- शीत, क्रोध, भय, श्रम, रोग, क्लान्ति और ताप।
7. **अश्रु** - आनन्द, अमर्ष, धूम, अञ्जन, जृम्भण, भय, शोक, निर्निमेष दृष्टि, शीत और रोग।
8. **प्रलय** - श्रम, मूर्च्छा, मद, निद्रा, घात एवं मोह।

सात्त्विक भावों का अभिनय करने वाले पुरुष के आठ गुण इस प्रकार हैं - शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, स्थिरता, तेज, ललित और औदार्य।

नायिकाओं के अलंकरण के रूप में दो प्रकार के सात्त्विक अलंकारों की भी चर्चा की जाती है, वे हैं - यत्नज और अयत्नज। यहाँ यत्नज अलंकार के दो प्रकार बताये जाते हैं - शरीरज

टिप्पणी

और स्वाभाविक। शरीरज अलंकार संख्या में तीन हैं, जबकि स्वाभाविक अलंकार सात हैं -

1. **शरीरज अलंकार**- हाव, भाव और हेला।

2 **स्वाभाविक अलंकार**- शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता औदार्य और धैर्य।

नाट्य की दृष्टि से सात्त्विक अभिनय सभी अभिनयों में श्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि अव्यक्त को व्यक्त कर दिखाना कठिन होता है। प्रधानता-अप्रधानता की दृष्टि से सात्त्विक अभिनय की प्रधानतावाला ज्येष्ठ, अपेक्षाकृत कम स्थान वाला मध्यम और अभाव होने पर अधम समझा जाता है।

7.3 आधुनिक नाटकों में आये अभिनयगत परिवर्त्तन

आधुनिक काल में अभिनय की नयी पद्धतियों का प्रचलन स्पष्टत: दिखाई नहीं पड़ता है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि वर्तमान अभिनय पद्धति पाश्चात्य अभिनय पद्धति से न्यूनाधिक रूप में प्रभावित है। अभिनय पद्धति में जेश्चर, पौश्चर, गेट, स्पीड और स्पीच जैसी जिन पाश्चात्य पद्धतियों के दर्शन होते हैं उनसे आधुनिक भारतीय अभिनय पद्धति भी कहीं न कहीं प्रभावित दिखती हैं। जेश्चर का आशय है- विभिन्न प्रकार की मुखमुद्राओं द्वारा भावों का प्रदर्शन। पौश्चर का अभिप्राय है- हाथ, पैर, मुट्ठी, ऊँगली, कमर आदि अंगों का संचालनादि। गेट और स्पीड से तात्पर्य है- अभिनेताओं के चलने की गति और वेग। विभिन्न पात्रों के चलने की गति भिन्न-भिन्न होती है। उनके वेग अलग-अलग होते हैं। सज्जन पात्रों के चलने में जो गंभीरता और स्पष्टता यहाँ दिखाई पड़ती है वह दुर्जन पात्रों में दिखाई नहीं पड़ती है। स्पीच के अन्तर्गत वे सारी विशेषताएँ निहित हैं, जो वाचिक अभिनय में हैं। शब्दों के उच्चारण का बड़ा महत्त्व होता है। दर्शक को सम्यक् अर्थ का बोध हो, इसके लिए अभिनेताओं को बड़ी सतर्कता से अपने संवादों को बोलना पड़ता है। सूक्ष्म रूप से भारतीय एवं पाश्चात्य अभिनय पद्धति का अवलोकन करने पर हमें सहज ही ज्ञात हो जाता है कि आधुनिक अभिनय पद्धति में कहीं-कहीं दोनों का सम्मिश्रित स्वरूप दिखाई पड़ता है। विशेषकर जेश्चर एवं पौश्चर में कृत्रिमता अधिक दिखाई पड़ती है। उसी तरह आधुनिक अभिनय में गेट और स्पीड पर अधिक बल दिया जाता है। प्रत्येक स्थिति में इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि सभी प्रकार के अभिनयों में स्वाभाविकता का पूर्ण निर्वाह हो। स्वाभिकता का स्थान अब कृत्रिमता लेने लगी है। यह ठीक है कि बनाकर बोलने से अथवा प्रदर्शन की अन्य विधियों में कृत्रिमता लाने से नाटक का प्रभाव बढ़ने के बदले घट जाता है। लेकिन आज यह प्रवृत्ति भी देखी जा रही है। आधुनिक कालीन अभिनय पात्रों के कार्य तक ही सीमित हो गया है- जो प्राचीन अभिनय पद्धति एवं आधुनिक अभिनय पद्धति के मध्य एक स्पष्ट अन्तर को दर्शाता है। वर्तमान में अभिनय ही सब कुछ है, जिसमें बाह्य आकृति की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। प्राचीन अभिनय का मूल सम्बन्ध आन्तरिक भावों से था। यहाँ रसनिष्पत्ति और साधारणीकरण का उद्देश्य ही मुख्य था जबकि आज का अभिनय विचाराभिव्यक्ति और रसोद्रेक तक ही सीमित

टिप्पणी

रह जाता है। आज कम ही अभिनेता ऐसे हैं, जो अभिनय की सूक्ष्मता से परिचित होकर नाटक में निहित भाव को दर्शक तक रसरूपता की स्थिति में पहुँचाने में समर्थ होते हैं। युग, समाज, देश, रीति, नीति, संस्कृति, सभ्यतादि अभिनय को प्रभावित करते हैं। आज युगपरिवर्तन के अनुसार नये-नये प्रसाधनों का प्रचार हो रहा है। शरीराङ्गादि को रंगने के लिए अनेक नवीन विधियाँ अपनायी जाती है। वेशविन्यास के लिए नवीन नाटकीय परिवेश का ध्यान रखना पड़ता है। वस्तुतः अभिनय एक प्रकार के युगसापेक्ष क्रिया है जिसमें अभिनयकालीन देश, काल, स्थिति, मानस, लोकव्यवहारादि स्पष्टतः प्रतिबिम्बित होता है। अभिनय की प्राचीन पारम्परिक शास्त्रीय पद्धति आज भी सशक्त रूप में अपनी स्थिति को बनाये हुए है। कहीं-कहीं कतिपय व्यतिक्रम अवश्य दिखाई पड़ते हैं। किन्तु वह व्यतिक्रम युगावश्यकतानुरूप ही हैं।

पाठगत प्रश्न 7.1

1. दृश्य काव्य से आप क्या समझते हैं?

   ....

2. नाट्यवेद की रचना के लिए आवश्यक तत्त्व कहाँ से ग्रहण किये गये?

   ....

3. अभिनय कितने प्रकार का होता है?

   ....

4. आङ्गिक अभिनय के स्वरूप का निरूपण कीजिए।

   ....

5. वाचिक अभिनय से आप क्या समझते हैं? विवेचन कीजिए।

   ....

6. आहार्य अभिनय के स्वरूप एवं भेदों की चर्चा कीजिए।

   ....

7. सात्त्विक अभिनय से आप क्या समझते हैं? सात्त्विक भावों का उल्लेख कीजिए।

   ....

8. आधुनिक नाटकों में आये कतिपय अभिनयगत परिवर्तनों पर प्रकाश डालिए।

   ....

आपने क्या सीखा

- नाट्य के लिए चार आवश्यक तत्वों में अभिनय प्रमुख है।
- अभिनय चार प्रकार का होता है- आङि्गक, वाचिक, आहार्य और सात्विक
- शरीर के विभिन्न अङ्गों द्वारा प्रदर्शित किया जाने वाला अभिनय आङि्गक, अभिनय होता है।
- वाणी से संबंधित अभिनय वाचिक अभिनय कहलाता है।
- बाह्य वस्तुओं के द्वारा किया जाने वाला वर्ण आदि का अनुकरण आहार्य अभिनय कहलाता है।
- सत्व गुण से युक्त आंतरिक भावों की अभिव्यक्ति सात्विक अभिनय कहलाता है।

पाठान्त प्रश्न

1. अभिनय से आप क्या समझते हैं?
2. अभिनय के चारों प्रकारों का वर्णन कीजिए?
3. आहार्य अभिनय के चार प्रकारों का वर्णन कीजिए?
4. आधुनिक नाटकों में आये अभिनय भगत परिवर्तनों पर चर्चा कीजिए?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

7.1

1. अभिनय काव्य को दृश्य काव्य कहते हैं,
2. वेद से
3. चार प्रकार का
4. शरीर के विभिन्न अंङ्गों द्वारा किया जाने वाला अभिनय आङि्गक अभिनय कहलाता है।
5. वाणी (वाक्) से संबंधित अभिनय वाचिक अभिनय कहलाता है।

मॉड्यूल-3

रस विमर्श

प्रस्तुत मॉड्यूल में रस की अवधारणा, रस-सूत्र का परिचय तथा विभिन्न मत और सहृदय की अवधारणा को प्रस्तुत किया गया है।

8. रस की अवधारणा

9. रससूत्र का परिचय तथा सहृदय की अवधारणा

8

रस की अवधारणा

प्राय: हम देखते हैं किसी पुस्तक के अध्ययन, संगीत को सुनने और किसी चलचित्र या नाटक को देखने से हमें आनन्द मिलता है और इस आनन्द को पुन: पुन: अनुभव करने के लिए ही उस पुस्तक, संगीत, नाटक या चलचित्र के प्रति हमारी प्रवृत्ति स्वभाविक होती जाती है। जीवन के सामान्य प्रसंगों का यह आनन्द या सुख ही रस का पर्याय है। किसी की सुन्दर, आनन्द देने वाली कौतूहलवर्धक, चमत्कारपूर्ण बातों को सुनकर या दृश्य को देखकर प्राय: लोग कहा करते हैं कि बड़ा रस आया। इसी प्रकार कथावार्त्ता या मनोरंजक प्रसंगों के सम्बन्ध में भी प्राय: रस की चर्चा होते देखी जाती है। इस प्रकार यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि रस का अर्थ अवश्य ही आनन्द है।

रस जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और कार्य में व्याप्त है। इसलिए रस के विषय में जानना और उसके सम्यक् स्वरूप को समझना आवश्यक है। प्रस्तुत पाठ में हम रस पर विशद दृष्टिपात करने का प्रयास करेंगे।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरान्त आप-

- रस की अवधारणा को जानते हैं;
- विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों को जानते हैं;
- रस के प्रकार और लक्षण को समझते हैं; और
- नाट्य में रस के महत्व और उसकी अनिवार्यता को जानते हैं।

टिप्पणी

8.1 रस का स्वरूप एवं परिभाषा

भारतीय साहित्य में 'रस' शब्द का व्यवहार बहुत प्राचीन काल से होता आ रहा है। साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों में रस का प्रथम उल्लेख भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में मिलता है। वहाँ रंगमंच पर अभिनीत नाटक के दर्शन से प्राप्त होने वाला आनन्द 'रस' कहा गया है। आचार्य भरत नाट्यशास्त्र में विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारीभाव के संयोग से रसनिष्पत्ति को परिभाषित करते हैं। उनका रससूत्र है- **विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।**

भरत के रससूत्र को आधार बनाकर रस की सर्वाधिक सरल और स्पष्ट परिभाषा आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' में प्रस्तुत की है। उनके अनुसार सहृदयों के हृदय में वासना या संस्काररूप से अव्यक्त अवस्था में विद्यमान स्थायी भाव विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से संयोग प्राप्त कर रसता को प्राप्त होता है। इसी को अधिक स्पष्ट रूप में इस प्रकार समझा जा सकता है कि सहृदयों के हृदय का स्थायी भाव (रति, शोक, हास, क्रोध, भय आदि) जब विभाव (नायक-नायिका) आदि आलम्बन विभाव और वीणा-वाद्य, गीत, चन्द्रज्योत्स्ना, शीतल सुगन्धित वायु आदि उद्दीपन विभाव (अश्रु, स्वेद, कम्प आदि शारीरिक चेष्टाओं), व्यभिचारी भाव (हर्ष, मद, उत्कण्ठा, असूया आदि) का संयोग प्राप्त कर लेता है तो आस्वादरूप श्रृंगार, हास्य, वीर, रौद्र आदि रसों के रूप में परिणत हो जाता है।

"रस्यते आस्वाद्यते इति रसः" जिसका आस्वादन किया जाए वह रस कहलाता है। जिस प्रकार व्यक्ति विविध प्रकार के भोज्य पकवानों के सेवन से हर्षादि का अनुभव करता है। ठीक उसी प्रकार नाटकादि के माध्यम से सहृदय को जो विशिष्ट आनन्द प्राप्त होता है वही रस कहाता है।

रस का शाब्दिक अर्थ है- 'आनन्द'। कविता, कहानी, उपन्यास आदि के पढ़ने, सुनने एवं नाटक, रामलीला आदि के देखने से "सहृदय" पाठक, श्रोता और दर्शक को जिस चमत्कारपूर्ण असाधारण आनन्द की प्राप्ति होती है, वही रस कहलाता है। व्यावहारिक रूप में इस प्रकार समझा सकते हैं कि किसी हृदयग्राही प्रेम-प्रसंग को पढ़कर हमारा हृदय कुछ समय के लिए आत्म-विभोर हो जाता है अर्थात् उस प्रसंग में लीन हो जाता है। किसी युद्ध के ओजपूर्ण वर्णन को काव्य में पढ़कर या रंगमञ्च पर देखकर दर्शक के भुजदण्ड फड़कने लगते हैं। यह अनुभूति इसलिए होती है कि रति, क्रोध, उत्साह आदि भाव वासना या संस्कार के रूप में नित्य उसके हृदय में विद्यमान रहते हैं। हृदयग्राही प्रेम-प्रसंग को पढ़कर या युद्ध के ओजपूर्ण वर्णन को सुनकर उसके हृदय के वे ही भाव जागृत हो जाते हैं और जब उस भाव का जिसे काव्य में स्थायी भाव की संज्ञा दी जाती है, परिपाक हो जाता है, अर्थात् उचित कारणों से जाग्रत होकर जब यह पुष्ट हो जाता है, वही रस-रूप में परिणत होकर दर्शक के हृदय को आत्मविभोर बनाता है। इस प्रकार वह तत्त्व जो नाटक के अवलोकन के समय नाटकीय विषय से अभिन्न कर तल्लीन बना देता है, रस है। काव्य या नाट्य का मूल प्रयोजन रस-रूप आनन्द की प्राप्ति ही है।

टिप्पणी

रस का स्वरूप इस प्रकार है-

1. रस अखण्ड है। इसका तात्पर्य यह है कि रस स्थायी भाव, विभाव, अनुभावादि अनेक तत्त्वों से निर्मित होने पर भी उनका पृथक्-पृथक् अनुभव नहीं है अपितु इन सबका समन्वित रूप है। उदाहरण के लिए नाटक में राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहिताश्व के मरण का दृश्य देखकर जो व्याकुलता दर्शक को अनुभूत होती है उसका कारण न तो केवल रानी शैव्या का करुण रुदन-विलाप है, न रोहिताश्व का मृत शरीर, न शैव्या के हृदय में उत्पन्न पीड़ा, दु:ख, शोक, मोह आदि के भाव और न ही उसके शरीर में होने वाले विकार आँसू, दीर्घ नि:श्वास आदि; अपितु इन सबके सम्मिलित अखण्ड रूप से ही रस प्राप्त होता है।

2. रस स्वप्रकाशानन्द है। जिस प्रकार सूर्य को दिखाने के लिए अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं, उसी प्रकार रस को दिखाने के लिए भी अन्य साधन अपेक्षित नहीं हैं। वह स्वयं ही प्रकाशित होता है। अर्थात् रस इन्द्रियों से प्राप्त सुख की कोटि का नहीं है। इसमें ऐन्द्रिय अनुभूति का अभाव रहता है।

3. रस चिन्मय है। इसका अर्थ यह है कि रस सचेतन और प्राणवान् आनन्द है, जड़ नहीं। यह निद्रा, मद्यपान, द्यूतक्रीड़ा इत्यादि ऐन्द्रिय सुख से भिन्न है।

4. रस वेद्यान्तरस्पर्श शून्य है अर्थात् रस-रूप आनन्द की अनुभूति के समय किसी दर्शक को किसी बाहरी सांसारिक घटना का ज्ञान नहीं होता है। दर्शक अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व को भूल जाता है। उसे यह भान नहीं रहता कि वह कौन है? कहाँ बैठा है? यथा- रामायण में सीता-परित्याग का दृश्य देखते समय दर्शक केवल राजा के कर्त्तव्य भाव और पत्नी का पति के प्रति तथा पति का पत्नी के प्रति आदरयुक्त स्नेह अनुभव कर उसमें तल्लीन रहता है।

5. रस ब्रह्मानन्द सहोदर है अर्थात् ब्रह्मानन्द की कोटि का है, परन्तु ब्रह्मानन्द नहीं है। इसमें सहृदय थोड़ी देर के लिए बाहरी अनुभूतियों से विमुक्त होता है। काव्य या नाटक से प्राप्त आनन्द एक और ब्रह्म के साक्षात्कार से प्राप्त आनन्द से तथा दूसरी ओर लौकिक आनन्द दोनों से भिन्न है। वह न तो लौकिक रमणी आदि से प्राप्त सुख के समान है, न ब्रह्म के साक्षात्कार से प्राप्त अलौकिक आनन्द के समान, बल्कि यह लोकोत्तर है।

   ब्रह्मानन्द प्राप्त करने वाला सांसारिक सम्बन्धों तथा ऐन्द्रिय विकारों से सदा के लिए मुक्त हो जाता है जबकि नाटक का द्रष्टा केवल कविता पढ़ते या नाटक देखते समय उसके आनन्द में डूबता है। कविता-पाठ व नाटक समाप्ति के बाद वह पुन: सांसारिक राग-द्वेष के जाल में फँस जाता है। सहृदय पाठक के भावों का परिष्कार होता है, उनके सदा के लिए मुक्ति नहीं होती, लौकिक भावनाओं से मानव को सुख भी मिलता है और दु:ख भी पर काव्य रस केवल सुखात्मक है। हाँ, यह सुख सामान्य कोटि का न होकर

अधिक उदात्त और उत्कृष्ट कोटि का होता है। इसलिए वह विषयों से प्राप्त आनन्द भी नहीं तथा ब्रह्मानन्द भी नहीं, अपितु इन दोनों से विलक्षण आनन्द है।

6. आनन्दमय लोकोत्तरचमत्कार ही रस का जीवन है। इसका अर्थ यह है कि रस भौतिक आनन्द नहीं, अलौकिक और असाधारण आनन्द है। इसे इन्द्रियों के माध्यम से अनुभव नहीं किया जा सकता।

टिप्पणी

इस प्रकार रस काव्य या नाटक का आस्वाद है। यह आस्वाद आनन्दमय है-अर्थात् आनन्द-चेतना है ।

पाठगत प्रश्न 8.1

1. नाट्यरस का सर्वप्रथम वर्णन कहाँ प्राप्त होता है?
2. नाट्यशास्त्र ग्रन्थ के कर्त्ता आचार्य कौन हैं?
3. रससूत्र क्या है?
4. रस को आनन्द कैसे कह सकते हैं?
5. रस की परिभाषा क्या है?
6. रस के स्वरूप से आप क्या समझते हैं?
7. रस की अखण्डता का क्या अर्थ है?
8. रस के वेद्यान्तरस्पर्श शून्य होने से आपको क्या समझ आता है?
9. रस ब्रह्मानन्द क्यों नहीं है?
10. रस की लोकोत्तरचमत्कारप्राणता का क्या अभिप्राय है?

8.2 रस के अवयव/अंग

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।

यह पाठ के आरम्भ में कहा जा चुका है कि भरत के रससूत्र के अनुसार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति है। रसनिष्पत्ति के स्वरूप को समझने से पहले विभाव, अनुभाव, संचारीभाव एवं स्थायी के विषय को जानना बहुत आवश्यक है। ये रसनिष्पत्ति के अवयव माने जाते हैं, जिन्हें रस के अंग या घटकतत्त्व भी कहते हैं।

स्थायी भाव- सहृदय के हृदय में सदैव स्थायी (स्थिर) रूप से विद्यमान रहने वाले भाव 'स्थायी' भाव कहलाते हैं जो रस रूप में परिणत होते हैं। ये अनुकूल विभावादि की उपस्थिति में उद्‌बुद्ध होते हैं एवं विभावादि में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। अर्थात् सहृदय के अन्त:करण में जो मनोविकार वासना या संस्कार-रूप में सदा विद्यमान रहते हैं तथा जिन्हें अन्य कोई भी विरोधी अथवा अविरोधी भाव दबा नहीं सकता, उन्हें स्थायी भाव कहते हैं। इन स्थायी भावों की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:

1. स्थायी भाव ही रसरूप में परिणत होता है।

2. स्थायी भाव रस का मूल आधार हैं, लेकिन रस नहीं हैं।

3. स्थायी भाव मानव-चित्त में चिरकाल तक अचलायमान और स्थिर रहते हैं।

4. स्थायी भाव मानव-चित्त की वासनाएँ अथवा संस्कार हैं। ये सब मनुष्यों में होते हैं और उसी प्रकार छिपे रहते हैं जैसे-दूध में मक्खन।

5. कोई विरोधी या अविरोधी भाव इनका लोप करने में समर्थ नहीं हो सकता।

6 स्थायी भाव अन्य भावों को भी अपने में विलीन कर लेते हैं।

भरत ने स्थायी भावों की संख्या सामान्यत: आठ मानी गई है- (1) रति, (2) हास, (3) शोक, (4) उत्साह. (5) क्रोध, (6) भय, (7) जुगुप्सा, (8) विस्मय । कुछ आचार्यों ने 'शम', 'वत्सलता' और 'भक्ति' नामक स्थायी भावों की भी सत्ता मानी है। कुछ आचार्य शम के स्थान पर निर्वेद को स्थायी मानते हैं किन्तु नाटक की दृष्टि से आठ ही स्थायी भाव मान्य हैं।

यों तो मानव-मन के भाव असंख्य है, परन्तु ऊपर दी गई भावों की विशेषताएँ जिन भावों में विद्यमान है, केवल उन्हीं की संज्ञा स्थायी भाव है, शेष की नहीं। इसी दृष्टि से स्थायी भावों की संख्या निर्धारित की गई है।

विभाव- विभाव का अर्थ है कारण। 'विशेषेण भाव्यते इति विभाव:' सहृदय के हृदय में वासना या संस्कार-रूप से मूलत: स्थित स्थायी भावों को उद्‌बोधित करने वाले कारणों को विभाव कहते हैं। ये स्थायी भावों का विभावन अर्थात् बोधन कराते हैं, आस्वादयोग्य बनाते हैं। आचार्य विश्वनाथ विभावों की परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि लोक में रति, हास, शोक आदि स्थायी भावों को जागृत करने वाले जब काव्य या नाटक में वर्णित होते हैं, तो विभाव कहलाते हैं।

टिप्पणी

विभाव के दो भेद हैं:-

(1) आलम्बन विभाव और (2) उद्दीपन विभाव।

आलम्बन विभाव- भावों का उद्‌गम यद्यपि आश्रय में होता है, पर उनका सम्बन्ध किसी बाह्यवस्तु से होता है, जिसके कारण भाव का उद्‌गम होता है। अतएव भावों का उद्‌गम जिस मुख्य पात्र या वस्तु के कारण होता है, वह नाट्यादि की दृष्टि से आलम्बन कहा जाता है। ये भावों के जागृत होने के मुख्य कारण है। आलम्बन की शास्त्रीय परिभाषा इस प्रकार दी गई है कि काव्य-नाटकादि में वर्णित जिन पात्रों का आलम्बन लेकर सामाजिक के हृदय में स्थित रत्यादि स्थायी भाव रस-रूप में अभिव्यक्त होते हैं, उन्हें आलम्बन विभाव कहते हैं। आलम्बन विभाव के भी दो भेद हैं:

1. **विषय**- जिस पात्र के प्रति भाव जागृत होते हैं, वह विषय है। साहित्य-शास्त्र में प्राय: इस विषय-रूप आलम्बन विभाव को ही 'आलम्बन' कहा जाता है। उदाहरणस्वरूप- पुत्र रोहिताश्व की मृत्यु पर हरिश्चन्द्र के विलाप करने के प्रसंग में रोहिताश्व 'विषय' अथवा 'आलम्बन' है। वही हरिश्चन्द्र के हृदय में शोक-भाव प्रकट करने से मुख्य कारण है।

2. **आश्रय**- जिस पात्र में भाव जागृत होते हैं, वह आश्रय कहलाता है। उदाहरणार्थ- पूर्वोक्त उदाहरण में हरिश्चन्द्र आश्रय है। पुत्र की मृत्यु से उनमें ही शोक उत्पन्न होता है।

   एक अन्य उदाहरण से भी इसे समझ सकते हैं। रामकथा के पुष्पवाटिका के प्रसंग में सीता को देखकर सीता के प्रति राम के हृदय में रति भाव जागृत होता है। यहाँ सीता आलम्बन है, क्योंकि उन्हीं के प्रति राम का रति-भाव जागृत हुआ। राम यहाँ आश्रय हैं। ये आलम्बन और आश्रय सहृदय के स्थायी भावों को रसावस्था तक पहुँचाने के कारण होने से 'आलम्बन-विभाव' हैं।

   उद्दीपन विभाव- स्थायी भाव को जागृत करने में सहायक-भूत कारण उद्दीपन-विभाव कहलाते हैं। इनको उद्दीपन इस लिए कहा गया है क्योंकि ये स्थायी भाव को उद्दीप्त करने वाले कारण हैं।आचार्य विश्वनाथ के अनुसार जो रस को उद्दीप्त करते हैं अर्थात् रत्यादि स्थायी भावों को उद्दीप्त करके आस्वादन-योग्य बनाते हैं और इस प्रकार उन्हें रसावस्था तक पहुँचाते हैं, वे उद्दीपन-विभाव हैं। जैसे- वीर रस के स्थायी भाव उत्साह के लिए सामने खड़ा हुआ शत्रु आलम्बन विभाव है। परन्तु शत्रु के साथ सेना, युद्ध के बाजे और शत्रु की दर्पोक्तियाँ, गर्जना तर्जना, शस्त्र-संचालन आदि उद्दीपन विभाव हैं।

उद्दीपन विभाव भी दो प्रकार के माने गये हैं-

1. आलम्बनगत अर्थात् जो नायक-नायकादि पात्रों की उक्तियों और चेष्टादि से सम्बन्धित हैं।

टिप्पणी

2. बाह्य अर्थात् वातावरण से सम्बन्धित। जिनका सम्बन्ध देशकालादि से है। प्राकृतिक दृश्यों की गणना भी इन्हीं के अन्तर्गत होती है।

इन आलम्बनगत और बाह्य उद्दीपन विभावों को क्रमशः विषयगत और बहिर्गत भी कहा गया है। यथा-निर्जन वन में अंधकारपूर्ण-रात्रि के समय सिंह को देखकर कोई व्यक्ति भयभीत हो गया। इस दृश्य में भयभीत व्यक्ति श्आश्रयश कहलाएगा, उसी में भय का भाव उत्पन्न हुआ और सिंह 'विषय' (आलम्बन) होगा क्योंकि उसके प्रति आश्रय के मन में भय का भाव उत्पन्न हुआ है। अब सुनसान जंगल, अंधकारपूर्ण-रात्रि (बाह्य वातावरण) एवं सिंह का गर्जन, उसकी भयंकर-मुखाकृति, खुला मुख, झपट्टा मारते हुए बड़े बड़े पंजे (आलम्बन की बाह्यचेष्टायें) भय के भाव को तीव्रतर बनाने से उद्दीपन विभाव हैं।

अनुभाव- रति, शोक, हास आदि स्थायी भावों को प्रकाशित या व्यक्त करने वाली आश्रय की बाह्य चेष्टाएँ अनुभाव कहलाती हैं। 'अनु पश्चात् भवन्ति इति अनुभावा:' ये चेष्टाएँ भाव-जागृति के उपरान्त आश्रय में उत्पन्न होती हैं, इसलिए इन्हें 'अनुभाव' कहा जाता है। इनकी व्याख्या में आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि "लोक में विषय और देश-काल आदि कारणों से उत्पन्न होकर उस भावों को बाहर प्रकाशित करने वाली आश्रय की कार्य रूप चेष्टाएँ काव्य-नाटकादि में निबद्ध होकर अनुभाव कहलाती हैं। विरह-व्याकुल नायक द्वारा सिसकियाँ भरना, मिलन के भावावेश में अश्रु, स्वेद, रोमांच, अनुराग सहित देखना, क्रोध जागृत होने पर शस्त्र-संचालन, कठोर वाणी, आँखों का लाल हो जाना आदि अनुभाव कहे जायेंगे।

अनुभाव चार प्रकार के हैं- आङ्गिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक। इनमे आङ्गिक, वाचिक तथा आहार्य में आश्रय को प्रयत्न करना पडता है। इसलिए इन्हें सयत्नज अनुभाव भी कहते है। सात्त्विक अनुभाव स्वतः ही उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः सात्त्विक अनुभाव का आधिक्य आश्रय के हृदय में स्थित रति आदि भाव को प्रकट करने में सर्वाधिक सहायक होता है, अन्य अनुभाव बाह्य होते हैं तथा सात्विक अनुभाव आन्तरिक होता है ये मन की एकाग्रता के बिना सम्भव ही नहीं हैं। जैसे- अपराधबोध होने पर चेहरे का रंग उडना, बहुत अधिक हर्ष होने पर रोमाञ्च होना या डर लगने पर स्वर,शरीर आदि में कम्पन्न होना।

1. आङ्गिक अनुभाव- आश्रय की शरीर सम्बन्धी चेष्टाएँ आङ्गिक अथवा कायिक अनुभाव कही जाती हैं, जैसे रति भाव के जागृत होने पर भ्रु-विक्षेप, कटाक्ष आदि।

2. वाचिक अनुभाव- प्रयत्नपूर्वक किये गये वाग्व्यापार (वाणी का व्यापार) को वाचिक अनुभाव कहते हैं।

3. आहार्य अनुभाव- राम आदि के समान वेशभूषा, मुकुट आदि कृत्रिम वेष-रचना को आहार्य अनुभाव कहा जाता है।

4. सात्त्विक अनुभाव- स्थायी भाव के जागृत होने पर स्वाभाविक, अकृत्रिम, अयत्नज अंगविकार को सात्त्विक अनुभाव कहते हैं। इनके लिए आश्रय को कोई बाह्य चेष्टा नहीं करनी पड़ती, इसीलिए वे अयत्नज कहे जाते हैं। ये स्वतः प्रादुर्भूत होते हैं और इन्हें रोका भी नहीं जा सकता। सात्त्विक अनुभाव आठ हैं- (1) स्तम्भ, (2) स्वेद, (3) रोमाञ्च, (4) स्वरभङ्ग, (5) वेपथु, (6) वैवर्ण्य, (7) अश्रु और (8) प्रलय।

व्यभिचारी भाव- व्यभिचारी भाव स्थिर न रहने वाली चित्तवृत्तियाँ हैं। 'विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः' ये रस के प्रति उन्मुख होकर विशेष रूप से विचरण करते हैं और स्थायी भाव में इस प्रकार डूबते और उतराते हैं, जिस प्रकार समुद्र में तरंगे। ये विभाव और अनुभाव की अपेक्षा से विभिन्न रसों में अनुकूल होकर विचरण करते हैं। इसलिए इनको सञ्चारी भाव भी कहते हैं। सञ्चारी शब्द का अर्थ है साथ-साथ चलना । सञ्चारी भाव स्थायी भावों के साथ संचरण करते हैं, इसीलिए इनका नाम सञ्चारी है। ये सञ्चारी भाव प्रत्येक स्थायी भाव के साथ उसके अनुकूल बनकर चल सकते हैं, अर्थात् एक ही रस में अनेक सञ्चारी भावों की तथा एक ही सञ्चारीभाव की अनेक रसों में स्थिति सम्भव है। इसलिए भी इन्हें व्यभिचारी भाव कहा जाता है। जैसे- उदासीनता सञ्चारी भाव,शृंगार, रौद्र आदि एकाधिक रसों में भी हो सकता है।

व्यभिचारी भावों की संख्या तैंतीस निर्धारित है। जो इस प्रकार हैं- (1) निर्वेद, (2) ग्लानि, (3) शङ्का, (4) श्रम, (5) धृति, (6) जड़ता, (7) हर्ष, (8) दैन्य, (9) औग्र्य, (10) चिन्ता, (11) त्रास, (12) ईर्ष्या, (13) अमर्ष, (14) गर्व, (15) स्मृति, (16) मरण, (17) मद, (18) सुप्त, (19) निद्रा, (20) विबोध,(21) व्रीडा, (22) अपस्मार, (23) मोह, (24) मति, (25) अलसता, (26) वेग, (27) तर्क, (28) अवहित्था, (29) व्याधि, (30) उन्माद, (31) विषाद, (32) उत्सुकता तथा (33) चपलता।

8.3 स्थायी भाव एवं व्यभिचारी भाव में अन्तर

स्थायी भाव मानव हृदय में नित्य विद्यमान रहते हैं अर्थात् स्थायी रूप से निवास करते हैं। इसके विपरीत केवल थोड़ी देर के लिए स्थायी भाव को पुष्ट करने के निमित्त सहायक रूप से रहने और तुरन्त लुप्त हो जाने वाले भाव व्यभिचारी हैं।

प्रत्येक रस का स्थायी भाव नियत है जबकी व्यभिचारी भाव की स्थिति अनियत है अर्थात् भिन्न-भिन्न रसों में एक ही व्यभिचारी भाव सम्भव है किन्तु नियत रस का स्थायी भाव अन्य रस में स्थिति नहीं रख सकता।

स्थायी भाव ही आस्वाद्य होकर रस रूप में परिणत होता है। जबकि व्यभिचारी भाव का मुख्य कार्य स्थायी भाव को ही पुष्ट करना है और ये स्थायी भाव में ही विलीन हो जाते हैं।

टिप्पणी

लोक में रत्यादि भावों के जो कारण, द्योतक अथवा पोषक हैं, वे काव्य-नाटकादि में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी नाम से अभिहित किये जाते हैं। काव्य-निबद्ध हो जाने पर कारण-कार्यादि सम्बन्धों से मुक्त होकर इनका लौकिक रूप नष्ट हो जाता है और अलौकिक विभावन, अनुभावन और संचरण की प्रधानता से किसी स्थायी भाव को "रस" रूप बनाने में सहायक बनते हैं

पाठगत प्रश्न 8.2

1. रसनिष्पत्ति के कितने अवयव हैं?
2. स्थायी भाव को 'स्थायी' क्यों कहा जाता है?
3. क्या स्थायी भाव ही रस है?
4. स्थायी भाव कितने हैं?
5. आप विभाव को 'कारण' कैसे कह सकते हैं?
6. विभाव कितने प्रकार का है?
7. आलम्बन विभाव से आप क्या समझते हैं?
8. उद्दीपन विभाव की यह संज्ञा क्यों है?
9. अनुभाव क्या है?
10. अनुभाव को अनुभाव ही क्यों कहा जाए?
11. क्या आप अनुभाव के भेद जानते हैं?
12. आङ्‍गिक, वाचिक तथा आहार्य बाह्य अनुभाव क्यों हैं?
13. सात्त्विक अनुभाव अयत्नज क्यों हैं?
14. सात्त्विक भाव कितने प्रकार के हैं?
15. व्यभिचारी भाव से आप क्या समझते हैं?
16. व्यभिचारी भावों को सञ्चारी भाव क्यों कहा जाता है?
17. व्यभिचारी भावों के कितने भेद हैं?

टिप्पणी

18. व्यभिचारीभाव और स्थायी भाव में मुख्य अन्तर क्या है?

रस-संख्या- आरम्भ में भरत मुनि ने नाटकीय महत्त्व की दृष्टि से आठ रसों को ही महत्त्वपूर्ण मानते हुए केवल इन्हीं की गणना रसों में की-

श्रृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्‌भुतसञ्ज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥

कालान्तर में सर्वप्रथम अभिनवगुप्त ने शान्त नामक नवम रस की उद्‌भावना की। उसके बाद रस-संख्या में वृद्धि हुई और अब रसों की संख्या ग्यारह तक भी मान्य है। जिनमेंश्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्‌भुत इन नौ रसों के अतिरिक्त वत्सल तथा भक्ति रस सम्मिलित हैं। भरत ने रसों की संख्या का निर्धारण नाट्य की दृष्टि से ही किया था। नाट्य के अतिरिक्त अन्य काव्यों में अन्य रस भी हो सकते हैं। प्रस्तुत पाठाँश में प्रथमतःनाटक के दृष्टिकोण से भरतसम्मत आठ रसों के स्वरूप और उदाहरणों का परिचय देकर नवम रस के रूप में शान्तरस का अवगाहन करेंगे।

8.4 रस-भेद

1. श्रृंगार रस

सहृदय के हृदय में रति नामक स्थायी भाव का जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से पोषण होता है तो वह श्रृंगार रस का रूप ग्रहण कर लेता है। अर्थात् नायक और नायिका का पारस्परिक प्रेम भाव 'रति' है । यह स्त्री-पुरुष का सतत, आकर्षण वृत्ति-रूप 'रति' स्थायी भाव विभावों, अनुभावों और संचारियों आदि द्वारा रसावस्था को पहुँचकर आस्वाद-योग्य बनता है तोश्रृंगार रस कहा जाता है।

श्रृंगार रस के अवयव

स्थायी भाव- रति। मन के अनुकूल पदार्थों में सुखानुभूति ही रति कहलाती है।

आलम्बन विभाव- उत्तम, प्रकृति, गुण-रूप सम्पन्न, चिर-साहचर्य से युक्त, श्रेष्ठ नायक अथवा नायिका परस्पर आलम्बन होते हैं।

उद्दीपन विभाव- नायक-नायिका की वेशभूषा, शारीरिक चेष्टाएँ आदि आलम्बनगत उद्दीपन-विभाव और ऋतु-सौन्दर्य नदी-तट चन्द्र-ज्योत्स्ना, वसन्त, एकान्त उपवन, कविता, मधुर संगीत, मादक वाद्य, पक्षियों का कलरव, चित्र आदि बहिर्गत उद्दीपन विभाव कहे जाते हैं।

टिप्पणी

अनुभाव- संयोग में प्रेमपूर्ण आलाप, परस्पर देखना, स्पर्श, आलिंगन, चुम्बन, रोमांच, कटाक्ष, स्वेद, कम्प और वियोग में अश्रु, वैवर्ण्य प्रलाप आदि।

व्यभिचारी भाव- औत्सुक्य, लज्जा, जड़ता, चपलता, हर्ष, चिंता आदि प्रायः सभी सञ्चारी भाव हो सकते हैं। केवल उग्रता और मोह, जुगुप्सा इस रस में निषिद्ध माने गयेहैं।

श्रृंगार रस के दो भेद हैं- (अ) सम्भोग या संयोगश्रृंगार और (ब) विप्रलम्भ या वियोग श्रृंगार।

(अ) सम्भोग श्रृंगार- एक दूसरे को प्रेम करने वाले (स्त्री-पुरुष) नायक और नायिका के मिलन का वर्णन संयोग श्रृंगार कहाता है। उदाहरण-

''एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यं हृदयस्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम्।

दम्पत्योः शनकैरपांगवलनामिश्रीभवच्चक्षुषो-
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यावृत्तकण्ठग्रहम्।।"

यहाँ नायक नायिका परस्पर रति के आश्रय हैं और आलम्बन हैं। एक ही शय्या, रूठकर मनाने की चाह, दुःखी होना आदि उद्दीपन हैं। नेत्रों के अपाङ्ग से देखना,आलिंगन आदि अनुभाव और मनाने में अभिलाषा,उत्सुकता और हर्ष सञ्चारी भाव हैं। इस प्रकार नायक नायिका के हृदय का रति-भाव स्थायी है। दोनों एक दूसरे के प्रति आलम्बन-विभाव, स्तम्भ अनुभाव और हर्ष आदि सञ्चारी भाव के संयोग सेश्रृंगार रस की अभिव्यक्ति हुई है।

(ब) विप्रलम्भ श्रृंगार- वियोगावस्था में नायक और नायिका के पारस्परिक प्रेम का वर्णन विप्रलम्भश्रृंगार कहाता है। इसमें प्रेमी-प्रेमिका के एक-दूसरे से अलग रहने से उत्पन्न मानसिक विकलता का चित्रण रहता है। उदाहरणार्थः

"अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुहृद्,
यो मां नेच्छति नागतश्च ह हा कोऽयं विधेः प्रक्रमः।

इत्यल्पेतरकल्पनाकवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे,
बाला वृत्तविवर्त्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रां निशि"।।

यहाँ नायक के यथासमय उपस्थित न होने पर विरह से उत्कण्ठित नायिका की दशा का वर्णन किया गया है। इसमें नायिका आश्रय हैं, पति आलम्बन हैं। उसका विदेश से न लौट पाना आदि उद्दीपन विभाव हैं और करवट बदलना, नींद न आना /विवर्त्तनादि अनुभाव हैं। साथ ही 'ह हा' में सूचित विस्मय सञ्चारी और 'यो मां नेच्छति' में स्मृति सञ्चारी की योजना है। इस प्रकार यहाँ विभाव तथा

अनुभाव और सञ्चारियों के योग से विप्रलम्भशृंगार की व्यञ्जना हुई है।

विप्रलम्भशृंगार के भी चार भेद अवस्थाओं की दृष्टि से स्वीकार किये गये हैं- (1) पूर्वराग, (2) मान, (3) प्रवास और (4) करुण।

टिप्पणी

शृंगार का रस-राजत्व

शृंगार को रसराज कहा जाता है-अर्थात् 'सब रसों का राजा'। शृंगार की मूल भावना 'रति' सभी प्राणियों में पाई जाती है। वास्तव में शृंगार यह सर्वव्यापक है और जीवन का शाश्वत धर्म है। यही एक आकर्षण है जिसमें मनुष्य ही नहीं, समस्त प्राणी बँधे हुए दिखाई देते हैं। और जीवन की पूर्णता का चित्रण इसमें हो जाता है। अन्य रसों में यह पूर्णता नहीं पाई जाती। शृंगार को रसराज कहने के निम्नलिखित कारण हैं- (1) शृंगार रस सर्वजन-ग्राह्य है। शृंगाररिक उक्तियों में सभी का मन रमता है।

(क) शृंगार काव्य और कला का प्रेरणास्रोत है। संसार में सबसे अधिक सम्मान शृंगारपरक कृतियों को ही मिला है।

(ख शृंगार में विषय की व्यापकता है। अन्य भाव और रस एकपक्षीय है-दु:खात्मक या सुखात्मक, परन्तु शृंगार में दोनों पक्षों का जीवन के दु:ख-सुखमय दोनों रूपों का समावेश हो जाता है।

(ग) आचार्यों के अनुसार शृंगार रस में प्राय: सभी रसों का अन्तर्भाव हो सकता है।

(घ) शृंगार ही एक ऐसा रस है जिसमें दोनों आलम्बनों (आलम्बन और आश्रय) की चेष्टाएँ एक-दूसरे को उद्दीप्त करती हैं।

(ङ) आचार्यों द्वारा कल्पित भक्ति आदि नये रसों की उदभावना भी शृंगार रस के अन्तर्गत हो सकती है। अत:शृंगार को ठीक ही रस-राज कहा जाता है।

2. हास्य-रस

किसी वस्तु या व्यक्ति की असामान्य विचित्र या विकृत आकृति, वेशभूषा, अनर्गल प्रलाप, मूर्खतापूर्ण और निरर्थक चेष्टाओं का प्रदर्शन, कुटिल कर्म आदि को देखकर मन में विनोद का भाव उत्पन्न होना 'हास' है। 'हास' स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव, संचारी भावों की सहायता से जागृत, उद्दीप्त और परिपुष्ट होकर हास्यरस केरूप में अभिव्यक्त होता है, इसमें प्राय: आलम्बन का ही वर्णन रहता है। अर्थात् सहृदय के हृदय स्थित में हास स्थायीभाव का जब विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव से संयोग होता है तो वह हास्यरस का रूप ग्रहण कर लेता है।

हास्य रस के अवयव

स्थायी भाव- हास। वाणी-वेश आदि की विकृतियों से चित्त का विकास ही हास कहलाता है।

आलम्बन विभाव- विकृत अथवा विचित्र वेशभूषा व्यंग्य-भरी वाणी, उपहासास्पद व्यक्ति की मूर्खता-भरी चेष्टाओं का देखना या सुनना, व्यक्ति का विचित्र बोलने-चालने का ढंग, हास्योत्पादक वस्तुएँ या उनकी विकृत रूप-रचना ।

उद्दीपन विभाव- हास्यास्पद व्यक्ति की चेष्टाएँ हास्य-मण्डली आदि।

अनुभाव- आश्रय की मुस्कुराहट, आँखों का मिंच जाना, मुँह फैलाना, कपोल का स्फुरित होना, पेट का हिलना, मुख से हँसने का शब्द निकलना, हँसी में लोटपोट होना आदि ।

व्यभिचारी भाव भाव- हर्ष, आलस्य, चपलता, औत्सुक्य, अश्रु, कम्प, श्रम, अवहित्था, रोमांच, स्वेद, असूया, निर्लज्जता आदि।

उदाहरण-

आकुञ्च्य पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वेश्या मन्त्राम्भसां प्रतिपदं पृषतैः पवित्रे।
तारस्वनं प्रथितथूत्कमदात् प्रहारं हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा॥

यहाँ विष्णु शर्मा आलम्बन है। उनका रुदन उद्दीपन विभाव हैं। देखने सुनने वालों का हँसना,मुस्कुराना तथा लोगों का खड़े रह जाना अनुभाव हैं। द्रष्टा का हर्ष, चापल्य आदि सञ्चारी भाव हैं। इस प्रकार श्हासश स्थायी भाव यहाँ विष्णु शर्मा रूप आलम्बन तथा विभावादिकों से पुष्ट होकर श्हास्यश रस में अभिव्यक्त हुआ है। इस पद्य में अनुभावों और सञ्चारियों की भी अच्छी योजना है।

3. करुण रस

सहृदय के हृदय में स्थित शोक नामक स्थायी भाव का जब विभाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव के संयोग से पुष्ट होता है तो वह करुण रस के रूप में अनुभव किया जाता है। अथवा किसी प्रेमपात्र के चिर-वियोग में पीड़ित होने, इष्ट के, अनिष्ट की प्राप्ति से हृदय में उत्पन्न हुए क्लेश की व्यञ्जना से 'शोक' स्थायी भाव विभावादिकों से पुष्ट होकर 'करुण' रस में परिणत होता है।

करुण रस के अवयव

स्थायी भाव- शोक । प्रिय वस्तु के नष्ट होने से उत्पन्न चित्त की व्याकुलता ही शोक है।

आलम्बन विभाव- विनष्ट प्रिय व्यक्ति, नष्ट ऐश्वर्य आदि ।

उद्दीपन विभाव- प्रिय वस्तु की अपने प्रति प्रेम-भावना का स्मरण या उसके यश व गुण का स्मरण, प्रिय से सम्बन्धित वस्तुएँ-वस्त्र, आभूषण या उसके चित्र आदि का दर्शन ।

अनुभाव- देव-निन्दा, भूमि-पतन, रुदन, उच्छ्वास, अश्रु, प्रलाप, छाती पीटना, मूर्च्छा आदि।

व्यभिचारी भाव- व्याधि, ग्लानि, मोह, स्मृति, दैन्य, चिन्ता, विषाद, उन्माद आदि प्रायः सभी संचारी भाव केवल हर्ष को छोड़कर।

करुण रस का उदाहरण-

"हा मातस्त्वरिताऽसि कुत्र किमिदं हा देवताः क्वाऽऽशिषः
धिक् प्राणान् पतितोऽशनिर्हुतवहस्तेऽङ्गेषु दग्धे दृशौ।

इत्थं घर्घरमध्यरुद्धकरुणाः पौराङ्गनानां गिर-
श्चित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधाः कुर्वन्ति भित्तीरपि"॥

यहाँ पर मृत महारानी आलम्बन है। उनका मृत शरीर और दाह आदि उद्दीपन है। विलाप करना, दैवनिन्दा कण्ठ का अवरुद्ध होना आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, मोह,व्याधि,जड़ता, विषाद, ग्लानि, दैन्य आदि सञ्चारी भाव हैं। इस प्रकार इन विभावादिकों से पुष्ट शोक स्थायी भाव यहाँ करुण रस में अभिव्यक्त हुआ है।

करुण रस और विप्रलम्भ शृंगार रस में अन्तर-

विप्रलम्भशृंगार का स्थायी भाव रति है और करुण रस का शोक। अतएव दोनों रसों में मूलभूत अन्तर है। शोक प्रिय-विनाश के कारण ही होता है और करुण रस में शोक की ही प्रधानता रहती है। विप्रलम्भशृंगार अनुरागमूलक है। करुण रस में दु:ख की गहन अनुभूति होती है और प्रिय व्यक्ति के आने की कोई सम्भावना नहीं रहती। विप्रलम्भ शृंगार में आशा की एक क्षीण रेखा बनी रहती है-आशा-तन्तु टूटता नहीं है। आशय यह है कि विप्रलम्भ शृंगार में प्रिय के वियोग का दु:ख निहित होता है लेकिन उससे पुनर्मिलन की सम्भावना विद्यमान रहती है जबकि करुण रस में प्रिय व्यक्ति का नाश या चिरकाल वियोग से उत्पन्न दु:खात्मक मानसिक दशा का चित्रण होता है।

टिप्पणी

4. रौद्र रस

सहृदय के हृदय में स्थित 'क्रोध' नामक स्थायी भाव का जब विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारी भाव से संयुक्त होता है तो वह रौद्र रस का रूप धारण कर लेता है। अहितकारी शत्रु की धृष्ट चेष्टाओं द्वारा किये गए अपमान, अपकार, गुरुजन -निन्दा, देश और धर्म के अपमान से उत्पन्न क्रोध से रौद्र रस की अभिव्यक्ति होती है।

रौद्र रस-के अवयव

स्थायी भाव- क्रोध। विरोधियों के प्रति जो हृदय में तीक्ष्णता या प्रतिशोध की भावना ही क्रोध है।

आलम्बन विभाव- विरोधी दल के व्यक्ति या दुष्ट व्यक्ति ।

उद्दीपन विभाव- शत्रु या विरोधी द्वारा किये गए अनिष्ट काम, अपराध, गर्वोक्तियाँ, कठोर वचन आदि ।

अनुभाव- आँखों का लाल होना, भौंहों का चढाना, कठोर उक्तियाँ, अपने पुरुषार्थ या शौर्यादि का वर्णन, गर्जन-तर्जन, शस्त्र-संचालन, दाँत पीसना आदि।

व्यभिचारी भाव- उग्रता, मोह, मद, स्मृति, गर्व, चपलता, अमर्ष-उद्वेग, असूया, श्रम आवेग आदि।

रौद्र रस का उदाहरण-

"कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।

नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम्"॥

प्रस्तुत पद्य में गुरु द्रोण के वध के पश्चात् अर्जुन आदि के प्रति अश्वत्थामा की उक्ति है ।यहाँ अश्वत्थामा आश्रय और अर्जुन आदि शत्रु आलम्बन हैं। पिता की हत्या उद्दीपन विभाव है। शस्त्रधारण, प्रतिज्ञा करना अनुभाव हैं । गर्व, अमर्ष, उग्रता आदि सञ्चारी भाव हैं। इसप्रकार विभावादि कारणसामग्री की योजना से क्रोध की रौद्र रस के रूप में अभिव्यक्ति हुई है।

5. वीर रस

सहृदय के हृदय में स्थित उत्साह नामक स्थायी भाव का उसके अनुकूल विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव से संयोग होने पर वीर रस पुष्ट होता है।

टिप्पणी

वीर रस के चार भेद हैं- (1) युद्धवीर, (2) दयावीर, (3) धर्मवीर, और (4) दानवीर।

वीर रस के अवयव-

स्थायी भाव- उत्साह। कार्य करने में स्थिर उद्योग का नाम उत्साह है।

आलम्बन विभाव- शत्रु, दीन, याचक, तीर्थ, पर्व।

उद्दीपन विभाव- शत्रु का पराक्रम, याचक की दीन-दशा आदि ।

अनुभाव- रोमाञ्च, गर्वयुक्त वाणी, दयायुक्त शब्द, आदर-सत्कार।

व्यभिचारी भाव- गर्व, धृति, स्मृति, दया, हर्ष, मति, आवेग, उग्रता, वितर्क आदि।

वीर रस का उदाहरण-

"क्षुद्राः सन्त्रासमेते विजहत हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भाः
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः।

सौमित्रे तिष्ठ पात्रं त्वमसि न हि रुषां नन्वहं मेघनादः
किञ्चिद्भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि"॥

यह मेघनाद की वानरों आदि के प्रति उक्ति है। यहाँ राम आलम्बन, मेघनाद आश्रय, राम के कार्य समुद्र बाँधना उद्दीपन विभाव है,अन्य वानरों और लक्ष्मण के प्रति उपेक्षा तथा राम के प्रति स्पर्धा अनुभाव और गर्व, स्मृति, आवेग, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भावों से वीररस अभिव्यक्त हुआ है।

6. भयानक रस

भयदायक विभावों के देखने,सुनने अथवा प्रबल शत्रुओं के कारण हृदय में स्थायी भाव के रूप में स्थित श्भयश अनुभाव और सञ्चारी भावों से और अधिक पुष्ट होकर भयानक रस के रूप में अनुभव किया जाता है।

भयानक रस के अवयव

स्थायी भाव- भय। भीषण वस्तु के कारण चित्त की विकलता रूप वृत्ति ही भय है।

आलम्बन विभाव- भयंकर वस्तु, व्यक्ति या शत्रु। हिंसक प्राणी, बीहड़ और निर्जन स्थान, श्मशान, भूत-प्रेतादि की कल्पना ।

टिप्पणी

उद्दीपन विभाव- स्थान की निर्जनता, निस्तब्धता, शत्रु का भय उत्पन्न करने वाला व्यवहार और चेष्टाएँ, हिंसक प्राणियों की भयानक चेष्टाएँ।

अनुभाव - चिन्ता, दैन्य, त्रास, मूर्च्छा, आवेग, सम्भ्रम, शंका, ग्लानि,जुगुप्सा आदि ।

भयानक रस का उदाहरण:

"ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।

दर्भैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति"।।

यह राजा दुष्यन्त की सारथि के प्रति उक्ति है। जिसमें मृग के भय का वर्णन किया गया है। यहाँ पीछे चलने वाला रथ या राजा दुष्यन्त आलम्बन है। शरपतन उद्दीपन विभाव हैं। गर्दन घुमाना, कुलाँचे भर कर भागना आदि अनुभाव हैं। त्रास, श्रम आदि सञ्चारी भाव हैं। जिनसे भय स्थायी भाव पुष्ट हो भयानक रस के रूप में सिद्ध होता है।

7. बीभत्स रस

घृणित रूप मलिनता, दुर्गन्ध अथवा कर्कशता आदि के कारण अरुचिकर 'जुगुप्सनीय' रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्दादि रूप के देखने या सुनने से 'जुगुप्सा' रूप स्थायी भाव विभावादि की सहायता से परिपुष्ट बीभत्स रस उत्पन्न होता है। इस रस में प्रायः आलम्बन का ही वर्णन होता है।

बीभत्स रस-अवयव

स्थायी भाव- जुगुप्सा व घृणा। घृणास्पद वस्तु या दोषदर्शन से उत्पन्न भाव ही जुगुप्सा है।

आलम्बन विभाव- श्मशान, शव, चरबी, सड़ा हुआ माँस, रुधिर, मलमूत्र, दुर्गन्ध युक्त पदार्थ तथा घृणा उत्पन्न करने वाली वस्तुएँ।

उद्दीपन विभाव- घृणा उत्पन्न करने वाली गन्दी और अरुचिकर वस्तुओं की दुर्गन्ध , घृणास्पद व्यक्ति की चेष्टा, गन्दी वस्तुओं में कीड़े पड़ना, मक्खियों का भिनभिनाना, गिद्धों का मांस नोचना, मांसभक्षी जीवों का मांस को छीनने, झपटने के लिए युद्ध, कीड़े-मकोड़ों का बिलबिलाना, कुत्सिंग रंग-रूप आदि।

अनुभाव- आँखें मींचना, मुँह फेर लेना, थूकना, नाक सिकोड़ना, कम्प, रोमाँच आदि सात्त्विक भाव।

टिप्पणी

संचारी भाव- व्याधि, अपस्मार, आवेग, मोह, मूर्च्छा, जड़ता, चिन्ता, वैवर्ण्य, उन्माद, निर्वेद, ग्लानि, दैन्य,मरण आदि।

बीभत्स का उदाहरण:

> **"उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा-**
> **न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्ड्याद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा।**
>
> **आर्त्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-**
> **दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति"॥**

मालती-माधव के प्रस्तुत उदाहरण में माधव श्मशान में शवभोजी प्रेत को देखकर कह रहा है। इन पंक्तियों में शव या प्रेतरङ्क आलम्बन विभाव है। शव को काटना, उधेड़ना,माँस खाना आदि क्रिया-व्यापार उद्दीपन विभाव हैं। दर्शक का थूकना, नाक सिकोड़ना इत्यादि अनुभाव और उद्वेग आदि सञ्चारी भावों की योजना से जुगुप्सा भाव बीभत्स रस के रूप में अभिव्यक्ति पाता है।

8. अद्भुत रस

सहृदय के हृदय में स्थित विस्मयनामक स्थायी भाव का जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से संयोग हो जाता है तो वह अघ्द्भुतरस का रूप ग्रहण कर लेता है। अर्थात् किसी विचित्र, अभूतपूर्व, अश्रुतपूर्व, असाधारण वस्तु को देखने अथवा सुनने से हृदय में जो आश्चर्य का भाव होता है, उसी का वर्णन अद्भुत रस कहा जाता है। इसमें भी प्रायः आलम्बन का ही वर्णन रहता है।

अद्भुत रस के अवयव

स्थायी भाव- आश्चर्य या विस्मय। विलक्षण वस्तुओं के दर्शन, श्रवण आदि से चित्त का विकास ही विस्मय है।

आलम्बन विभाव- अद्भुत, अलौकिक, असाधारण वस्तु अथवा ऐसी ही घटना अथवा दृश्य।

उद्दीपन विभाव- वस्तु की विलक्षणता, अलौकिक घटना की आकस्मिकता, ऐसी विलक्षण वस्तुओं का देखना या सुनना।

अनुभाव- आँखें फाड़कर देखना, मुख पर घबराहट, मुख खोले रह जाना, दाँतों तले उंगली दबाना आदि।

व्यभिचारी भाव- जड़ता, दैन्य, आवेग, तर्क, हर्ष, भ्रांति, शंका, चिन्ता, चपलता, औत्सुक्य आदि।

अद्‌भुत रस का उदाहरण:

**"चित्रं महानेष बतावतार: क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भङि्ग:।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभाव: काऽप्याकृतिर्नूतन एष सर्ग:"॥**

यह वामनावतार को लक्ष्य करके कही गई राजा बलि की उक्ति है। यहाँ वामनावतार आलम्बन है। उनकी विचित्रता, विलक्षणता और कान्ति आदि उद्दीपन हैं। स्तुति, प्रशंसा आदि अनुभाव हैं। धृति, हर्ष आदि सञ्चारी भावों की योजना भी यहाँ प्राप्त है। इस प्रकार विभावादिकों से पुष्ट होकर विस्मय स्थायी भाव यहाँ अद्‌भुत रस में परिणत हुआहै।

इस प्रकार भरत सम्मत नाट्य की दृष्टि से ये आठ रस माने गये हैं। शान्त रस के विषय में एक महत्त्वपूर्ण एवं विचारणीय तथ्य यह है कि शान्त रस काव्य के समान नाटक का भी विषय हो सकता है या नहीं इसी तथ्य के आधार पर शान्त रस की गणना पहले कहे गए मुख्य अष्ट रसों में नहीं की गई थी। आचार्य धनञ्जय शान्त रस को अभिनेय न होने के कारण स्वीकार नहीं करते। लेकिन अभिनवगुप्त, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने शान्त रस का नाटक की दृष्टि से निषेध नहीं किया है। इस मत के मानने वालों का कहना है कि मञ्च पर कुशल अभिनेता शान्त रस के विभावों अर्थात् संसार को मिथ्या, असार एवं त्याज्य बताने वाले कारणों का, इस रस के अनुभावों तथा संचारी भावों-चिन्ता, विषाद, आदि मनोभावों का अभिनय कर सकता है। अत: शान्तरस का भी उदाहरण प्रस्तुत है।

9. शान्त रस

संसार की नश्वरता एवं परमात्मा के यथार्थ रूप का ज्ञान होने से संसार के प्रति विरक्ति की भावना निर्वेद है। अनुकूल विभावादिकों द्वारा इसका उत्कर्ष होने पर शान्त रस की उद्‌भावना होती है। अभिनवगुप्त ,विश्वनाथ आदि ने ने सुखदु:खादि में समत्व की अनुभूति को शम कहा है और उसे शान्तरस का स्थायी भाव माना है।

शान्त रस के अवयव

स्थायी भाव- शम या निर्वेद। वैराग्यदशा तत्त्वज्ञान से होने वाला आध्यात्मिक आनन्द निर्वेद कहलाता है।

आलम्बन विभाव- संसार की निस्सारता और नश्वरता का ज्ञान, परमात्व-तत्व का बोध, परमार्थ, मोक्ष या आत्मानन्द।

उद्दीपन विभाव- ऋषियों के आश्रम, तीर्थ-स्थान, साधु समागम, शास्त्रों का अनुशीलन, एकान्त, सांसारिक झंझटें आदि।

टिप्पणी

अनुभाव- संसार के दु:ख को देखकर कातर होना, झंझटों से घबराकर संसार-त्याग की तत्परता, अश्रु, पुलक, रोमांच आदि।

संचारी भाव- धृति, हर्ष, विबोध, स्मरण, भक्ति, मति, उद्वेग, ग्लानि, दैन्य, असूया, जड़ता आदि। वैराग्य की भावना, तत्वज्ञान।

शान्त रस का उदाहरण:

"अहो वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा।

तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसा:
क्वचित्पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपत:"॥

यहाँ निर्वेद स्थायी भाव है। मिथ्या रूप में भावित संसार आलम्बन है। तपोवन उद्दीपन विभाव है तथा सर्पादि में समान दृष्टि अनुभाव है। धृति, मति, विमर्श आदि सञ्चारी भाव हैं। इस प्रकार शम /निर्वेद से शान्त रस अभिव्यक्त हुआ है।

वस्तुत: अन्य रसों में भी मानव की सूक्ष्म एवं आन्तरिक मनोदशाओं का चित्रण होता है।श्रृंगार रस के अन्तर्गत लज्जा, रति, मुदिता आदि आन्तरिक भाव हैं और अभिनेता उनका अभिनय कर लेता है। अत: शान्त रस भी काव्य और नाटक दोनों का विषय हो सकताहै।

पाठगत प्रश्न 8.3

1. रस के कितने भेद हैं?
2. रति क्या है?
3. श्रृंगार के कितने प्रकार हैं?
4. रसों में राजा कौन है?
5. हास से आप क्या समझते हैं?
6. हास रस में कब परिणत होता है?
7. करुण रस का स्थायी भाव कौन-सा है?
8. शोक स्थायी भाव रस में कब परिवर्तित होता है?

9. करुण रस और विप्रलम्भशृंगार में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

10. वीर रस क्या है?

11. वीर रस कितने प्रकार का है?

12. भय क्या है?

13. भयानक रस कब पुष्ट होता है?

14. जुगुप्सा क्या है?

15. बीभत्स रस क्या है?

16. विस्मय क्या है?

17. अद्‌भुत रस को परिभाषित कीजिए।

18. निर्वेद से आप क्या समझते हैं?

19. शान्त रस से आप क्या समझते हैं?

20. कुछ आचार्य शान्त को नाटक में रस क्यों नहीं मानते?

आपने क्या सीखा

- विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।
- रस आनन्दमयी अनुभूति है।
- रस अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, लोकोत्तरचमत्कारप्राण है। जिसकी अनुभूति या आस्वादन किया जाता है। यह इन्द्रियों का विषय नहीं है अर्थात् रस को आँखों से देखा, जीभ से चखा या हाथों से स्पर्श नहीं किया जा सकता। यह अनुभूति का विषय है।
- शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स,अद्‌भुत और शान्त ये नव रस ही काव्य/नाटक में सर्वमान्य हैं। यद्यपि इनके अतिरिक्त भी रसों की गणना की जाती है किन्तु प्रायः नव रसों को ही सम्मति प्राप्त है।
- शान्त रस का नाटक में अभिनय न हो सकने के कारण इसके विषय में कुछ आचार्य संशय प्रकट करते हैं।

- नौ रसों की नाटक में स्थिति अपने स्वरूप के अनुसार होती है।
- श्रृंगार रस रसों में राजा के समान प्रतिष्ठित है।
- करुण और विप्रलम्भश्रृंगार में मुख्य भेद इनके स्थायी भाव का है। करुण रस में व्यक्ति के विनाश से उत्पन्न दु:ख होता है जबकि विप्रलम्भश्रृंगार में व्यक्ति के वियोग से उत्पन्न दु:ख होता है।

पाठान्त प्रश्न

1. रस परिभाषा और स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
2. रस संख्या और भेदों का सविस्तार उद्घाटन कीजिए।
3. श्रृंगार रस एवं उसके भेदों पर विशद टिप्पणी कीजिए।
4. हास्य एवं करुण रस पर प्रकाश डालिये।
5. रौद्र और वीर रसों का विस्तारपूर्वक वर्णन करें।
6. भयानक और बीभत्स रस के स्वरूप एवं अवयव को स्पष्ट कीजिए।
7. अद्भुत और शान्त रस का सावयव वर्णन करें।
8. रस एवं रस के महत्व पर निबन्ध लिखिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

8.1

1. भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में
2. भरतमुनि
3. विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पति:
4. कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि आक पढ़ने, सुनने एवं देखने से सहृदयों को असाधारण आनंद की प्राप्ति होती है। वहीं रस कहलाता है।

टिप्पणी

5. ''रस्यते आस्वाधते इति रस:'' जिसका आस्वादन किया जाए वह रस कहलाता है।

6. रस अखण्ड है;

7. स्थायी भाव, विभाव, अनुभावादि अनेक तत्वों का समन्वित रूप है।

8. दर्शक अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व को भूल जाता है। रस से उत्पन्न आनंद में तल्लीन हो जाता है।

9. क्योंकि रस से प्राप्त आनंद लौकिक है और ब्रह्मानंद अलौकिक।

10. रस भौतिक आनंद नही, अलौकिक और असाधारण आनंद है।

8.2

1. विभाव, अनुभाव, सञ्चारीभाव एवं स्थायी भाव

2. सहृदय के हृदय में स्थायी रूप से विद्यमान होने के कारण।

3. नहीं

4. 8 आठ

5. स्थायी भाव को उद्बोधित करने के कारण

6. 2 दो

7. पात्रों के आलम्बन से सहृदयी में स्थित स्थायी भाव को रस रूप में अभिव्यक्त करना आलम्बन विभाव है।

8. रस को उद्दीप्त करने के कारण

8.3

1. 9

2. नायक और नायिका का पारस्परिक प्रेम भाव 'रति' है।

3. 2, संयोग और वियोग

4. श्रृंगार रस

टिप्पणी

5. मन में विनोद भाव उत्पन्न होना।

6. स्थायी भाव में विभागव, अनुभाव, सञ्चारी भावों के संयोग से।

7. शोक

8. जब स्थायी भाव, शोक विभाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव पुष्ट होते हैं।

9. विप्रलम्भ शृंगार का स्थायी भाव रति है और करूण रस का शोक।

10. उत्साह नामक स्थायी भाव का उसके अनुकूल विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव से संयोग होने पर वीर रस पुष्ट होता है।

11. 4, युद्धवीर, दयावीर, धर्मवीर, दानवीर

12. भयानक रस का स्थायी भाव।

13. स्थायी भाव भय, विभाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव के मिलने पर

14. वीभत्स रस का स्थायी भाव

15. ''जुगुप्सा'' स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव के संयोग से वीभत्स रस बनता है।

16. विस्मय, अद्भूत रस का स्थायी भाव है।

17. विस्मय नामक स्थायी भाव का जब विभाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव से संयोग होता है तो अद्भुत रस प्राप्त होता है।

18. निर्वेद, शांत रस का स्थायी भाव है। इसका अर्थ है सांसारिक विरक्ति।

19. निर्वेद, स्थायी भाव में विभावादि के संयोग, शांत रस की उद्भावना होती है।

20. अभिनेय न होने के कारण।

9

रससूत्र का परिचय तथा सहृदय की अवधारणा

आप रस के स्वरूप, परिभाषा, प्रकार आदि से भलीभाँति परिचित हैं। रस-स्वरूप तथा उसकी अनुभूति का व्यवस्थित और सर्वांग विवेचन करने वाले नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि सर्वाधिक प्राचीन, महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक आचार्य हैं। आचार्य भरत ने रस के सम्बन्ध में जिस सूत्र को स्थिर किया, उसी की उत्तरवर्ती आचार्यों के द्वारा की गई व्याख्यायें रससूत्र-विमर्श के नाम से जानी जाती हैं। भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त ने रससूत्र की जो व्याख्यायें प्रस्तुत की थीं, रस के स्वरूप को निर्धारित करने एवं रसस्वरूप को समझने में उनका बहुत अधिक महत्त्व है। भट्टलोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक की मान्यताओं की समीक्षा करते हुये अभिनवगुप्त ने अपने जो विचार रखे, वे कालान्तर में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माने गए। अपनी-अपनी व्याख्याओं के माध्यम से आचार्यों ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के द्वारा स्थायी भाव कैसे पुष्ट होकर रसरूपता को प्राप्त होता है? विभावादि का स्थायी भाव के साथ संयोग किस प्रकार होता है? इन प्रश्नों के समाधान के साथ यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया कि रस की अनुभूति किसे होती है- रामादि पात्रों को, अभिनय करने वाले नटवर्ग को अथवा अभिनय देखने वाले दर्शकों को?

प्रस्तुत पाठ में हम रससूत्र के व्याख्याकारों के द्वारा किये गये रस विषयक विमर्श और उसमें सहृदय की भूमिका को समझने का प्रयास करेंगे।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरान्त आप-

- रससूत्र विमर्श को समझते हैं;

- आचार्य भट्टलोल्लट एवं श्री शंकुक द्वारा की गई रस की व्याख्या को जानते हैं;
- आचार्य भट्टनायक, अभिनवगुप्त, आचार्य धनंजय, आचार्य विश्वनाथ, आचार्य जगन्नाथ के रस विषयक मतों को जानते हैं;
- रस के साधारणीकरण को समझते हैं; और
- सहृदय की अवधारणा को समझते हैं।

9.1 रस-निष्पत्ति

रस की निष्पत्ति से सम्बन्धित भरतमुनि का यह सूत्र आचार्यों के विमर्श का विषय रहा है।

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्ति।"

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत ने अपने रससूत्र में रसानुभूति को रसनिष्पत्ति कहा है। रससूत्र के अत्यधिक संक्षिप्त होने से रस-निष्पत्ति का स्वरूप समझना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। विगत अध्याय में रस की कारण-सामग्री के रूप में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों को भलीभाँति समझा जा चुका है। इन्हीं तीनों के 'संयोग' से रस की 'निष्पत्ति' होती है। इस कथन में सारा रहस्य 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों में छिपा है। क्या यह संयोग उक्त तीनों तत्त्वों का परस्पर होता है या तीनों का किसी अन्य चौथे तत्त्व के साथ होता है? यह संयोग किस प्रकार होता है? जब तक इन प्रश्नों का युक्तियुक्त अर्थ न जान लिया जाए तब तक न तो रस-निष्पत्ति का सिद्धान्त स्पष्ट हो सकता है और न रस की अनुभूति की व्याख्या ही की जा सकती है।

रससूत्र में 'विभाव', 'अनुभाव' और 'व्यभिचारी' रस-निष्पत्ति के अवयव हैं। इनके अतिरिक्त 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों का सम्बन्ध रसविषयक प्रक्रिया से है। इस प्रकार रसस्वरूप की स्पष्टता के लिये रससूत्र में आये शब्दों के मुख्यत: दो भाग किये जा सकते हैं-

1. रस की कारणसामग्री के वाचक शब्द: विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी
2. रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया के बोधक शब्द: संयोग और निष्पत्ति

यद्यपि भरत ने इस सूत्र में स्थायी शब्द का प्रयोग नहीं किया है फिर भी इसे रससूत्र की व्याख्या करते समय स्पष्ट किया है। रसनिष्पत्ति के लिये स्थायी भाव सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक तत्त्व है।

भरतमुनि के सूत्र में आये विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव शब्दों की व्याख्या में तो कोई मतभेद नहीं है परन्तु 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों के सम्बन्ध में बहुत से आचार्यों ने

अपनी-अपनी व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। इस सम्बन्ध में अधोलिखित चार आचार्यों के मत प्रमुखता से विद्वानों के विमर्श का केन्द्र रहे हैं:

1. भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद।
2. श्रीशंकुक का अनुमितिवाद।
3. भट्टनायक का भुक्तिवाद।
4. अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद।

आगे के प्रकरण में इन चारों मतों की मान्यताओं की विवेचना करते हुए रस-निष्पत्ति में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों के युक्तियुक्त अर्थ का निर्णय और रस-निष्पत्ति का स्वरूप समझने का प्रयास किया जायेगा।

> भट्टलोल्लट के मतानुसार स्थायी भाव और रस का अन्तर यही है कि विभाव, अनुभाव आदि द्वारा परिपुष्ट हुआ स्थायी भाव ही रससंज्ञक होता है; किन्तु वे दोनों साक्षात् रूप से अनुकार्य राम आदि में रहते हैं और अनुकर्त्ता नट आदि में उनका अनुभव

1. भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद भरतमुनि के सूत्र की व्याख्या में रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में भट्टलोल्लट ने यह मत प्रतिपादित किया है कि संयोग का अर्थ है- "उत्पाद्य-उत्पादकसम्बन्ध" (कार्यकारण भाव) और "निष्पत्ति" का अर्थ है "उत्पत्ति"। इसीलिए भट्टलोल्लट का रसपरक सिद्धान्त उत्पत्तिवाद के नाम से जाना जाता है। रसों की यह उत्पत्ति भट्टलोल्लट 'अनुकार्य' में स्वीकार करते हैं। इनके मतानुसार रस न तो नट में रहता है और न ही सामाजिकों के हृदय में अपितु यह अनुकार्य राम आदि में रहता है और अनुकर्ता नट आदि की अभिनय कुशलता के द्वारा अनुभव हुआ करता है। अनुकार्य का अर्थ है नाटक में वर्णित वे ऐतिहासिक राम और सीता आदि या इसी प्रकार के चरित्र, जिनका नट और नटी रंगमंच पर अभिनय अथवा अनुकरण करते हैं।आचार्य भट्टलोल्लट के मत का सारांश है -

2. विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव का स्थायी भाव से संयोग होने पर रस की उत्पत्ति होती है। स्थायी और रस में अन्तर नहीं है।

3. अपुष्ट अवस्था में जो स्थायी हैं; पुष्ट होने पर वे ही रसरूप होते हैं।

4. संयोग का अर्थ है- विभावादि के साथ स्थायीभाव का सम्बन्ध । यह सम्बन्ध तीन प्रकार का है-

   - स्थायी भाव और विभाव में उत्पाद्य उत्पादक ।

- स्थायी और अनुभाव में गम्य- गमक (प्रकाश्य प्रकाशक)।
- स्थायी और व्यभिचारी भाव में पोष्य-पोषक।

टिप्पणी

5. जैसे यज्ञ आदि सम्पन्न करने से पुण्य के रूप में अपूर्व फल की प्राप्ति होती है और यज्ञ करने वाले को उसकी सुखात्मक अनुभूति होती है; वैसे ही नाट्य रूप यज्ञ में विभावादि कारणों से रस रूप फल की उत्पत्ति होती है जिसका आस्वादन सामाजिक करता है।

6. यह रस वस्तुतः रामादि अनुकार्यों में उत्पन्न होता है परन्तु रंगमंच पर नट की वेशभूषा, वचन विन्यास आदि के कारण दर्शक उन्हीं को उसीप्रकार रामादि समझ लेता है,जैसे समुद्र के किनारे धूप से चमचमाती सीपी को देखने वाला उसे चाँदी समझने लगता है। अतएव मुख्य रूप से रस अनुकार्य (वास्तविक रामादि) में रहता है किन्तु दर्शक नट को रामादि मानता है इसलिये उसे लगता है कि रामरूप नट में रस है।

7. लोल्लट के मत में रस की वास्तविक अनुभूति रामादि अनुकार्य में मानी है और गौण रूप से रामादि की अवस्थाओं का अनुकरण करने वाले नट में मानी है। अर्थात्, लोक में राम रूप आश्रय के हृदय में सीता-रूप आलम्बन के द्वारा जो रति स्थायिभाव उत्पन्न होकर सीता के हावभाव एवं वातावरण के प्रभाव से उद्दीप्त हुआ था, वह अनुभावों से प्रकट होकर चिन्ता आदि व्यभिचारिभावों से पुष्ट होकर रति स्थायिभाव का पूर्ण रूप से परिपाक होकर रस बन जाता है। नाट्य में इसका अनुकरण किया जाता है। अनुकर्ता नट अपने अभिनय-कौशल के कारण ही अनुकार्य के समान व्यवहार करता है, यहाँ भी स्थायिभाव परिपुष्ट होकर रस-रूप में परिणत हो जाता है, इसलिए नाट्यप्रेक्षकों को वह रसयुक्त लगता है।

8. लोल्लट ने अपनी व्याख्या में सामाजिक का उल्लेख नहीं किया है तथापि यह भी सत्य है कि सम्पूर्ण नाट्य का प्रदर्शन सहृदय प्रेक्षक के लिए ही होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक का उल्लेख नहीं होने पर भी यह माना जा सकता है कि सामाजिक नट-गत रस का या नाट्यरस का साक्षात्कार कर आनन्दित होता है।

9. इस सिद्धान्त की सबसे बडी न्यूनता यह है कि इसमें दूसरे की रति आदि के अनुभव को रस कहा गया है।

9.3 श्री शंकुक का अनुमितिवाद

भट्टलोल्लट के मत की समीक्षा करते हुए श्रीशंकुक ने अपने मत की प्रतिष्ठा की। ये रस को अनुमान का विषय कहते हैं। विभाव,अनुभाव और सञ्चारी भाव अनुमापक या गमक तथा स्थायी भाव अनुमाप्य या गम्य हैं। इनका परस्पर संयोग "गम्य-गमक" अथवा

"अनुमाप्य-अनुमापक" सम्बन्ध से होता है।अत: भरत के रससूत्र में आये "संयोग" शब्द का अर्थ "गम्य-गमक" अथवा "अनुमाप्य-अनुमापक" सम्बन्ध तथा "निष्पत्ति" शब्द का अर्थ "अनुमिति" है। रस को अनुमानरूप मानने से शंकुक का मत "अनुमितिवाद" के नाम से प्रसिद्ध है। शंकुक के मत का सार अधोलिखित है-

1. रंगमंच पर नाटक की प्रस्तुति के समय वास्तविक राम सीता आदि अनुकार्य उपस्थित नहीं होते हैं। अपितु रंगमंच पर अनुकर्ता नट-नटी अपने आङ्गिक, वाचिक सात्त्विक और आहार्य अभिनयों के अभ्यास और कुशलता पूर्वक प्रस्तुति के कारण स्वयं को राम-सीता आदि के रूप में प्रस्तुत करता है।

2. दर्शक को अनुकर्ता और उनके द्वारा प्रदर्शित हाव,भाव और चेष्टायें मिथ्या और बनावटी नहीं लगतीं हैं। दर्शक नट-नटी और उनके द्वारा प्रदर्शित अनुभावादि में मूल रामादि और उनकी चेष्टाओं का अनुमान कर लेते हैं। यहाँ रामादि कृत्रिम या बनावटी होते हुए भी दर्शकों को वैसे लगते नहीं हैं।

3. नट-नटी की अभिनयकला के कौशल से सामाजिक प्रेक्षक के मन में नटगत स्थायी भाव का अनुमान ही रस बन जाता है।

4. श्रीशंकुक के इस मत के अनुसार नट-नटी का ऐतिहासिक राम-सीतादि अनुकार्यों के साथ तादात्म्य और फिर विभाव, अनुभाव, सञ्चारी भावों रूप अनुमापकों (हेतुओं) से नट में रामादिविषयक रति आदि स्थायी (गम्य) का अनुमान होता है, इस प्रकार प्रेक्षकों के द्वारा नट में रामादिविषयक रति का अनुमान करना ही शंकुक के मत में रस है।

5. जैसे कोई दर्शक पर्वत पर धुँआ देखकर वहाँ अग्नि का अनुमान करता है उसी प्रकार सहृदय नट में रामादिविषयक चेष्टाओं को देखकर उसमें रति आदि भावों का अनुमान कर लेता है।

शंकुक के अनुसार अनुकरण के बल पर चित्रतुरंगन्याय से नट में रामादि का अनुमान करके अनुमानकर्ता दर्शक उसी से आनन्दित होता है। इस अनुमान का नाम ही रस है। इनके अनुसार स्थायी भाव अनुमाप्य और विभाव, अनुभाव, सञ्चारी अनुमापक हैं। ये ही क्रमश: गम्य-गमक हैं। शंकुक अनुकर्त्ता नट में रस मानते हैं, सामाजिक केवल उस रस का अनुमान करते हैं। उन्होंने 'रसोत्पत्तिवाद' का खण्डन करके 'रसानुमितिवाद' की स्थापना की।

लोक में किसी वस्तु को देखकर चार प्रकार की प्रतीतियाँ होती हैं- यथार्थ, मिथ्या, सादृश्य और संशय। जैसे चित्र में बना घोड़ा घोड़ा ही है इस प्रकार की यथार्थ प्रतीति नहीं होती है। यह घोड़ा नहीं है, इस प्रकार की मिथ्या प्रतीति भी नही होती है। यह घोड़े जैसा है, इस प्रकार की सादृश्य प्रतीति भी नहीं होती । यह घोड़ा है या नहीं, इस प्रकार की संशयात्मक प्रतीति

भी नहीं होती, तथापि उसे घोड़ा माना जाता है।

श्री शंकुक के मत में आचार्यों ने अयथार्थता और कृत्रिमता का दोष लगाया है। यहाँ नट-नटी और उनके हाव-भाव चेष्टादि सभी कृत्रिम होते हैं यथार्थ नहीं। कृत्रिम अनुमापकों से अनुमान किया जायेगा तो उससे यथार्थ ज्ञान नहीं हो पायेगा। रस सहृदय के द्वारा अपनी ही अनुभुति का साक्षात् करना है। इसे अनुमेय नहीं कह सकते। अपनी अनुभूति कभी भी अनुमान का विषय बन सकती है।

दूसरे रस की "निष्पत्ति" का अर्थ यदि "अनुमान" है तो अनुमान मिथ्या भी होता है। शीतकाल में पर्वत पर छाये कोहरे को धुँआ मानकर कोई यदि पर्वत पर अग्नि का अनुमान करे तो यह अनुमिति मिथ्या ही है। अतः रस की प्रतीति मिथ्या ज्ञान के आधार पर असम्भव है।

श्री शंकुक के मत में इस समस्या के समाधान के लिए कोई उत्तर नहीं है कि मूल अनुकार्यो की रति, शोक आदि भावनाएँ (स्थायी भाव) सामाजिकों की रति किस प्रकार बनती हैं और दूसरे दु:खात्मक भावों की रसानुभूति सुखात्मक किस प्रकार होती है।

श्री शंकुक के मत पर यह आक्षेप भी लगाया गया कि प्रथम तो अनुमान द्वारा राम-सीता आदि हमारे विभाव नहीं बन सकते। दूसरे, इन दोनों के प्रति भारतीय समाज के संस्कारगत श्रद्धा-भक्ति भाव रस प्राप्ति में बाधक होंगे। राम के प्रति आस्था रखने वाला पाठक राम-सीता के रतिवर्णन से श्रृंगार की अनुभूति कैसे कर सकते हैं? वे जगत्-पिता और जगत्-माता के रूप में पूज्य हैं, उन्हें सामान्य प्रेमी-प्रेमिका मानकर उनकी श्रृंगार लीलाओं से रस कैसे प्राप्त हो सकता है? इन श्रद्धेय पराक्रमी, मर्यादाशील व्यक्तियों से दर्शक का तादात्म्य नहीं हो सकता। अतः शंकुक का मत स्वीकार नहीं किया जा सकता।

9.4 भट्टनायक का भुक्तिवाद

भट्टनायक का भुक्तिवाद का सिद्धान्त भी रस-निष्पत्ति के सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत करता है। भट्टनायक के मत में भरत के रससूत्र में आए "संयोग" का अर्थ है "भोज्य-भोजक" रूप सम्बन्ध तथा "निष्पत्ति" का अर्थ है- "भुक्ति"। भट्टनायक के मत का सार अधोलिखित है-

1. रस-निष्पत्ति की व्याख्या करते हुए भट्टनायक रस-निष्पत्ति में तीन व्यापार माने हैं-

   (क) अभिधा, (ख) भावकत्व, (ग) भोजकत्व।

2. अभिधाव्यापार द्वारा वाक्य के शब्दार्थ राम-सीतादि विभाव और उनकी अवलोकन, स्मित आदि अनुभाव रूप चेष्टाओं का बोध होता है ।

3. भावकत्व व्यापार में विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों तथा रति, शोक, हास आदि स्थायी भावों का साधारणीकरण हो जाता है अर्थात् इन भावों के सम्बन्ध में मेरे अथवा

टिप्पणी

पराये की भावना समाप्त हो जाती है और इस प्रकार ममत्व-परत्व के बन्धनों से मुक्त होकर ये भाव (स्थायी भाव तथा विभावादि) उपभोग-योग्य बन जाते हैं।

4. भोजकत्व व्यापार में रजोगुण और तमोगुण के नाश तथा सतोगुण के उत्कर्ष से वे भाव रसानुभूति बन जाते हैं,जिसे इस मत में रसभोग कहा जाता है।

5. भट्टनायक के अनुसार रस-निष्पत्ति के दूसरे चरण अर्थात् भावकत्व व्यापार में विभाव आदि देश-काल, व्यक्ति से सम्बद्ध न रहकर साधारण रूप धारण कर लेते हैं- जनकवाटिका प्रसंग में राम मर्यादा पुरुषोत्तम न रहकर सामान्य किशोर, सीता सामान्य किशोरी, जनक वाटिका प्रेमी-प्रेमिका का मिलन-स्थान बन जाते हैं। उनके शब्द, मुद्राएँ, भाव-भंगिमा भी उनकी न रहकर साधारण प्रेमी-प्रेमिका की बन जाती हैं। अत: प्रेक्षकों की संस्कारगत श्रद्धा-भक्ति-भावना रसास्वाद में बाधक नहीं बनती। साधारणीकरण होते ही भोजकत्व व्यापार द्वारा वे रस का भोग या रसास्वादन करते हैं।

6. तीनों व्यापार के कार्य जैसे सर्वप्रथम काव्य के अर्थ को समझना दूसरे साधारणीकरण होना तथा तीसरे रसास्वादन होना, ये तीनों एक के बाद बड़ी तेजी से घटित होते हैं।

7. भट्टनायक ने सामाजिक, अनुकार्य और अनुकर्त्ता में रस की प्रतीति तथा उत्पत्ति का खण्डन किया है। उनका कहना है कि रस की प्रतीति न अनुकार्य में होती है न अनुकर्त्ता- में,क्योंकि सामाजिक की दृष्टि से दोनों ही पराये हैं, उनसे उनका सम्बन्ध नहीं होता।

8. सामाजिक में आत्मगत रस की अभिव्यक्ति भी नहीं मानी जा सकती जैसा की अभिनवगुप्त मानते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रतीति मानने पर करुणादि रसों में नायक-नायिका के शोक से सामाजिक को शोक का अनुभव होगा। चूँकि प्रेक्षक वास्तविक राम, सीता का साक्षात्कार नहीं करता इसलिये उसे वैसी प्रतीति नहीं होती।

9. अभिनय काल में प्रेक्षक को अपनी प्रिया की स्मृति भी नहीं होती क्योंकि वैसा होने पर तो चित्त की एकाग्रता नष्ट हो जाएगी। काव्यगत सीतादि में तो सहृदय की पूज्य बुद्धि एवं हनुमान् आदि के समुद्र-लंघन आदि कार्यों के असाधारण होने से भी सामाजिक को स्वगत रूप से रस की प्रतीति नहीं हो सकती।

10. अत: विभावादि का भावकत्व व्यापार से साधारणीकरण हो जाने पर भोजकत्व व्यापार से सत्त्वगुण से युक्त सहृदय को रस का भोग होता है।

रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में साधारणीकरण और सत्त्वोद्रेक का विचार भट्टनायक की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन जिसे परवर्ती अभिनवगुप्त, धनञ्जय, विश्वनाथ आदि सभी आचार्य स्वीकार करते हैं। इसके द्वारा उन्होंने भट्टलोल्लट और शंकुक के मतों में रह गई कमी को दूर किया और रसानुभूति का सम्बन्ध अनुकार्य और अनुकर्ता के स्थान पर सहृदय समाजिक से जोडा।

टिप्पणी

इनके मत में केवल एक ही दोष है, वह यह है कि शास्त्रीय दृष्टि से भोजकत्व-भावकत्व जैसे व्यापारों की कल्पना का कोई आधार नहीं है। आगे चलकर अभिनवगुप्त ने अपना मत स्थिर करते हुए भट्टनायक के मत की शास्त्रीय आधार पर आलोचना की है। अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण को तो स्वीकार किया है परन्तु उन्होंने भावकत्व की कल्पना को निराधार बताते हुए कहा है कि वह अनावश्यक है क्योंकि भावकत्व का कार्य शब्द की व्यञ्जना-शक्ति से पूरा हो जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार भोजकत्व की कल्पना भी निरर्थक है, क्योंकि वह तो रस-निष्पत्ति ही है। अतः रस-निष्पत्ति के लिए किसी दूसरे व्यापार की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं।

9.5 अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

1. अभिनवगुप्त ने रस को अभिव्यक्ति माना है। उन्होंने संयोग का अर्थ- "अभिव्यङ्ग्य-अभिव्यञ्जक सम्बन्ध" तथा निष्पत्ति का अर्थ- "अभिव्यक्ति" है। विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव अभिव्यञ्जक हैं और स्थायी भाव अभिव्यङ्ग्य हैं।जब अभिव्यञ्जकों और अभिव्यङ्ग्य का सम्बन्ध होता है तब रस की अभिव्यक्ति हो जाती है। अभिनवगुप्त का मत ही सर्वमान्य समझा जाता है क्योंकि इसमें रस-निष्पत्ति से सम्बन्धित सभी प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है। अभिनवगुप्त के मत का सार अधोलिखित है।

2. सहृदयों के अन्तःकरण में कुछ भाव नित्य वासना या संस्कार रूप से विद्यमान रहते हैं। काव्य में जब सहृदय विभावादि का पाठ या श्रवण करता है या नाटक में जब वह उन्हें देखता है तो उसके हृदय में स्थित अति सूक्ष्म वासना रूप स्थायी भाव उद्बुद्ध अर्थात् जागृत हो जाते हैं। ये जागृत स्थायी भाव सामाजिक में रस के रूप में अभिव्यक्त होते हैं।

3. रस की निष्पत्ति सामाजिक (पाठक, श्रोता या दर्शक) में होती है। सामाजिक बाहर से किसी भाव का नहीं, बल्कि अपने हृदय में स्थित स्थायी भाव का रसास्वादन करता है। सहृदयों के हृदय के स्थायी भाव विभावादि द्वारा व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव से अभिव्यक्त हो जाते हैं।

4. भट्टनायक ने साधारणीकरण के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा द्वारा अभिनवगुप्त का एक द्वार खोल दिया था। अभिनवगुप्त साधारणीकरण मानते हैं, पर भट्टनायक के कल्पित भावना या भावकत्व को व्यापार नहीं मानते। वे व्यञ्जना के रूप में रस को व्यङ्ग्य मानते हैं। साधारणीकरण में व्यक्ति विशेष का सम्बन्ध परिहार हो जाता है और इस प्रकार इन दोनों प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है कि सामाजिक में रस की प्रतीति कैसे होती है और दुःखात्मक भावों की सुखात्मक अनुभूति किस प्रकार हो सकती है।

5. पहले प्रश्न का उत्तर यह है कि सामाजिकों में रस स्थायी भाव के रूप में पहले से

टिप्पणी

ही विद्यमान रहता है। वे विभावादि द्वारा जागृत अपने ही हृदय में स्थित भावों का रसास्वादन करते हैं रामादि के भावों का नहीं।

6. दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि साधारणीकरण द्वारा विभावादि का अपना रूप हो जाता है। आलम्बनादि का साधारणीकरण तथा स्थायी भावों का साधारणीकरण भावों के दु:खात्मक स्वरूप का विनाश कर उन्हें आस्वादयोग्य बनाता है।

7. जो वस्तु पहले ही से विद्यमान उसी की अभिव्यक्ति सम्भव है, जैसे अँधेरे कमरे में घड़ा पहले से ही विद्यमान होगा ,तभी दीपक का प्रकाश उसे अभिव्यक्त कर सकता है। इसीप्रकार सहृदय के हृदय में रति आदि स्थायी भाव पहले से विद्यमान होते हैं जो विभावादि व्यञ्जकों के द्वारा अभिव्यक्त कर दिए जाते हैं। जैसे अन्धकार युक्त कमरे में पहले से ही विद्यमान घट दीपक के प्रकाश के बिना आलोकार्थी को उपलब्ध नहीं होता, दीपक का प्रकाश होते ही उपलब्ध हो जाता है। दीपक का प्रकाश उसका केवल व्यञ्जक है। उसी प्रकार विभावादि पहले से सहृदय में विद्यमान रति आदि स्थायी भावों के व्यञ्जक हैं। अभिव्यक्ति के योग्य होने से घट अभिव्यङ्ग्य है, उसी प्रकार स्थायीभाव अभिव्यक्ति के योग्य होने से अभिव्यङ्ग्य हैं। घट और दीपक के मध्य व्यङ्ग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध है। उसी प्रकार स्थायीभाव और विभावादि के मध्य भी व्यङ्ग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध है। जिस प्रकार घट और दीप-प्रकाश का संयोग होने पर घट की उपलब्धता से प्रसन्नता होती है उसीप्रकार व्यङ्ग्य-व्यञ्जक स्थायीभाव और विभावादि का संयोग होने पर पहले से ही विद्यमान भाव की अभिव्यक्ति से सहृदय को आनन्द मिलता है।

"अभिनवगुप्त के अनुसार सहृदयों के हृदय में रति आदि भाव संस्कार रूप से विद्यमान होते हैं। वे सहृदय जन लोक में ललना आदि (कारणों) के द्वारा रति आदि का अनुमान करने में निपुण होते हैं। काव्य-नाट्य में कारणत्वादि को त्यागकर वे ललनादि अलौकिक विभाव आदि का रूप धारण कर लेते हैं तथा काव्य की शक्ति से सामान्य विभाव आदि के रूप में प्रतीत होने लगते हैं। सहृदयों में स्थित रति आदि भाव इन्हीं के द्वारा व्यञ्जना से अभिव्यक्त होकर आस्वादित किया जाता है। इस प्रकार का विलक्षण आस्वाद ही रस कहलाता है। यह स्थायी भाव से विलक्षण है"।

इस प्रकार रस भावों का आस्वाद है, वह सामाजिकों में अभिव्यक्त होता है। उसकी स्थिति भी सामाजिकों में ही रहती है। रस की अभिव्यक्ति या अभिव्यञ्जना होती है, उत्पत्ति या अनुभूति नहीं। यह अभिव्यञ्जना व्यङ्ग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध से होती है।

9.6 आचार्य धनञ्जय का मत

आचार्य धनञ्जय भरत के बाद नाटक की दृष्टि से रस की व्याख्या करने वाले प्रमुख और महत्त्वपूर्ण आचार्य हैं। आचार्य धनञ्जय के मत में विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव एवं

व्यभिचारियों के द्वारा रत्यादि स्थायी भाव आस्वादन की अवस्था में रस कहलाता है। नाटकादि के मंचन में नट अपने अभिनय के द्वारा विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव तथा सात्त्विक भावों को प्रदर्शित करता है, जिससे दर्शकों के हृदय में पहले से ही सूक्ष्म वासना (संस्कार) के रूप में विद्यमान रत्यादि स्थायी भाव स्वादगोचर होता हुआ रस रूप में अनुभव किया जाता है। काव्य या नाटक का यह स्वाद अनुपम आनन्द से युक्त चेतना वाला होता है। रस का स्वाद लेने वालों को रसिक, भावक तथा सामाजिक कहते हैं। धनञ्जय मीमांसक मतानुयायी हैं। इनकी रस विषयक साधारणीकरण की विचारधारा भट्टनायक और अभिनवगुप्त के समान है, किन्तु रस निष्पत्ति की प्रक्रिया में न तो भोज्य-भोजक सम्बन्ध मानते हैं, न ही अभिव्यङ्ग्य-अभिव्यञ्जक सम्बन्ध अपितु वे विभावादि के साथ स्थायी भावों का भाव्य-भावक सिद्धान्त मानते हैं।

"आचार्य धनञ्जय के अनुसार रस व्यंग्य न होकर, काव्य का तात्पर्य है। विभावादि तथा स्थायी में भाव्य-भावक सम्बन्ध मानते हैं। उनके मत से विभावादि या काव्य भावक हैं और स्थायी भाव्य। इनके संयोग से सहृदय में रस की भावना होती है। सामाजिक के लिए नटरूप रामादि उसी तरह स्वयं हृदय में विद्यमान रति, उत्साह आदि की भावना कराने वाले बनते हैं जैसे मिट्टी के हाथी-घोड़े बालक में पहले से ही विद्यमान अपने उत्साह आदि की भावना कराते हैं"।

विभावादि रसास्वाद के हेतु हैं। विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारी भाव भावक हैं और स्थायी भाव भाव्य हैं। इनका परस्पर सम्बन्ध होने पर रसिक को रस की भावना होती है।

9.7 आचार्य विश्वनाथ का मत

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने अभिनवगुप्त प्रतिपादित व्याख्या के आधार पर ही रसस्वरूप का निर्धारण किया है। उन्होंने अभिनवगुप्त के समान ही विभावादि स्थायी और सामाजिक की अवस्था का साधारणीकरण माना है। लोक में जो रति, शोक आदि भावों को उत्पन्न करने में कारण, कार्य व सहकारिकारणों की भूमिका निभाते हैं वे ही काव्य में क्रमशः विभावन, अनुभावन व सञ्चरण व्यापार द्वारा अलौकिक विभाव, अनुभाव व व्यभिचारिभाव नाम से कहे जाते हैं। इनसे सामाजिक हृदय में वासनारूप से पूर्व में ही विद्यमान रत्यादि का उद्‌बोध रस है।

लोक में वनितादि कारणों, उनके कटाक्ष भुजाक्षेप आदि कार्यों व लज्जा औत्सुक्यादि सहकारिकारणों से जिन व्यक्तियों में उनके प्रेम आदि भावों का अनुमान करने की दक्षता आ गई है, लौकिक रति आदि भावों का पुनः पुनः अनुभव उनमें संस्कार बन चुका है तथा जिनमें जन्मान्तर के भी रत्यादि संस्कार विद्यमान हैं, उन्हें सहृदय कहते हैं और उन्हीं को काव्य-नाट्य से रसास्वादन होता है।

विश्वनाथ अभिनवगुप्त की तरह इस तथ्य का भी स्पष्ट उल्लेख करते हैं कि लौकिक रति, शोक आदि स्थायी भाव लोकसम्बन्ध दशा में चाहे सुख या दुःख के कारण भले ही हों, किन्तु काव्य-नाट्य का आश्रय प्राप्त कर अलौकिक विभावादि के सम्पर्क से लौकिक दशा से हटकर अलौकिक बनने पर पूर्णतः सुख की ही अनुभूति कराते हैं।

विश्वनाथ रस को अनुकार्य रामादि में नहीं मानते, क्योंकि सीता आदि के दर्शन से उद्‌बुद्ध रति अन्य किसी व्यक्ति में न होकर राम में ही रहती है जबकि रस की प्रतीति एक काल में अनेक सहृदयों में होती है। सीतादर्शन से उद्‌बुद्ध रति लौकिक है जब कि रस अलौकिक है।

नाट्यदर्शन के परिणामस्वरूप सीता के दर्शन से राम में उद्‌बुद्ध होने वाला रतिबोध सहृदय में होता है क्योंकि सीता के दर्शन से राम में उद्‌बुद्ध रति में नाट्यदर्शन व काव्यश्रवण से व्यवधान भी हो गया है। अतः वहाँ कारण-कार्य का साक्षात् सम्बन्ध न रहने से नाट्यदर्शन से उद्‌बुद्ध होने वाली रति अनुकार्य राम में नहीं माना जा सकती है।

विश्वनाथ अनुकर्त्ता नट में भी रस की स्थिति नहीं मानते।वह शिक्षा-अभ्यास आदि के बल से वाचिक, आङ्गिक, आहार्य तथा सात्त्विक इन चार प्रकार के अभिनयों द्वारा अनुकार्य रामादि की सरूपता का प्रदर्शन करता है। यदि उसको रसास्वादन होगा तो वह उसमें तन्मयीभाव प्राप्त कर लेगा और रामादि की सरूपता का प्रदर्शन नहीं कर सकेगा जो कि उसका वास्तविक कार्य है। दूसरी बात यह है कि अनुकर्त्ता पात्र है, पात्र का कभी रसास्वादन नहीं होता। नट यदि प्रेक्षक बन कर नाट्यादि का आस्वादन करे तो उसे भी रसानुभूति हो सकती है।

9.8 आचार्य जगन्नाथ का मत

आचार्य जगन्नाथ रस परम्परा के अन्तिम प्रबल आचार्य माने जाते हैं। इन्होंने भी पूर्वाचार्यों के ही मत का मौलिकता से पुनराख्यान किया है। आचार्य जगन्नाथ भी स्वीकार करते हैं कि स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत हो जाते हैं। इनके अनुसार रति आदि स्थायीभाव ही स्वतः प्रकाशमान आत्मानन्द के साथ अनुभूत होकर रस हो जाते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ का विचार है कि सहृदय की चेतना में वासना रूप में स्थायी भाव सदैव छिपा रहता है। जब अज्ञान का आवरण भङ्ग हो जाता है तब वह स्थायी भाव प्रकट हो जाता है, जिसके अन्दर आनन्द स्थित होता है।

आचार्यों के रसास्वादन से सम्बद्ध विचारों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि सामाजिक जब काव्य को पढ़ता, सुनता या देखता है, तो उसमे वर्णित पात्रों के साथ उसका साधारणीकरण हो जाता है। अर्थात् उन पात्रों के प्रति उसका अपनत्व-परकीयत्व समाप्त होकर उनसे एक विशेष सम्बन्ध जुड़ जाता है। इस स्थिति में वह पात्र के सुख-दुःख का विशेष रूप से अनुभव करने लगता है। इस सुख-दुःख के अनुभव में वह आनन्द का ही अनुभव करता है। यह आनन्दानुभूति ही रसास्वाद है।

टिप्पणी

पाठगत प्रश्न 9.1

1. रस सूत्र से आप क्या समझते हैं?
2. रस सूत्र के प्रवर्तक कौन हैं?
3. रस की मुख्य कितनी व्याख्याएँ मान्य हैं?
4. भट्टलोल्लट का मत किस नाम से विख्यात है?
5. भट्टलोल्लट का 'संयोग' से क्या अभिप्राय है?
6. भट्टलोल्लट निष्पत्ति का क्या अर्थ करते हैं?
7. भट्टलोल्लट रस की स्थिति कहाँ स्वीकार करते हैं?
8. क्या अनुकार्य में रस सम्भव है?
9. 'अनुमितिवाद' किस आचार्य का मत है?
10. शंकुक का 'संयोग' से क्या अभिप्राय है?
11. शंकुक 'निष्पत्ति' का क्या अर्थ ग्रहण करते हैं?
12. शंकुक रस की स्थिति कहाँ स्वीकार करते हैं?
13. क्या केवल नटादि में रस है?
14. शंकुक किस न्याय से नट आदि में रस स्वीकार करते हैं?
15. भट्टनायक का रस निष्पत्ति मत क्या है?
16. 'संयोग' से भट्टनायक का क्या अभिप्राय है?
17. 'निष्पत्ति' का भट्टनायक क्या अर्थ करते हैं?
18. भट्टनायक कितने काव्य व्यापार मानते हैं?
19. भट्टनायक को विभावादि का साधारणीकरण किस व्यापार द्वारा मान्य है?
20. सहृदय के रसास्वादन में भट्टनायक को कौन-सा व्यापार मान्य है?
21. भट्टनायक के मत का मुख्य दोष क्या है?

22. अभिनवगुप्त का रसनिष्पत्ति मत क्या कहलाता है?

23. अभिनवगुप्त ने 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' से क्या अर्थ स्वीकार किया है?

24. अभिनवगुप्त के मत की सर्वमान्यता का मुख्य कारण क्या है?

25. आचार्य धनञ्जय रस को किस रूप में स्वीकारते हैं?

26. क्या आचार्य धनञ्जय के मत में भी रस व्यङ्ग्य है?

27. आचार्य विश्वनाथ को रस की स्थिति कहाँ मान्य है?

28. आचार्य विश्वनाथ रस किसे कहते हैं?

29. विश्वनाथ के अनुसार रसास्वादन किसे होता है?

30. आचार्य जगन्नाथ के मत में रस क्या है?

31. आचार्य जगन्नाथ रस को किस प्रकार परिभाषित करते हैं?

9.9 साधारणीकरण

"साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्त कर सकता है कि वह सभी के हृदय में समान अनुभूति जगा सके, तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति विद्यमान है"।

साधारणीकरण उस व्यापार को कहते हैं जिसके द्वारा सहृदय अपने पूर्व मोह,चिन्ता,ग्लानि, सुख-दु:ख आदि भावों से मुक्त हो जाता है। इस मुक्ति में ममत्व-परत्व की भावना नहीं रहती। काव्य-नाट्य के पात्र विशेष न होकर सामान्य प्राणिमात्र रह जाते हैं और उसके भाव व्यक्तिविशेष के न होकर प्राणिमात्र के भाव हो जाते हैं परिणामस्वरूप काव्य-नाट्य में वर्णित कवि के भावों के प्रति दर्शक-पाठक और श्रोता पूर्ण तन्मय हो जाते हैं।

आचार्यों ने इस सम्बन्धित में दो बातों पर बल दिया- एक तो विभावादि का साधारणीकरण और दूसरे पाठक और श्रोता की अनुभूति का कवि वर्णित आश्रय की अनुभूति के साथ तादात्म्य। अत: साधारणीकरण का अभिप्राय यह हुआ कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष का भाव है वह उसी प्रकार का हो जाए जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव होते हैं। कवि प्रतिपादित विभावादि वस्तु जैसे आश्रय के लिये आलम्बन बन जाती है वैसे ही सभी सहृदय पाठकों, श्रोताओं के भावों का भी आलम्बन बन जाए। इससे यह सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण विभावादि आलम्बन का होता है। तात्पर्य यह है कि आलम्बनरूप में

टिप्पणी

प्रतिष्ठित भाव समान प्रभाव वाले धर्मो की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है।

इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि साधारणीकरण का स्वरूप किसी एक का सामान्यीकरण नहीं है। साधारणीकरण आश्रय, आलम्बन-उद्दीपन विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव- का सम्मिलित, मिला-जुला क्रिया-कलाप है। जब इनका सम्मिलित क्रियाकलाप या व्यापार विशिष्ट व्यक्तित्व से रहित होकर, विशिष्ट सम्बन्धों का परित्याग कर सामान्य या साधारण रूप ग्रहण कर लेता है तभी पाठक या श्रोता को रति आदि भावों की अनुभूति हो सकती है। इस अवस्था में सहृदय के लिए भी व्यक्तिगत भावनाओं से मुक्त होना आवश्यक है। अतएव साधारणीकरण विभावादि का वह सम्मिलित साधारणीकृत रूप है, जिसके कारण सहृदय अपने पूर्व-मोहादि भावों और सम्बन्धों से मुक्त होकर रस का आस्वादन करता है।

साधारणीकरण किसका होता है? यह आचार्यो के विवाद का विषय है। कोई आचार्य आलम्बन का तो कोई कवि की अनुभूति का तथा कोई सहृदय का साधारणीकरण मानते हैं। भट्टनायक और विश्वनाथ स्पष्टतया विभाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव-तीनों का साधारणीकरण मानते हैं। अभिनवगुप्त भी विभावादि का साधारण रूप ग्रहण कर लेना स्वीकार करते हैं। तात्पर्य यह है कि ये तीनों आचार्य विभावादिकों का साधारणीकरण अर्थात् असाधारण या विशिष्ट का साध ारण रूप ग्रहण करना स्वीकार करते हैं।

साधारणीकरण रसास्वाद में भूमि का कार्य करता है। जब तक साधारणीकरण का व्यापार न हो जाये, रसास्वाद सम्भव ही नहीं क्योंकि सामाजिक (पाठक-श्रोता या दर्शक) मूल पात्रों जिन्हें आश्रय कहा जाता है और उनके आलम्बन की रति का आस्वाद किस प्रकार कर सकता है। दुष्यन्त शकुन्तला, राम-सीता की रति का आस्वादन धार्मिक भावना या पवित्रता की दृष्टि से ठीक नहीं और अन्य पात्रों की रति उसकी न होने से रति का आस्वादन होगा ही नहीं। इस प्रकार, जब रत्यादि स्थायी भाव और विभावादि सबका साधारणीकरण हो जाता है, तभी पाठक, श्रोता या दर्शक रसास्वाद करने में समर्थ होता है।

सारांश यह कि विशेष या असाधारण का साधारण रूप ग्रहण कर लेना ही साधारणीकरण कहलाता है। काव्यपाठ या काव्य श्रवण की अपेक्षा नाटक-सिनेमा देखने में साधारणीकरण का रूप अधिक प्रत्यक्ष होता है। सामाजिक अपने लौकिक क्षुद्र विषयों को भूलकर नाटक और काव्य के विषयों में चित्त को निर्बाध रूप से जितना ही प्रविष्ट होने देंगे उतना ही वे रसास्वादन करेंगे।

उदाहरण के लिये, राम-सीता के जनक-वाटिका प्रसंग को पढ़ते या देखते समय दर्शक पाठक उन्हें अवतारी पुरुष न मानकर सामान्य युवक-युवती मान लेते हैं जो प्रथम दर्शन में एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट होते हैं।

रसानुभूति साधारणीकरण पर ही आधारित है। इस सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों ने अनेक प्रकार से विचार किया है। इन आचार्यों के विचारों को संक्षेप में यहाँ दिया जा रहा है-

1. भट्टनायक अपने कल्पित व्यापार 'भावकत्व' द्वारा साधारणीकरण मानते हैं। उनके मत का सारांश यह है कि काव्य और नाटक में अभिधा के द्वारा शब्दार्थ का बोध हो जाने के पश्चात् भावकत्व व्यापार के द्वारा विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों का साधारणीकरण हो जाता है। परिणामस्वरूप सामाजिक के अपने समस्त मोह, संकट आदि से उत्पन्न अज्ञान का निवारण हो जाता है तथा इसके बाद सत्त्वगुण की प्रबलता होने से रस भाव्यमान होता है।

2. अभिनवगुप्ताचार्य के अनुसार जब नाटकादि में वर्णित देश, काल, प्रभाव आदि की विषय-सीमा नष्ट हो जाती है अर्थात् ये हर प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं। साधारणीकरण द्वारा कवि-निर्मित पात्र व्यक्ति-विशेष न रहकर सामान्य प्राणि-मात्र बन जाते हैं और इनके इस स्थिति में उपस्थित हो जाने पर सहृदय भी अपने पूर्वाग्रहों-अपने लौकिक सम्बन्धों से मुक्त हो जाता है। यहाँ विभावादि के साधारणीकरण के साथ सहृदय का भी साधारणीकरण होता है जिससे वह ममत्व-परत्व के बन्धन से मुक्त जाता है और सामाजिकों के हृदय के स्थायी भाव भी व्यक्ति के न रहकर सामान्य हो जाते हैं। तब रस का आस्वादन होता है। इस प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त विभावादि और सहृदय का साधारणीकरण मानते हैं।

3. आचार्य विश्वनाथ काव्य या नाटक के समस्त विभावादि का अपने विशिष्ट व्यक्तित्व से रहित हो जाना साधारणीकरण मानते हैं। इसके अतिरिक्त वे यह भी कहते हैं कि विशिष्टता के सामान्य हो जाने का परिणाम यह होता है कि काव्य-नाटकादि के पात्र और सहृदय दोनों में अभेद स्थापित हो जाता है अर्थात् दोनों का तादात्म्य हो जाता है। इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ विभावादि में साधारणीकरण के साथ पाठक और पात्र (आश्रय) का तादात्म्य भी मानते हैं।

4. पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार कवि और नट द्वारा विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव के प्रकाशित होने पर सामाजिक व्यञ्जना-व्यापार द्वारा यह स्वीकृत कर लेता है कि काव्य में वर्णित आश्रय में आलम्बन के प्रति रति-भाव है। तब सहृदयता के कारण एक विशेष भावना उत्पन्न होती है, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक की आत्मा कल्पित, आश्रय से आच्छादित हो जाती है और तब सहृदय (सामाजिक) के हृदय में रति आदि भाव उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हीं रति आदि भावों का नाम ही रस है। आचार्य जगन्नाथ सामाजिक और आश्रय का तादात्म्य स्वीकार करते हैं।

पाठगत प्रश्न 9.2

1. साधारणीकरण से आप क्या समझते हैं?

2. साधारणीकरण किसका होता है?

3. रसास्वाद में साधारणीकरण की क्या भूमिका है?

4. भट्टनायक के अनुसार साधारणीकरण क्या है?

5. आचार्य विश्वनाथ किसे साधारणीकरण मानते हैं?

6. अभिनवगुप्त के अनुसार साधारणीकरण क्या है?

टिप्पणी

9.10 सहृदय की अवधारणा

कोई कविता पढ़कर पाठक या श्रोता तभी आनन्द का उपभोग कर सकते हैं जब वे कवि वर्णित प्रत्येक दृश्य, शब्द, अभिव्यक्ति, अर्थ को हृदयंगम कर सकें, कवि ने जिस दशा मे कविता लिखी है उस अवस्था की कल्पना करके उसके भाव को प्रत्यक्ष कर सकें। नाटक के प्रेक्षक अथवा काव्य के पाठक-श्रोता में ऐसी कल्पना करने की जितनी शक्ति होगी उतना ही वे आनन्द लाभ कर सकते हैं। पूर्ण एकाग्रता के साथ काव्य-नाट्य का अनुशीलन करते समय प्रेक्षक एवं पाठक की भावभूमि कवि की भावभूमि के समान हो जाती है। कवि सम्मेलनों के श्रोता जब किसी कविता पर वाह-वाह करते हैं वह इस बात का सूचक है कि कवि के मर्म को जानकर वे सब आनन्दित हैं और उनका आनन्द वाह वाह के शब्दों से व्यक्त होता है। इसी प्रकार राम के वियोग में दशरथ की व्याकुलता का दृश्य देखकर दर्शक उसी के समान स्वयं भी व्याकुलता का अनुभव करता है तो उसकी आँखे भी छलक पड़तीं है। काव्य-नाट्य में अभिव्यक्त करुण दृश्य को देखकर दर्शक का स्वयं को भूल कर करुणा से भर उठना या प्रसन्नता का भाव देखकर प्रसन्न हो जाना तभी सम्भव है जब पाठक और दर्शक में सहृदयता हो। अभिनवगुप्त के अनुसार सहृदय में निम्नलिखित गुण आवश्यक हैं-

1. चित्त की विशदता

2. स्वहृदयसंवादभाजकता

3. वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता

चित्त की विशदता- चित्त की विशदता का अर्थ है- हृदय की निर्मलता। राग-द्वेष, काम, क्रोध आदि चित्त के मल हैं और उसे मलिन बनाते हैं। इनसे हृदय में राग-द्वेष की भावनाएँ पैदा होती हैं। राग-द्वेष से युक्त मन काव्य-नाट्य में एकाग्र नहीं हो पाता। सहृदयता के लिये मन का इन विकारों से रहित होना आवश्यक है। जैसे निर्मल दर्पण में मुख आदि प्रतिबिम्ब स्पष्टता के साथ दिखाई देता है उसी प्रकार सहृदय के निर्मल हृदय में कवि के वर्णित भाव सरलता से प्रतिबिम्बित हो जाते हैं।

स्वहृदयसंवादभाजकता- सहृदयता के लिये प्रेक्षक के अपने हृदय में संवाद करने की क्षमता आवश्यक है। हृदय संवाद का अर्थ है- एक व्यक्ति ने जिस बात को जैसे जाना है दूसरे के

द्वारा भी वैसा ही अनुभव करना। हृदय-संवाद द्वारा अलग-अलग व्यक्तित्व होने पर भी दो व्यक्तियों की भावनायें समान हो जाती हैं। सहृदय अपनी संवादशालिता के कारण कवि हृदय से अपने को एकाकार कर लेता है। कवि और सहृदय के भाव समान हो जाते हैं।

वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता- वर्णनीय वस्तु के प्रति तन्मय होने की योग्यता भी सहृदय के लिये आवश्यक है। इसका अर्थ है- कवि के द्वारा वर्णित विषय में पूर्ण एकाग्रता और तादात्म्य। कवि के द्वारा जिस वस्तु का वर्णन किया जाता है, सहृदय उस वर्णन में इतना डूब जाता है कि उसे उसके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता। इस अवस्था को नाटकीय विषय वस्तु के प्रति तन्मयीभाव और तादात्म्य भी कहते हैं। तादात्म्य की अवस्था में कवि की मनोदशा और सहृदय की मनोदशा समान हो जाती है। चित्त में स्वकीय-परकीय भावों की संकुचित सीमायें समाप्त हो जाती हैं। जब अभिनीत नाटक को देखा जाता है अथवा काव्य को पढ़ा जाता है तब सहृदय का चित्त उसमें प्रस्तुत भाव से परिपूर्ण होना चाहिए। प्रस्तुत विषय-वस्तु से असंबद्ध किसी अन्य भाव अथवा भावों के उदय से मन व्याकुल नहीं होना चाहिए। उदाहरण के लिए, नाटक के किसी करुण दृश्य को यदि दर्शक, पाठक या श्रोता अपने निजी जीवन की किसी घटना से जोड़ ले तो उसका रस नहीं ले सकता। व्यक्तिगत प्रवृत्ति का उदय तन्मयीभाव को खण्डित कर देता है।

लोक में देखा जाता है कि बिना बताये भी किसी व्यक्ति की मनोदशा का ज्ञान उसकी चेष्टाओं और हाव-भाव देखकर हो जाता है, किन्तु ममत्व-परत्व की तुच्छ सीमाओं में बँधे होने से उनके साथ व्यक्ति का तन्मयीभाव नहीं हो पाता। नाट्य से अभिव्यक्त होने वाली दर्शक की चित्तवृत्ति प्रतीति की संकुचित सीमाओं में नहीं बँधती। उसमें तुच्छ स्वार्थपरता नहीं होती। रसज्ञ की व्यक्तिगत सीमायें उस समय शिथिल हो जाती हैं। मन पूरी तरह भाव में लीन होकर चरम शान्ति का अनुभव करता है। उस समय दर्शक साधारणीभूत चित्तवृत्ति को ग्रहण करता है। नाट्यप्रयोग की दृष्टि से इसे रसना व्यापार कहते है। अतः कहा जा सकता है कि सहृदय व्यक्ति में ही काव्य-नाटक आदि से आनन्द प्राप्त करने की क्षमता रहती है। कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास सहृदयों की ही वस्तु हैं। सहृदय ही इनके रस का अनुभव कर सकता है। सहृदयता के बिना न तो रसिकता ही सम्भव है, न ही न काव्यनाट्य से तन्मयता और रसास्वाद। सहृदयत रसानुभव की कसौटी है, जिसमें सहृदयता नहीं वह रसानुभव में समर्थ नहीं।

पाठगत प्रश्न 9.3

1. सहृदय से आप क्या समझते हैं?
2. क्या हर व्यक्ति सहृदय होता है?
3. तन्मयता से आप क्या समझते हैं?

टिप्पणी

4. आनन्द का सम्बन्ध किससे है?

5. सहृदयता के लिये कौन से गुण आवश्यक हैं?

आपने क्या सीखा

- रस सूत्र के प्रवर्तक आचार्य भरत हैं।
- **"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्ति।"** मुख्य रस सूत्र है जिसकी व्याख्या आचार्यों ने भिन्न-भिन्न की है।
- प्रमुख रस सूत्र विवेचक आचार्य भट्टलोल्लट,शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त हैं। जिन्होंने संयोग और निष्पत्ति का अर्थ निम्नलिखित रूप से किया है-

आचार्य	**मत**	**संयोग-सम्बन्ध**	**निष्पत्ति**
भट्टलोल्लट	उत्पत्तिवाद	"उत्पाद्य-उत्पादकसम्बन्धात्"	"उत्पत्ति:"
शंकुक	अनुमितिवाद	"अनुमाप्य अनुमापकसम्बन्धात्"	"अनुमिति"
भट्टनायक	भुक्तिवाद	"भोज्यभोजकसम्बन्धाम्"	"भुक्ति"
अभिनवगुप्त	अभिव्यक्तिवाद	"अभिव्यङ्ग्य-अभिव्यञ्जकसम्बन्ध"	"अभिव्यक्ति"

- आचार्य धनञ्जय रस निष्पत्ति के घटकों और साधारणीकरण को भट्टनायक के समान ही मानते हैं किन्तु उनका रसनिष्पति का सिद्धान्त मौलिक है। जिसके अनुसार विभावादि या काव्य भावक हैं, स्थायीभाव भाव्य और रस की भावना होती है।
- साधारणीकरण का अभिप्राय विषय के सामान्यीकरण से है। साधारणीकरण सम्मिलित क्रिया-कलाप है,यह न केवल आश्रय का होता है न केवल आलम्बन का और न इन दोनों का पृथक्-पृथक् बल्कि इनके सम्मिलित या सम्मिश्रित क्रिया-कलाप का व्यापार है।
- सहृदय वह व्यक्ति जो काव्य या नाटक में तन्मय होने की योग्यता रखता है।

इस प्रकार रस-निष्पत्ति और साधारणीकरण, सहृदय की व्याख्या कर लेने के पश्चात् समग्र रूप से रस की अभिव्यक्ति की व्याख्या समझ में आ जाती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भरतमुनि के रस-निष्पत्ति सूत्र- विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् की में

कहा कि सहृदय के हृदय में वासना रूप में स्थित स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव का संयोग प्राप्त कर लेता है तो रस-रूप में अभिव्यक्त हो जाता है।

पाठान्त प्रश्न

1. रस सूत्र विमर्श से आप क्या समझते हैं?
2. आचार्य भट्टलोल्लट के अनुसार रसनिष्पत्ति की व्याख्या स्पष्ट कीजिए।
3. श्रीशंकुक के मत का स्वरूप और रसनिष्पत्ति में रह न्यूनता पर प्रकाश डालिए।
4. भट्टनायक की रसख्रनिष्पत्ति के वैशिष्ट्य को सविस्तार उद्घाटित करिए।
5. अभिनवगुप्त का मत अभिव्यक्तिवाद स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
6. आपके दृष्टिकोण से रससूत्र की सर्वाधिक उचित व्याख्या कौन सी है और कैसे?
7. साधारणीकरण को स्पष्ट करते हुए उसकी आवश्यकता बताइये।
8. सहृदय की अवधारणा को समझाइए।
9. साधारणीकरण और सहृदय रसास्वादन के मूलभूत सेतु हैं सिद्ध कीजिए।
10. रस निष्पत्ति और इसके सम्पूर्ण कलेवर पर निबन्ध लिखिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

9.1

1. रस सम्बन्धित सूत्र (विभावानुभाव व्याभिचारि संयोगाद् रसनिष्पत्ति)
2. आचार्य भरत
3. चार
4. उत्पत्तिवाद
5. 'उत्पाध-उत्पादक सम्बन्ध' (कार्यकारण भाव)
6. 'निष्पति' का अर्थ है 'उत्पत्ति'

टिप्पणी

7. रस की स्थिति 'अनुकार्य' में स्वीकार करते हैं।
8. जी हाँ अनुकार्य में रस सम्भव है।
9. श्रीशंकुक
10. संयोग से अभिप्राय 'गन्य-गमक' अथवा 'अनुभाष्य-अनुमापक' है
11. निष्पत्ति का अर्थ ''अनुमिति'' है।
12. शकुंक रस की स्थिति अनुमान में स्वीकारते हैं।
13. आचार्य शंकुक के अनुसार नटादि में रस है।
14. चित्रतुरंगन्याय
15. भट्टनायक का रस निष्पति मत 'भुक्तिवाद' है।
16. भट्टनायक के अनुसार संयोग का अर्थ 'भोज्य भोजक' है।
17. निष्पत्ति का अर्थ 'भुक्ति' है।
18. तीन काव्य व्यापार (1.) अभिधा, (2.) भावकत्व, (3.) भोजकत्व
19. अभिधा व्यापार द्वारा
20. भावकत्व व्यापार
21. शास्त्रीय दृष्टि से भोजकत्व भावकत्व जैसे व्यापारों की कल्पना का कोई आधार नहीं है।
22. अभिव्यक्तिवाद
23. संयोग 'अभिव्यङ्ग्य-अभिव्यञ्जक सम्बन्ध' निष्पति- 'अभिव्यक्ति)'
24. क्योंकि इसमें रस निष्पति सम्बन्धित सभी प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है।
25. धनञ्जय के अनुसार रस व्यंग्य न होकर, काव्य का तात्पर्य है।
26. धनञ्जय के मत में रस व्यंग्य नहीं है।
27. रस सदृश्य के हृदय में पूर्व में ही विद्यमान होता है।

28. सामाजिक हृदय में वासना रूप से पूर्व में ही विद्यमान इत्यादि का उद्बोध रस है।

29. सहृदय को

30. आचार्य जगन्नाथ के अनुसार स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत होते हैं।

31. पंडितराज जगन्नाथ का विचार है कि सहृदय की चेतना में वासना रूप में स्थायी भाव सदैव छिपा रहता है। जब अज्ञान का आवरण भंग हो जाता है, तब वह स्थायी भाव प्रकट हो जाता है।

9.2

1. व्यक्ति की अनुभूति की ऐसी अभिव्यक्ति जो सभी के हृदय में समान अनुभूति जगा सके, उसे साधारणीकरण कहते हैं।

2. साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है।

3. साधारणीकरण रसास्वाद में भूमि का कार्य करता है।

4. भट्टनायक के अनुसार 'भावकत्व' ही साधारणीकरण है।

5. विश्वनाथ काव्य या नाटक के समस्त विभावादि का अपने विशिष्ट व्यक्तित्व से रहित हो जाना साधारणीकरण मानते हैं।

6. अभिनवगुप्त विभावादि और सहृदय का साधारणीकरण मानते हैं।

9.3

1. जो कवि वर्णित प्रत्येक दृश्य, शब्द, अभिव्यक्ति, अर्थ को हृदयंगम कर सके वह सहृदय है।

2. हाँ

3. विषय में लीन हो जाना/खो जाना (एकाग्रता)

4. रसानुभूति से

5. चित की विशदता, स्वहृदय संवाद, भाजकता, वर्णनीय तन्मयी भवन योग्यता

मॉड्यूल-4

नाट्य परंपरा का प्रायोगिक पक्ष

इस मॉड्यूल में भारतीय नाटकों से प्रमुख नाटकों का चयन कर पूर्व में दिए गए सैद्धांतिक पक्ष के अनुप्रयोग को शिक्षार्थियों के सामने प्रस्तुत किया गया है।

10. अभिज्ञानशाकुंतल

11. मृच्छकटिक

12. ध्रुवस्वामिनी

13. प्रबोधचंद्रोदय

10

अभिज्ञानशाकुंतल

संस्कृत महाकवि कालिदास के लिए प्राय: यह उक्ति बहुत प्रयोग की जाती है– 'कालिदासस्य सर्वासमभिज्ञानशाकुंतलम्' तथा 'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुंतला'। संस्कृत विद्वानों ने कालिदास की रचनाओं को न केवल संस्कृत साहित्य बल्कि विश्व साहित्य की भी सर्वश्रेष्ठ कृति स्वीकार की है। यह एक ऐसा नाटक है जिसमें सभी रसों का बहुत ही सुंदर तरीके से प्रयोग कालिदास ने किया है। इस नाटक में कालिदास चंद्रवंशी राजा दुष्यंत तथा महर्षि कण्व की पालित पुत्री शकुंतला के प्रणय, वियोग और पुनर्मिलन की कथा है जिसे विभिन्न नाटकीय मोड़ के साथ वे अभिव्यक्त करते हैं। यह एकमात्र ऐसी रचना है जिसका अनुवाद और प्रदर्शन रंगमंच पर सर्वाधिक हुआ है। नाट्यशास्त्र की परंपरा में अभिज्ञान शाकुंतल श्रेष्ठ नाटक है। नाट्यशास्त्र के वर्णित विषयों को समझाने के लिए प्राय: कालिदास की रचनाओं का उदाहरण दिया जाता है।

अभिज्ञानशाकुंतल ही एकमात्र ऐसी कृति है जिसे भारत के साथ ही साथ विश्व की अन्य भाषाओं में भी अनुवाद किया गया है। इस अध्याय में हम कालिदास की इस महान रचना अभिज्ञानशाकुंतल के बारे में जानने की कोशिश करेंगे।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप–

- महाकवि कालिदास के विषय में जानते हैं;

- महाकवि कालिदास की रचनाओं के विषय में जानते हैं;
- अभिज्ञानशाकुंतल की कथावस्तु को जानते हैं;
- अभिज्ञानशाकुंतल के पात्रों का चरित्र चित्रण जानते हैं; और
- अभिज्ञानशाकुंतल की नाट्यशैली को समझते हैं।

10.1 कालिदास का सामान्य परिचय

महाकवि कालिदास के जीवन और परिचय के संदर्भ में विद्वानों में मत-मतांतर है। कई विद्वान इस बात से सहमत हैं कि कालिदास उज्जयनी के राजा विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक हैं। उनका समय काल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी रहा है। कालिदास जिस समय में अपनी रचनाएँ करते हैं वह समय बौद्ध धर्म के पतन और वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का समय था। मौर्य वंश की राज सत्ता शुंग वंशीय ब्राह्मणों के हाथ में चली गई थी और वैदिक धर्म को राज्य आश्रय प्राप्त हो गया था। यज्ञ कर्मकांड और वेद मंत्रों की ध्वनि फिर से समाज में प्रचलित होने लगी थी। कालिदास की रचनाओं को समझने के लिए उस दौर की सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना को समझना बहुत ही आवश्यक है।

महाकवि कालिदास ने तीन महाकाव्य और तीन ही रूपकों की रचना की है किंतु अपनी लेखन प्रतिभा से वे विश्व के महान रचनाकारों में गिने जाते हैं। उनके द्वारा लिखित तीन महाकाव्य हैं-(1) मेघदूत, (2) रघुवंश एवं (3) कुमारसंभव। साथ हि उनके द्वारा रचित तीन रूपक हैं-(1) मालविकाग्निमित्र, (2) विक्रमोर्वशीय एवं (3) अभिज्ञानशाकुंतल।

कालिदास द्वारा विरचित प्रथम नाटक है-'मालविकाग्निमित्र' में शुंगवंशीय राजा अग्निमित्र और मालविका नामक राजकुमारी की प्रणय कथा है। उनके दूसरे नाटक- 'विक्रमोर्वषीय' में अप्सरा उर्वषी और राजा पुरुरवा के पारस्परिक प्रेम की कथा है। इस कथा का मूल रूप वैदिक आख्यानों से उन्होंने ग्रहण किया है। इसी क्रम में उनकी तीसरी नाट्यरचना है-'अभिज्ञानशाकुंतल' जिसमें राजा दुश्यंत और शकुंतला की प्रणय कथा है। रचना दृष्टि यह कालिदास की पूर्णतया परिपक्व शैली में लिखा गया है।

10.2 अभिज्ञानशाकुंतल का परिचय

कालिदास ने अभिज्ञानशाकुंतल की कथा महाभारत के शकुंतलोपाख्यान से ग्रहण की है। नाटक अभिज्ञानशाकुंतल में कालिदास मूल कथा में अपनी कल्पना से कुछ परिवर्तन कर नाटक को और रोचक बनाने का यत्न करते हैं। नायक और नायिका के चरित्र का चित्रण वे बहुत ही खूबसूरती के साथ करते हैं। अपनी कल्पना से उन्होंने मूल कथा में कुछ परिवर्तन कर लोक

मर्यादा को भी बनाए रखा है। शकुंतला की कथा महाभारत की तरह ही पद्मपुराण में भी मिलती है। पद्मपुराण में मिलने वाली कथा अभिज्ञानशाकुंतल की कथा से कुछ समानताएँ रखती है। इसीलिए कुछ आलोचकों का मानना है कि कालिदास ने अपने नाटक के लिए कथानक का चयन पद्मपुराण से किया है। अभिज्ञानशाकुंतल एक मनोरंजक और सरल रचना है। यह तो स्पष्ट है कि कालिदास अपनी कल्पना से कुछ परिवर्तन करते हैं जैसे भंवरे का दृश्य, दुर्वासा का श्राप देना, मछुआरे का प्रसंग और चौथा अंक। नाटक के कथानक के साथ इस तथ्य को हमें अवश्य समझना चाहिए तभी हम प्रत्येक अंत में वर्णित कथा के बारे में समग्रता में जान सकेंगे।

पाठगत प्रश्न 10.1

1. कालिदास का समय काल क्या है?

   ....

2. कालिदास का सर्वश्रेष्ठ नाटक किसे माना गया है?

   ....

3. अभिज्ञानशकुंतला नाटक के कथानक के स्रोत क्या हैं?

   ....

4. अभिज्ञानशाकुंतल की मूल कथा क्या है?

   ....

5. कालिदास की काव्य रचनाएँ कौन-कौन सी हैं?

   ....

10.3 अभिज्ञानशाकुंतल की कथावस्तु

कालिदास ने अपने नाटक 'अभिज्ञानशाकुंतल' में मुख्य कथानक को सात अंकों में विभक्त किया है। प्रत्येक अंक में वर्णित कथा इस प्रकार है:-

पहला अंक

प्रथम अंक के आरंभ में कालिदास मंगलाचरण की प्रक्रिया का निर्वाह करते हुए भगवान शिव की स्तुति करते हैं। तत्पश्चात मंच पर सूत्रधार और नटी का प्रवेश होता है। सूत्रधार नटी को पुकारता है और कहता है कि अगर आभूषण धारण कर चुकी हो तो इधर आओ। सूत्रधार अपने संवाद में दर्शकों को संबोधित करता है और नटी से उनके समक्ष नाटक प्रस्तुत करने का अनुरोध करता है। सूत्रधार और नटी के प्रसंग के साथ ही मंच पर दुष्यंत का प्रवेश होता है। राजा दुष्यंत आखेट करते हुए कण्व के तपोवन तक जा पहुँचते हैं। उन्हें पता चलता है कि कण्व किसी कार्य से तपोवन से अन्य किसी जगह गए हुए हैं। तभी दुष्यंत की दृष्टि अपनी सहेलियों के साथ वृक्षों को जल सींचती हुई शकुंतला पर पड़ती है। शकुंतला का रूप सौंदर्य को देखकर दुष्यंत उसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं और वह उस पर मोहित हो जाते हैं। उनके हृदय में शकुंतला के प्रति प्रेम प्रस्फुटित होता है। शकुंतला का परिचय राजा को मिलता है कि वह मेनका और विश्वामित्र की पुत्री है और कण्व ऋषि ने उसका पालन पोषण किया है। अंक के अंत में दुष्यंत और शकुंतला के हृदय में एक दूसरे के लिए प्रेम का आरंभ होता हैं।

दूसरा अंक

इस अंक में राजा अपने मित्र विदूषक से शकुंतला के रूप सौंदर्य और अनुराग के बारे में वार्तालाप करते हैं।

तीसरा अंक

तीसरे अंक की शुरुआत में हमें पता चलता है कि शकुंतला अस्वस्थ है और अपने सखियों के कहने पर वह राजा को प्रेम पत्र लिखती है। संयोग से उसी समय राजा दुष्यंत पहुंच जाते हैं और शकुंतला के प्रेम को जानकर उनसे विवाह की इच्छा व्यक्त करते हैं। अपने गुरुजनों को बताए बिना ही दोनों गंधर्व विवाह कर लेते हैं।

चौथा अंक

चौथे अंक में कुछ कारणों से राजा दुष्यंत को हस्तिनापुर वापस लौटना पड़ता है। शकुंतला को वह अपनी नामांकित अंगूठी पहनाकर उसे शीघ्र बुलाने का आश्वासन दे जाते हैं। पति के जाने से उदास शकुंतला तपोवन में पधारे हुए दुर्वासा ऋषि की ओर ध्यान नहीं देती। इस बात से क्रोधित होकर दुर्वासा ऋषि शकुंतला को श्राप देते हैं कि समय आने पर तू जिसकी याद में खोई है वह तुझे नहीं पहचानेगा। खोई होने के कारण शकुंतला स्वयं भी श्राप को नहीं सुन पाती लेकिन संयोग से उसकी सखियां इस श्राप को सुन लेती हैं। सखियाँ दुर्वासा ऋषि से प्रार्थना करती हैं तब दुर्वासा केवल इतना ही आश्वासन देते हैं कि अभिज्ञान (पहचान) की वस्तु दिखा देने से श्राप का प्रभाव समाप्त हो जाएगा। तीर्थ की यात्रा से लौटकर महर्षि कण्व

को आकाशवाणी के द्वारा पता चलता है कि शकुंतला और दुष्यंत विवाह सूत्र में बंध गए हैं और शकुंतला गर्भ से है। वे गर्भवती शकुंतला को उसके पति के पास भेजने का प्रबंध करते हैं। अंक के अंत में तपोवन से शकुंतला को भेजे जाने का दृश्य अत्यंत मार्मिक दिखलाया गया है।

पाँचवा अंक

पाँचवें अंक में ऋषियों और गौतमी के साथ शकुंतला हस्तिनापुर पहुँचती है और राजा दुष्यंत के सम्मुख जाकर उन से निवेदन करती हैं। लेकिन दुर्वासा ऋषि के श्राप के कारण राजा शकुंतला को पहचानने से मना कर देते हैं। शकुंतला दुष्यंत द्वारा दी गई अंगूठी जल में गिर जाने के कारण प्रमाण भी प्रस्तुत नहीं कर पातीं कि मैं वही हूँ जिन से आपने गंधर्व विवाह किया था और मेरे गर्भ में यह बालक आपका ही है। उसे दुर्वासा ऋषि के श्राप की याद आती है किंतु किसी अभिज्ञान के अभाव में वह अपनी बात प्रमाणित नहीं कर पातीं। अपमानित महसूस कर रोती हुई शकुंतला राजा से विमुख होती है और तभी एक दिव्य ज्योति (मेनका) उन्हें अपने साथ ले जाती है।

छठवा अंक

छठवें अंक में दुष्यंत को शकुंतला का अभिज्ञान होता है। शकुंतला की गिरी हुई अंगूठी एक मछुआरे को मछली के पेट से मिलती है। जब वह बाजार में उस अंगूठी को बेचने जाता है तो राजा के नाम की अंगूठी देखकर सैनिक उसे पकड़ लेते हैं। नगर रक्षक मछुआरे से इस अंगूठी के मिलने की कथा सुनते हैं और अंगूठी लेकर राजा के पास जाते हैं। अपने समक्ष अंगूठी को देखकर राजा दुष्यंत को विस्मृत वृतांत याद आ जाता है। शकुंतला से प्रेम और विवाह की सभी बातें उन्हें याद आ जाती हैं। राजा दुखी होकर शकुंतला की स्मृति में खो जाते हैं। तभी स्वर्ग से इंद्र का सारथी मातलि रथ लेकर राजा दुष्यंत के पास जाता है और उनसे कहता है कि वह इंद्र के आदेश पर असुरों का संहार करें। राजा तुरंत ही स्वर्ग के लिए प्रस्थान करते हैं।

सातवाँ अंक

सातवें अंक में राजा दुष्यंत असुरों का संहार कर स्वर्ग से वापस लौटते समय मारीच अदिति के आश्रम में रुकते हैं। संयोग से वहाँ पुत्र भरत और शकुंतला से दुष्यंत का मिलन हो जाता है। राजा अपने अपराध के लिए शकुंतला से क्षमा मांगता है और मारीच ऋषि दोनों को आशीर्वाद देते हैं। राजा दुष्यंत पत्नी और अपने पुत्र के साथ हस्तिनापुर वापस लौट पड़ते हैं और इसी के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

नाट्यशास्त्र में कथानक की तीन कोटियाँ बतलाई हैं- प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र। कालिदास नें अभिज्ञानशाकुंतल के लिए जिस कथावस्तु का प्रयोग किया है वह प्रख्यात कोटि की है। कालिदास ने महाभारत के शकुंतलोपाख्यान से इस कथा को ग्रहण किया जो आदि पर्व के आठवें अध्याय में वर्णित है। लेकिन यह भी अत्यंत महत्वपूर्ण है कि महाभारत की कथा और कालिदास के अभिज्ञानशाकुंतलम् में वर्णित कथा में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हैं। महाभारत में यह कथा अत्यंत लघु रूप में मिलती है और इस कथानक को अपनी कल्पना और निपुणता से कालिदास ने एक नाटक में परिवर्तित किया है। जिसमें वे मानव हृदय की भावनाओं का मार्मिक वर्णन करते हैं। अपनी कल्पना से वे कथानक को गतिशीलता प्रदान करते हैं और चरित्र का रस अनुरूप चित्रण करते हैं। भँवरे का दृष्य, अंगूठी के गिरने और प्राप्त होने की घटना की कल्पना अपने आप में मनोरम है। महाभारत में राजा दुष्यंत का चित्रण एक विलासी और कामुक व्यक्ति के रूप में किया गया है जो समाज से भयभीत होकर अपने पत्नी और पुत्र को पहचानने से इंकार कर देता है। सब कुछ जानते हुए भी वह झूठ कहता है। लेकिन कालिदास का दुष्यंत महाभारत के दुष्यंत से बिल्कुल ही अलग है।

पाठगत प्रश्न 10.2

1. अभिज्ञानशाकुंतल में कितने अंक हैं?

....

2. अभिज्ञानशाकुंतल का नायक कौन है?

....

3. अभिज्ञानशाकुंतल में किसकी प्रणय कथा है?

....

4. दुर्वासा द्वारा दिए गए श्राप का उल्लेख किस अंक में है?

....

5. नाट्यशास्त्र के अनुसार अभिज्ञानशाकुंतल की कथा किस कोटि की है?

....

6. मछुआरे का प्रसंग किस अंक में है?

....

10.4 अभिज्ञानशाकुंतल नाटक के पात्र

अभिज्ञानशाकुंतल का मुख्य उद्देश्य रस का परिपाक करना है। रस की निष्पत्ति से ही दर्शकों का मनोरंजन हो पाता है और दर्शकों का मनोरंजन तभी होता है जब नाटक के पात्र और उनके चरित्र आकर्षक हों। किसी नाटक के सफल होने और उसके असफल होने के मध्य कथानक उसके पात्र और पात्रों का चरित्र चित्रण मुख्य होता है। अभिज्ञानशाकुंतल नाटक के कथानक में भले ही कालिदास ने अपनी कल्पना से परिवर्तन का समावेश किया है किंतु इसके साथ ही साथ उन्होंने अपनी कल्पना से पात्र का चरित्र चित्रण भी रोचक ढंग से किया है। अभिज्ञानशाकुंतल में पात्रों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है किंतु नाटक के प्रमुख पात्रों में यह नाम मुख्य है-दुष्यंत, शकुंतला, अनुसूया, प्रियंवदा, गौतमी, कण्व, दुर्वासा, मारीच, शारंङर्व, शार्द्वत और विदूषक।

दुष्यंत

दुष्यंत अभिज्ञानशाकुंतल के नायक हैं। नाट्यशास्त्र की दृष्टि से यह धीरोदात्त प्रकृति के नायक हैं। दशरूपक में धीरोदात्त नायक की चर्चा करते हुए धनंजय ने उसके यह गुण बतलाए हैं- महाबली, अति गंभीर, स्थिर चित्त, अहंकारहीन और दृढ़ निश्चयी। साथ ही यह भी उन्होंने बतलाया है कि यह चरित्र देव या फिर पौराणिक, ऐतिहासिक चरित्र होना चाहिए तथा उच्च कुल में उत्पन्न व्यक्ति होना चाहिए। अभिज्ञानशाकुंतल के नायक दुष्यंत इन सभी कोटियों में श्रेष्ठ हैं। इस नाटक में दुष्यंत को रूपवान और बलिष्ठ युवक के रूप में चित्रित किया गया है। दुष्यंत प्रकृति से अत्यंत गंभीर हैं और पराक्रमी शासक हैं। अभिज्ञानशाकुंतल में दुष्यंत को देवराज इंद्र का मित्र बतलाया गया है। यदि किसी से बैर हो जाए या युद्ध की स्थिति बनें तो ऐसे में देवांगनाएँ केवल दुष्यंत और इंद्र से ही अपनी रक्षा की अपेक्षा करती हैं। छठवें अंक के अंत में दुष्यंत स्वयं इंद्र के आदेश पर असुरों के साथ युद्ध करने के लिए इंद्रलोक की ओर जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि दुष्यंत स्वयं वीर गंभीर धैर्यवान और प्रतापी चरित्र हैं।

शकुंतला

शकुंतला अभिज्ञानशाकुंतल की नायिका हैं। वे विश्वामित्र और अप्सरा मेनका की पुत्री हैं। जन्म के बाद से ही माता-पिता ने उनका परित्याग कर दिया था। ऐसे में शकुंतला का पालन पोषण कण्व ऋषि ने किया है। शकुंतला अनुपम सौंदर्य वाली हैं। पहले अंक में ही जब शकुंतला वृक्षों में जल सींच रही होती हैं तभी उनके रूप सौंदर्य और यौवन का चित्रण दुष्यंत के माध्यम से कालिदास ने करवाया है। वह स्वयं एक अप्सरा की पुत्री हैं इसलिए उनका सौंदर्य आकर्षक है। उनके सौंदर्य और कौमार्य पर मुग्ध होकर दुष्यंत उनके विरह में उदास हो जाते हैं। शकुंतला के चरित्र को पूरे नाटक के परिप्रेक्ष्य में अगर हम देखें तो कुछ प्रमुख गुण उनके चरित्र में दिखलाई देते हैं जैसे- लज्जाशीलता, तपोवन की कन्या होने के कारण

उनके स्वभाव में सादगी, पवित्रता और निश्छलता है। वे अपने नायक के प्रति एक निष्ठावान प्रेमिका हैं। वह जिस दिन दुष्यंत को देखती हैं, उसी क्षण आश्रम के स्वभाव के प्रतिकूल वह दुष्यंत के प्रेम में पड़ जाती हैं। वियोग की दशा में वह ज्वर से पीड़ित हो जाती हैं। शकुंतला स्वयं विद्या और कलाओं में निपुण हैं। पशुपालन, बागवानी, अतिथियों के सत्कार में भी वह पूर्णत: दक्ष हैं।

विदूषक

संस्कृत नाट्य शैली में विदूषक एक महत्वपूर्ण पात्र होता है। मुख्य कथानक में उसकी कोई विशिष्ट भूमिका नहीं होती लेकिन फिर भी यह पात्र नायक के प्रेम में उसकी सहायता करता है। वह दर्शकों को भी अपनी उक्ति-प्रति युक्ति के माध्यम से आनंदित करता है इसीलिए नाटक में विदूषक का होना बहुत ही जरूरी माना जाता है। यह स्वभाव से नायक का मनोरंजन करने वाला होता है और उसका विश्वासपात्र मित्र होता है। यह अपनी हास्यपरक वेशभूषा, अटपटी संवाद शैली और आकृति के द्वारा हास्य उत्पन्न करता है। ब्राह्मण होते हुए भी यह पात्र अनपढ़ और मूर्ख दिखलाई देते हैं। स्वभाव से पेटू और डरपोक होते हैं किंतु अगर गहराई से देखें तो ये नायक से प्रश्न खड़े करने में विकट क्षमतावान होते हैं। यह नायक का अनुरंजन करते हुए उसके कार्य पर आक्षेप भी करते हैं। अभिज्ञानशाकुंतल में विदूषक पात्र को बहुत ही सरल और मंदबुद्धि दिखलाया गया है।

अनुसूया और प्रियंवादा

आरंभिक 4 अंकों में शकुंतला की दो सखियों का उल्लेख मिलता है- अनुसूया और प्रियंवदा। यह दोनों ही कथानक को गतिशील बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। यह दोनों सदैव शकुंतला के हित की बात सोचती हैं और रूप सौंदर्य में भी वह शकुंतला की भांति ही हैं। दोनों ही शकुंतला की हम उम्र हैं और व्यवहारिक, शिष्टाचारी, विनयशील और मधुर भाषिणी हैं। दोनों ही शकुंतला के साथ प्रत्येक कार्य में उसका सहयोग करती हैं। अनुसूया धीर और व्यवहारिक है इसीलिए दुर्वासा के श्राप को सुनकर प्रियंवदा तो घबरा जाती है लेकिन अनुसूया धैर्य धारण करके दुर्वासा से श्राप से निवृत्ति का उपाय पूछती है। अनुसूया के विपरीत प्रियंवदा मधुर बोलने वाली, परिहास करने वाली और जिज्ञासु है। अनुसूया की भांति प्रियंवदा शंकालु प्रवृत्ति की नहीं है। अनुसूया संकट में शकुंतला का सहयोग करती है और प्रियंवदा प्रेम प्रसंग में। इनमें से एक अधिक श्रेष्ठ है, चिंतनशील और गंभीर है तो दूसरी विनोद प्रवृत्ति की और वाकपटु है।

कण्व

कण्व अभिज्ञानशाकुंतल के एक महत्वपूर्ण पात्र हैं। पूरी कथा में कण्व का आगमन कुछ ही अंकों में होता है। कण्व आश्रम के कुलपति हैं और शकुंतला उनकी पाली गई पुत्री हैं। उनके प्रति उनके हृदय में स्नेह है और उसी की ग्रह शांति के लिए वे तीर्थ की ओर गए थे।

अभिज्ञानशाकुंतल के अध्ययन से कण्व ऋषि की कुछ प्रमुख चारित्रिक विशेषताएँ सामने आती हैं। जैसे वह एक तपस्वी ब्रह्मचारी हैं, अंतर्ज्ञानी और महा प्रभावशाली हैं। अपने तपोबल से वह भूत, भविष्य और वर्तमान की सभी बातों को जान सकते हैं इसीलिए शकुंतला पर आने वाली विपत्ति को उन्होंने पहले ही भांप लिया था और उसकी ग्रह शांति के लिए सोम तीर्थ गए थें। आश्रम वापस आकर भी उन्होंने अपने तपोबल से ही शकुंतला और दुष्यंत के गंधर्व विवाह के बारे में जाना था।

शारंङर्व और शार्द्वत

शारंङर्व और शार्द्वत दोनों ही कण्व के शिष्य हैं। गुरु के प्रति वे अपार भक्ति और श्रद्धा रखते हैं। गुरु के नहीं होने पर वे ही आश्रम की व्यवस्था का ध्यान रखते हैं। शारंङर्व आयु में शार्द्वत से ज्येष्ठ है। शार्द्वत कि अपेक्षा वह अधिक व्यवहार कुशल है। जबकि शार्द्वत की लोक जीवन मे अरुचि है। वो राज प्रसाद को आग की लपटों में घिर हुआ मानता है। यह शिष्ट और शांत प्रवृत्ति का पात्र है।

दुर्वासा ऋषि

दुर्वासा ऋषि तपस्वी हैं और स्वभाव से कठोर, अभिमानी, क्रोधी और निष्ठुर प्रवृत्ति के दिखाई देते हैं। अभिज्ञानशाकुंतल में जब शकुंतला दुष्यंत की स्मृति में खोई रहती है तब वे अपनी दिव्य दृष्टि से यह जान लेते हैं कि शकुंतला अपने पति के वियोग में शून्य भाव हो गई है लेकिन फिर भी अपना अनादर समझ कर वह शकुंतला को पति वियोग का श्राप दे डालते हैं। एक छोटी-सी भूल के लिए इतना बड़ा श्राप देना प्रियंवदा को अनुचित लगता है। इस घटना से दुर्वासा ऋषि के क्रोधी और उग्र स्वभाव का प्रमाण मिलता है।

महर्षि मारीच

महर्षि मारीच दिव्यलोक के वासी हैं। उस लोक में स्वर्गीय साधन होते हुए भी ऋषि उनसे दूर रहकर तपस्या में लीन रहते हैं। कल्पवृक्ष के होते हुए भी ऋषि मारीच अप्सराओं के सानिध्य में संयम का जीवन बिताते हैं। वे अत्यंत संयमी, तपस्वी, धैर्यवान और स्थिर चित्त गुणों से युक्त हैं। जब दुष्यंत उनके आश्रम में पहुंचते हैं तब महर्षि मारीच समाधि में स्थित होते हैं। उनकी कठिन तपस्या के लिए दुष्यंत उनकी वंदना करते हैं। यहाँ पता चलता है कि मारीच इंद्र आदि देवताओं के पिता हैं। भगवान विष्णु भी वामन अवतार में उनसे ही जन्म ग्रहण करते हैं। वह काम से विरक्त हैं और लोक के मंगल की कामना के लिए तपस्या में रत हैं। इसी आश्रम में पहुँचकर शकुंतला को शांति मिलती है। महर्षि मारीच ने ही शकुंतला के पुत्र के सभी संस्कार संपन्न करवाए थे। कालिदास ने बड़े ही कौशल के साथ महर्षि मरीच के आशीर्वाद के साथ नाटक की समाप्ति कराई है।

टिप्पणी

गौतमी

गौतमी एक तपस्विनी हैं जो शकुंतला को अपनी पुत्री की तरह स्नेह करती हैं। पहले अंक में जब प्रियंवदा शकुंतला के साथ हंसी मजाक करती है तब शकुंतला अनसूया से यह बात कहती है कि मैं इसकी शिकायत आर्य गौतमी से करूंगी। इसी प्रकार तीसरे अंक में भी पता चलता है कि शकुंतला बीमार है और तब गौतमी उसके पास पहुंच कर उसके बारे में पूछती हैं। गौतमी को आते हुए देखकर दुष्यंत दूर हो जाते हैं। ऐसा इसलिए क्योंकि दुष्यंत वृद्धजनों के प्रति आदर का भाव रखते थें। चौथे अंक में महर्षि करण ने शकुंतला के साथ गौतमी को संरक्षिका बनाकर भेजा था। जब दुष्यंत शकुंतला को नहीं पहचान पाता तब गौतमी ही उसे समझाती हैं और शकुंतला को भी खुलकर अपनी बात कहने का आदेश देती हैं। इस प्रकार कालिदास ने एक वात्सल्य मयी माता के रूप में उनका चित्रण किया है।

पाठगत प्रश्न 10.3

1. दुष्यंत किस प्रवृत्ति का नायक है?

   ....

2. शकुंतला के विषय में बतलाइये?

   ....

3. अनुसूया और प्रियंवदा कौन हैं?

   ....

4. कण्व कौन हैं?

   ....

5. दुर्वासा ऋषि का स्वभाव कैसा है?

   ....

6. अंत में दुष्यंत और शकुंतला का मिलन कहाँ होता है?

   ....

10.5 अभिज्ञानशाकुंतल की नाट्य शैली

कालिदास संस्कृत नाटककारों में सर्वश्रेष्ठ रचनाकार हैं। अभिज्ञानशाकुंतल उनकी तीसरी और अंतिम रचना है। इसके पूर्व मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वषीय की रचना उन्होंने की थी। अन्य नाटकों की अपेक्षा अभिज्ञानशाकुंतल में कालिदास की भाषा और शैली परिष्कृत और परिमार्जित है। संवादों के लिए भी वे संक्षिप्त, सरल और रोचक शैली का प्रयोग करते हैं। अभिज्ञानशाकुंतल को इसलिए संस्कृत नाटकों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है क्योंकि नाट्य शास्त्र के नियमों के अनुरूप कालिदास की नाट्य कला का चरम विकास इस नाटक में दिखाई देता है। कालिदास श्रृंगार रस को केंद्र में रखकर नाटकों की रचना करते हैं। संयोग और वियोग दोनों ही श्रृंगार के दृश्य कालिदास ने अपनी कल्पना से बुने हैं। रूपक नाटक का प्रमुख रस श्रृंगार होना चाहिए और अन्य सभी रस गौण होने चाहिए। कालिदास इस परंपरा का निर्वाह करते हुए अन्य रसों को भी गौण रूप में प्रयोग करते हैं। जैसे चौथे अंक में वह वात्सल्य विप्रलंभ का प्रयोग करते हैं। जब शकुंतला पति निवास की ओर जा रही है उसमें वे जिस तरह पशु, पक्षी, लताएं और कण्व का वर्णन करते हैं वह अपने आप में अनूठा और मार्मिक दृश्य बन जाता है।

महाकवि कालिदास के नाटकों की एक और प्रमुख विशेषता रही है-प्रकृति का चित्रण। कालिदास प्रकृति को बहुत ही सजीव और मानवीय भावनाओं से जोड़कर नाटक में वर्णित करते हैं। उनकी नाट्य रचनाओं में प्रकृति और मनुष्य के बीच गहरा अंतर संबंध दिखाई देता है। मनुष्य की भावनाओं को, उसकी तीव्रता को और भावना के यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए कालिदास अपने नाटक में प्रकृति का सहारा लेते हैं। जिस तरह के भाव पात्र के मन में उठ रहे हैं उसी तरह के प्रकृति में घटित घटनाओं से जोड़कर वे दर्शकों के हृदय को भावविभोर कर देते हैं। अभिज्ञानशाकुंतल में शकुंतला के वियोग में दुष्यंत विरह से व्याकुल हैं और अपने किए पर पश्चाताप कर रहे हैं। उसी तरह प्रकृति में भी वसंत ऋतु के आ जाने से आनंद और उल्लास का वातावरण नहीं हो पा रहा है। आम में बौर नहीं आ रही हैं, कोयल की कूक बंद है। कालिदास अपने सुंदर चित्रण के लिए भी जाने जाते हैं और इसके लिए वे अपनी असामान्य प्रतिभा का प्रयोग करते हैं। उनके तीनों ही नाटक में सौंदर्य का अद्भुत और पांडित्य पूर्ण वर्णन में दिखाई देता है। जैसे अभिज्ञानशाकुंतल में कालिदास शकुंतला के रूप वर्णन से अपने आपको अलग नहीं कर पाते। वह बार-बार दुष्यंत की दृष्टि से शकुंतला के सौंदर्य रूप का वर्णन करते रहते हैं।

आपने क्या सीखा

- कालिदास की गणना संस्कृत के महाकवियों में की जाती है।
- कालिदास का रचनाकाल प्रथम शती ईसा पूर्व है। वे विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक थे।
- महाकवि कालिदास ने तीन महाकाव्य और तीन ही रूपकों की रचना की है।
- कालिदास द्वारा रचित तीन नाटक हैं- मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीयम और अभिज्ञानशाकुंतल।
- नाट्यशास्त्र की परंपरा में अभिज्ञानशकुंतल श्रेष्ठ नाटक है।
- नाट्यशास्त्र के वर्णित विषयों को समझाने के लिए प्राय: कालिदास की रचनाओं का उदाहरण दिया जाता है।
- अभिज्ञानशाकुंतल ही एकमात्र ऐसी कृति है जिसे भारत के साथ ही साथ विश्व की अन्य भाषाओं में भी अनुवाद किया गया है।
- मालविकाग्निमित्र जिसमें शुंगवंशीय राजा अग्निमित्र और मालविका नामक राजकुमारी की प्रणय कथा है।
- उनके दूसरे नाटक- 'विक्रमोर्वशीय में अप्सरा उर्वशी और राजा पुरुरवा के पारस्परिक प्रेम की कथा है। इस कथा का मूल रूप वैदिक आख्यानों से उन्होंने ग्रहण किया है।
- कालिदास ने अभिज्ञानशाकुंतल की कथा महाभारत के शकुंतलोपाख्यान से ग्रहण की है। नाटक अभिज्ञानशाकुंतल में कालिदास मूल कथा में अपनी कल्पना से कुछ परिवर्तन कर नाटक को और रोचक बनाने का यत्न करते हैं।
- कालिदास अपनी कल्पना से कुछ परिवर्तन करते हैं जैसे भंवरे का दृश्य, दुर्वासा का श्राप देना, मछुआरे का प्रसंग।
- अभिज्ञानशकुंतल में सात अंक हैं।
- अभिज्ञानशकुंतल के प्रमुख पात्र हैं- दुष्यंत, शकुंतला, अनुसूया, प्रियंवदा, विदूशक, कण्व, दुर्वासा, शारङर्व, शारद्वत, गौतमी, मारीच, आदि।

- कालिदास ने इस नाटक में मूलकथा में अपनी कल्पना से कुछ चरित्रगत परिवर्तन भी किये हैं।

पाठान्त प्रश्न

1. अभिज्ञानशाकुंतल और शकुंतलोपाख्यान की मुख्य कथा में क्या अंतर है?
2. कालिदास के बारे में आप क्या जानते हैं?
3. अभिज्ञानशाकुंतल के नायक के बारे में बतलाइये?
4. अभिज्ञानशाकुंतल की नाट्यशैली पर प्रकाश डालिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

10.1

1. ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी
2. अभिज्ञानशाकुंतल
3. महाभारत का शकुंतलोपाख्यान और पद्मपुराण
4. राजा दुष्यंत और शकुंतला की प्रणय कथा
5. (1) मेघदूत, (2) रघुवंशम् एवं (3) कुमारसंभव।

10.2

1. सात अंक
2. दुष्यंत
3. दुष्यंत और शकुंतला
4. चौथा अंक
5. प्रख्यात
6. छठा अंक

10.3

1. धीरोदात्त

2. अनुपम सौंदर्य, लज्जावती, शील और व्यवहारिक

3. शकुंतला की सखियाँ

4. कण्व आश्रम के कुलपति हैं और शकुंतला उनकी पाली गई पुत्री हैं।

5. क्रोधी और उग्र स्वभाव

6. महर्षि मारीच के आश्रम में

टिप्पणी

11

मृच्छकटिक

संस्कृत नाट्य लेखन में मृच्छकटिकम् एक रोचक और बहुरंगी प्रकरण के रूप में विख्यात है। रूपक के दस प्रकारों में वर्णित 'प्रकरण' के आधार पर महाकवि शूद्रक ने इसकी रचना की है। वास्तव में नाट्य लेखन की परंपरा में यह एक ऐसा प्रकरण है जो अपने कथानक में मुख्य कथा के साथ ही साथ कई राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों को भी अपने में समाए हुआ है।

वर्तमान रंगमंच पर भी आजादी के बाद संस्कृत नाटकों में मृच्छकटिकम् सबसे ज्यादा चर्चित नाट्यरूप रहा है जिसे अन्य भाषाओं के साथ ही बोलियों में भी रूपांतरित कर विभिन्न संस्थाओं ने प्रस्तुत किया है। संस्कृत रंगमंच के सबसे चर्चित नाटक मृच्छकटिकम् प्रकरण के विषय में अध्ययन करना अत्यंत आवश्यक है। इस पाठ में हम प्रकरण के लेखक और प्रकरण के कथानक पर विस्तार से चर्चा करेंगे क्योंकि इसकी चर्चा के बिना संस्कृत रंगमंच को पूरी तरह जानने का दावा नहीं किया जा सकता है।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप-

- नाटककार शूद्रक के विषय में जानते हैं;
- मृच्छकटिक नाटक के विषय में जानते हैं;
- मृच्छकटिक की कथावस्तु को जानते हैं;

- मृच्छकटिक के पात्रों का चरित्र चित्रण जानते हैं; और
- मृच्छकटिक की रंग संभावनाओं को जानते हैं।

11.1 शूद्रक का सामान्य परिचय

संस्कृत साहित्य में कथा, नाट्य और काव्य के क्षेत्र में शूद्रक का नाम संस्कृत विद्वानों के बीच सदैव परिचित रहा है। हर्षचरित, कादंबरी, कथासरित्सागर स्कंदपुराण जैसे कई संस्कृत ग्रंथों में शूद्रक के नाम का उल्लेख प्राप्त होता है। विद्वानों ने विविध संस्कृत साहित्य का अध्ययन कर शूद्रक का समय काल निर्धारित करने का प्रयास किया है। संस्कृत के दूसरे कवियों की तरह ही मृच्छकटिकम् के रचनाकार शूद्रक ने भी अपने बारे में कोई स्पष्ट जानकारी नहीं दी है। नाटक की प्रस्तावना में शूद्रक ने अपने से पूर्व के कवियों की भांति उल्लेख करते हुए अपने वंष और विद्वत्ता की जानकारी दी है। प्रस्तावना में उल्लेख है कि शूद्रक कवि द्विज था। वह सुंदर और सुडौल था। वह वेदों का ज्ञाता था। शिव की कृपा से उसे ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। शूद्रक तपस्वी था और वह पूरी तरह से स्वस्थ और निरोग व्यक्ति था। इसके अलावा उनकी प्रस्तावना में कवि के देश और समय के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती।

विद्वानों ने शूद्रक का संबंध दक्षिण प्रदेश से जोड़ा है। कथानक के आधार पर विद्वान यह मानते हैं कि शूद्रक उज्जयनी के निवासी थें। वे ज्योतिष और धर्म शास्त्रों का ज्ञाता थें। झूठ, कला और चोरी की कला के विषय में भी उन्हें जानकारी थी। उन्होंने समाज के विभिन्न वर्गों और व्यापारी के बारे में सूक्ष्म विश्लेषण किया था जिससे प्रतीत होता है कि वे लोक विद्या में भी अत्यंत निपुण थें। शूद्रक एक राजमहल का राजा नहीं थे बल्कि जनता का राजा थे। राज्यकार्य में जुड़े हुए कर्मचारियों और अधिकारियों की कमियों की जानकारी उन्हें भली-भांति थी। शूद्रक में साहित्यिक ज्ञान की भी कमी न थी। उनकी रचना मृच्छकटिक एक उच्च कोटि का प्रकरण है। यह प्रकरण संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के श्रेष्ठ ज्ञान को भी प्रदर्शित करता है। प्राकृत भाषाओं का भली-भांति प्रयोग जितना शूद्रक ने मृच्छकटिक में किया उतना प्रयोग किसी दूसरे नाटक में नहीं मिलता है।

11.2 मृच्छकटिक का सामान्य परिचय

मृच्छकटिक की रचना कब हुई यह विद्वानों के मध्य चर्चा का विषय रहा है। कुछ विद्वान इसे तीसरी शती ईसा पूर्व, प्रथम शती ईसा पूर्व, तृतीय शती ईसवी में रचित मानते हैं तो कुछ विद्वान इसे पांचवी शती ईस्वी में स्थापित करते हैं। इस प्रकार शूद्रक के समय काल को लेकर भी विद्वानों में काफी मतभेद रहा है। समय निर्धारण के लिए विद्वानों ने कई प्रमाण उपलब्ध कराए हैं जो इस प्रकार हैं-

टिप्पणी

- नाटककार भास का समय ईसा पूर्व पांचवी शताब्दी विद्वानों ने निर्धारित किया है। भास ने भी 'दरिद्रचारुदत्त' नामक चार अंकों का नाटक लिखा था जो नाटक अपूर्ण है। शूद्रक के नाटक में दस अंक हैं और पहले चार अंक में वही कथा है जो भास के नाटक 'दरिद्रचारुदत्त' में मिलती है। इस तरह यह स्पष्ट होता है कि शूद्रक भास के बाद के नाटककार हैं।

- आचार्य वररूचि ने प्राकृत भाषा के व्याकरण के जो नियम बतलाए थें। उन नियमों के आधार पर मृच्छकटिक की भाषा बहुत कुछ सामान है। वररुचि का समय ईसा के 300 वर्ष पूर्व माना गया है। इस प्रकार शूद्रक 300 ईसा पूर्व के भी बाद के हैं।

- आचार्य वामन जिनका समय काल 800 ईस्वी है, उन्होंने अपने काव्यालंकार में शूद्रक का उल्लेख किया है। इससे भी इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि शूद्रक 800 ईस्वी के पूर्व रहे होंगे।

- वराहमिहिर जिनका समय 589 ईस्वी रहा है। उन्होंने अपने ज्योतिष ग्रंथ वृहत्जातक में बृहस्पति और अंगारक अर्थात मंगल को मित्र माना है जबकि मृच्छकटिक के नौवें अंक में उन दोनों ग्रहों को ही शत्रु कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि शूद्रक वराहमिहिर के पूर्व स्थित थे।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर शूद्रक समय काल छठी सदी ईसवी निर्धारित किया गया है। संभवत मृच्छकटिक भी इसी समय काल में रचा गया था।

पाठगत प्रश्न 11.1

1. शूद्रक कौन हैं?

....

2. मृच्छकटिक का रचना काल क्या है?

....

3. आचार्य वामन की किस रचना में शूद्रक का उल्लेख है?

....

4. दरिद्रचारुदत्त किसकी रचना है?

....

टिप्पणी

5. वृहत्जातक किसकी रचना है?

....

11.3 मृच्छकटिकम की कथावस्तु

मृच्छकटिकम् नाट्यशास्त्र में वर्णित रूपक के दस प्रकारों में से एक प्रकरण है। इस प्रकरण में कुल दस अंकों में कथानक को विभाजित किया गया है। मृच्छकटिक का नायक चारुदत्त है जो कि अत्यंत गुणी ब्राम्हण है और निर्धन है। इसकी नायिका वसंतसेना है जो कि रूपवती और गुणों से संपन्न परिगणिका है। मृच्छकटिक का मूल कथानक चारुदत्त और वसंत सेना के प्रणय कथा के इर्द-गिर्द बुना गया है। इसी प्रेम कथा में शूद्रक अपनी कल्पना से राज्य में एक नई क्रांति की दूसरी कथा को भी कुशलतापूर्वक जोड़ देते हैं। इस पूरे प्रकरण में वर्णित कथानक में एक महत्वपूर्ण घटना है जिसके आधार पर इस प्रकरण का नाम मृच्छकटिकम् रखा गया है-वसंतसेना द्वारा बालक की मिट्टी की गाड़ी में अपने स्वर्ण आभूषण को रखा जाना।

मृच्छकटिक की कथावस्तु के दो भाग हैं। पहले भाग में चारुदत्त और वसंत सेना की प्रेम कथा है और दूसरे भाग में राजविप्लव और आर्य को राज्य की प्राप्ति की कथा है। किसी भी प्रकरण का कथानक अलौकिक अथवा कवि की कल्पना से उत्पन्न होता है। इसका मुख्य रस श्रृंगार होता है। नायक ब्राह्मण, मंत्री अथवा व्यापारी में से कोई एक हो सकता है जो की धीरप्रशांत और विपरीत परिस्थितियों में भी धर्म, अर्थ और काम परायण होता है। प्रकरण की नायिका सामान्य स्त्री अथवा गणिका होती है। धूर्त, जुआरी, विट और चेट से भरा होता है। बाकी सारी बातें नाटक की ही तरह होती हैं। इस आधार पर यदि मृच्छकटिकम् का आंकलन करें तो इसकी कथावस्तु भी लोक आश्रित और कवि द्वारा कल्पित है। प्रधान रस श्रृंगार है। नायक चारुदत्त ब्राह्मण है किंतु दरिद्रता के कारण धर्म, अर्थ और काम की क्रिया में लगा हुआ है। वसंतसेना गणिका है तथा कुलस्त्री धूता है। यह दोनों ही नायिकाएँ हैं और बड़ी ही कुशलता के साथ शूद्रक ने इसमें धूर्त, जुआरी, विट और चेट की योजना की है।

अंक-1

उज्जयनी नगर में चारुदत्त नाम का एक ब्राह्मण रहता है जो अपने दुर्भाग्य के कारण निर्धन हो गया है। उसी नगरी में अत्यंत रूपवती और प्रसिद्ध परिगणिका वसंतसेना भी रहती है। वसंतसेना चारुदत्त पर मुग्ध है और उस से प्रेम करती है। राजा का साला शकार वसंतसेना को धन का लालच दिखाकर अपने वश में करना चाहता है लेकिन वसंतसेना उसके प्रस्ताव को ठुकराती रहती है। एक अंधेरी रात में शकार वसंतसेना का पीछा करता है जिससे भयभीत होकर वसंतसेना चारुदत्त के घर में शरण ले लेती है। चोरों के भय का बहाना करके वह अपने सभी सोने के आभूषण चारुदत्त के पास धरोहर के रूप में रख देती है।

अंक-2

संवाहक चारुदत्त का पुराना सेवक है वह जुए में सारा धन हारकर जुआरियों से चिपका हुआ बसंत सेना के घर में छिप जाता है। वसंतसेना जुआरियों को धन देकर उसे उनके ऋण से मुक्त कर देती है लेकिन ग्लानि में संवाहक संसार का त्याग कर बौद्ध भिक्षु बन जाता है।

अंक-3

शर्विलक नाम का एक ब्राह्मण वसंतसेना की दासी मदनिका से प्रेम करता है। अपनी प्रेयसी मदनिका को दासत्व से मुक्त कराने के लिए शर्विलक चारुदत्त के घर में सेंध लगाकर रखे हुए वसंतसेना के आभूषणों को चुरा कर ले जाता है। चारुदत्त की पत्नी अपने पति को लोगों की निंदा से बचाने के लिए अपने बहुमूल्य रत्न आभूषणों को बदले में दे देती है। विदूषक वह रत्नमाला लेकर वसंतसेना के घर जाता है।

अंक-4

शर्विलक अपने चुराए हुए आभूषण लेकर बसंत सेना के यहाँ जाता है। वसंतसेना सारी स्थिति को जानकर उस आभूषण को रख लेती है और मदनिका को अपने दासत्व से मुक्त कर देती है। शर्विलक अपनी प्रेयसी मदनिका को पत्नी बना कर ले जाता है। तभी उसे अपने मित्र आर्यक के राज्य बंदी बनाए जाने का समाचार मिलता है। वह तुरंत रथवान के साथ अपनी पत्नी को बंधु जनों के घर भेज देता है और स्वयं आर्यक को बंदी गृह से छुड़ाने के लिए चल पड़ता है। विदूषक वसंत सेना को आभूषणों के बदले धूता कि रत्नमाला दे देता है। वसंतसेना विदूषक को आभूषण मिलने का समाचार नहीं बताती और खुद रात में चारुदत्त से मिलने आने का संदेश भेजती है।

अंक-5

इस अंक में वर्षा का अत्यंत सुंदर वर्णन है। वसंतसेना वर्षा में भीगती हुई चारुदत्त के घर पहुंचती है और वही रात बिताती है

अंक-6

सुबह उठते ही चारुदत्त एक उद्यान में चला जाता है और वसंत सेना को वहीं उद्यान में बुलाने के लिए अपना रथ भेजता है। इधर चारुदत्त के घर में वसंतसेना चारुदत्त के पुत्र को मिट्टी की गाड़ी से ना खेल कर सोने की गााड़ी के लिए जिद करती हुई पाती है। वह उसकी मिट्टी की गाड़ी को अपने सोने के आभूषणों से भरकर कहती है कि वह इससे सोने की गाड़ी बनवा ले। चारुदत्त के संदेश को सुनकर वसंतसेना घर से निकलती है लेकिन गलती से वहीं खड़े शकार के रथ पर चढ़ जाती है। बंदीगृह से भागा हुआ आर्यक चारुदत्त के खाली खड़े रथ में छिप कर बैठ जाता है। रथ उद्यान की ओर चल पड़ता है। रास्ते में चंदनक नाम का एक

सिपाही आर्यक को पहचान कर भी उसे अभयदान देकर रथ को आगे जाने देता है। इसी क्रम में एक दूसरे सिपाही वीरक से चंदन की मारपीट हो जाती है और वीरक न्यायालय में चला जाता है।

अंक-7

आर्यक उद्यान में चारुदत्त से मिलता है। चारुदत्त आर्यक को अभयदान देता है और उसके बंध न कटवा कर अपने ही रथ में उसे विदा करता है।

अंक-8

शकार के रथ में गलती से बैठी हुई वसंतसेना जब उद्यान में पहुँचती है तो वह शकार को अपने सामने पाती है। दुष्ट शकार वसंतसेना से प्रणय याचना करता है। वसंतसेना इसे ठुकरा देती है। शकार क्रोध में आकर उसका गला घोटता है। वसंतसेना को मरा हुआ समझकर वह उसे सूखे पत्ते से ढँक देता है और चारुदत्त पर इस हत्या का झूठा अभियोग चलाने के लिए न्यायालय जाता है। इसी बीच बौद्ध भिक्षु संवाहक वहाँ आ जाता है और वसंतसेना को देखकर उसको पुनः जीवित कर देता है। संवाहक वसंतसेना को विश्राम के लिए बौद्ध विहार में ले जाता है।

अंक-9

इस अंक में न्यायालय का वर्णन है। शाकार चारुदत्त के खिलाफ मुकदमा चलवाता है। चारुदत्त को बुलाया जाता है। वह स्वयं को निर्दोष प्रमाणित करने का प्रयत्न करता है लेकिन अंततः चारुदत्त के ही विरुद्ध अपराध सिद्ध होता है और चारुदत्त को मृत्युदंड दिया जाता है।

अंक-10

जैसे ही चारुदत्त को सूली पर चढ़ाने का समय आता है तभी बौद्ध भिक्षु के साथ वसंतसेना उस जगह पर पहुँचकर इस पूरे अभियोग को ही झूठा प्रमाणित कर देती है। वह शकार की दुष्टता बतलाती है। आर्यक भी अपने मित्रों की सहायता से राजा पालक को मारकर स्वयं राजा हो जाता है। शकार को उसकी दुष्टता के लिए मृत्युदंड मिलता है लेकिन चारुदत्त शकार को माफ कर देता है। राजा की अनुमति से वसंतसेना चारुदत्त की पत्नी बनती है और भरत वाक्य के साथ यहीं नाटक समाप्त हो जाता है।

पाठगत प्रश्न 11.2

1. मृच्छकटिक प्रकरण में कितने अंक हैं?

....

2. बौद्ध भिक्षु कौन है?

....

3. धूता कौन है?

....

4. शार्विलक कौन है?

....

5. किस अंक में आर्यक को बंदी बनाए जाने का समाचार मिलता है?

....

6. किस अंक में न्यायालय का वर्णन है?

....

11.4 मृच्छकटिक प्रकरण के पात्र

मृच्छकटिकम् प्रकरण में चारुदत्त, धूता, वसंतसेना, शकार, मैत्रेय, शार्विलक, आर्यक, संवाहक, मदनिका और रदनिका मुख्य भूमिका में हैं। शूद्रक ने पात्रों के चित्रण में अपनी नाट्य निपुणता का परिचय दिया है।

चारुदत्त

चारुदत्त मृच्छकटिक प्रकरण का नायक है। शास्त्र के अनुसार किसी प्रकरण का नायक धीरप्रशांत अथवा राजा का मंत्री या फिर वणिक हो सकता है। चारुदत्त में यह सारे लक्षण दिखलाई पड़ते हैं। उसका पूरा जीवन विघ्नों से भरा हुआ है। इन सब के बाद भी वह सदैव शांत और गंभीर रहता है। इस तरह वह एक धीर प्रशांत नायक है। स्वभाव से चारुदत्त त्यागी, वीर, कुलीन, सुंदर रूप और यौवन में संपन्न, कार्य निपुण, चतुर, शील और लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने वाला है। चारुदत्त उज्जयनी नगरी का एक ब्राह्मण युवक है। वह कर्म से वैश्य है। चारुदत्त के पूर्वज प्रसिद्ध व्यापारी थें और उन्होंने बहुत धनराशि अर्जित की थी। चारूदत्त का हृदय बहुत विशाल है। वह इतना उदार है कि उसने अपनी सारी संपत्ति निर्धनों को दे डाली है। अपने इष्ट मित्रों और परिचितों की विपत्ति में सहायता करना उसकी विशिष्टता है जब तक उसके पास धन था उसने कभी किसी का अपमान नहीं किया। कथानक में चारुदत्त एक दानशील प्रवृत्ति का नायक है।

चारुदत्त दयालु प्रवृत्ति का है। उसके हृदय में सभी के लिए दया का भाव उमड़ता रहता है। नाटक में अपने सेवकों के प्रति भी उसके हृदय में अनुकंपा का भाव है। उसके सेवक अपने स्वामी चारुदत्त के प्रति इस भावना को अभिव्यक्त करते हैं। चारुदत्त अपने समान ही सेवकों का सुख-दुख भी जानता है। पशु पक्षियों के लिए भी उसके हृदय में दया के भाव हैं। बैठे हुए कबूतरों को भी उड़ाने में उसे दया आती है।

चारुदत्त के अंदर एक और प्रमुख गुण है-शरण में आए हुए की रक्षा करना। चारुदत्त अपने प्राण संकट में डाल कर भी दूसरों की रक्षा करता है। दरिद्र होने के बाद भी चारुदत्त अपने चरित्र को लेकर बहुत ही चेतन रहता है। दूसरों को धोखा देने की बात वह कभी नहीं सोचता। उसे भिक्षा मांग कर जीवन यापन करना स्वीकार है लेकिन असत्य और छल कपट से वह जीवन यापन के लिए कभी तैयार नहीं होता। यदि कभी परिस्थितिवश वह झूठ बोलता भी है तो उसके पीछे दूसरे के हित की भावना ही प्रमुख होती है। परिगणिका से प्रेम करने के बाद भी चारुदत्त के चरित्र में अच्छे भाव दिखाई देते हैं। वह अपनी पत्नी से भी प्रेम करता है और उसे पवित्र मानकर उसका आदर भी करता है। स्वभाव से वह कलाप्रेमी है। संगीत के विषय में भी उसे ज्ञान है। शार्विलक के द्वारा की गई चोरी को देखकर भी वह उसकी कलात्मकता की प्रशंसा करता है। वह धार्मिक स्वभाव का भी है। पहले ही अंक में चारुदत्त देवताओं की पूजा में लगा हुआ दिखाई देता है। इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि चारुदत्त लोगों का हित करने वाला है, पुरुषों में वह श्रेष्ठ है, दया और सत् मार्ग पर चलने की विशेषताएँ उसकी चरित्र में शामिल हैं।

वसंतसेना

मृच्छकटिक प्रकरण में दो नायिकाएँ हैं- एक धूता जो कि कुल स्त्री है और दूसरी वसंतसेना जो की परिगणिका है। इस प्रकरण में वसंतसेना के ही चरित्र को मुख्य रूप से चित्रित किया गया है। वसंतसेना उज्जैनी नगरी की सबसे संपन्न गणिका है। उसके घर में पर्याप्त संपत्ति है। एक तरह से उसका घर कुबेर के घर के समान प्रतीत होता है। वसंतसेना शकार द्वारा दिए जाने वाले दस हजार स्वर्ण मुद्राओं को भी बिना किसी संशय के ठुकरा देती है।

वसंत सेना का सौंदर्य अनुपम है। गणिका होने के बाद भी उसका चरित्र अत्यंत पवित्र है। चारुदत्त से पहले उसने किसी को अपना प्रेम नहीं समर्पित किया था। काम के प्रति वह पूरी तरह उदासीन है। पैसे के पीछे काम क्रीड़ा करना उसके जीवन का उद्देश्य नहीं है। वह किसी लोक में सम्मानित व्यक्ति के साथ प्रेम करके अपने जीवन को चरितार्थ करना चाहती है। गणिका जीवन के बजाय वह एक गृहस्थ कुलीन स्त्री बनना चाहती है।

वसंत सेना का हृदय भी अत्यंत विशाल है। स्वभाव से वह उदार प्रवृत्ति की है। जब संवाहक उसकी शरण में आता है तो उसे ना जानते हुए भी वह उसे अभय दान देकर उसे मुक्त करने के लिए अपने हाथ में पहना हुआ सोने का कंगन उसे देती है और कहलाती है कि संवाहक

ने ही यह भेजा है। वसंतसेना का चरित्र एक बुद्धिमती, कला कुशल और विदुषी नारी का है। वह इशारे में कही गई बात को आसानी से समझ जाती है। उसका हृदय चारुदत्त के लिए अनुरक्त है। चारुदत्त की पत्नी धूता के लिए भी वसंतसेना के व्यवहार से नम्रता और प्रशंसा ही प्रदर्शित होती है। धूता की बड़ी बहन को सामने देखकर वह अपने आप को दासी कहने में भी संकोच नहीं करती है। चारुदत्त के पुत्र रौहसेन को भी वसंतसेना हृदय से प्रेम करती है। उस बालक की खुशी को देखते हुए उसके खेलने के लिए गाड़ी बनवाने के लिए वसंतसेना अपने स्वर्ण आभूषण उतार कर मिट्टी की गाड़ी पर रख देती है। कहा जा सकता है कि वह वात्सल्य से भरी हुई है। यदि संक्षेप में कहा जाए तो वसंतसेना पवित्र, अनुपम सौंदर्य वाली, उदार और वात्सल्यमयी है।

शकार

इस प्रकरण का प्रतिनायक शकार है। यह बहुत ही बड़ा अभिमानी है। उसे राजा के साथ अपने संबंध होने का गर्व है। जब न्यायाधीश नौवें अंक में उसका मुकदमा सुनने से मना कर देता है तब वह धमकी देता है कि यदि मेरा मुकदमा नहीं देखा तो मैं अपने बहनोई राजा पालक से कहकर इस न्यायाधीश के स्थान पर दूसरे की नियुक्ति करवा लूंगा। शकार को अपने ध न का अभिमान है। उसे अपनी सुंदरता का भी बड़ा अहंकार है। एक सुंदर बहन का भाई होने के कारण वह स्वयं को अत्यंत सुंदर मानता है। शकार अशिक्षित है। उसे इस बात का भी ज्ञान नहीं है कि किस व्यक्ति से किस तरह की बातें की जानी चाहिए। वह अस्थिर स्वभाव वाला, दुराग्रही और कायर है। उसके विचार क्षण प्रति क्षण परिवर्तित होते रहते हैं। उसके साथी विट और चेट भी उसका विश्वास नहीं करतें। यह नितांत क्रूर, निर्दयी और अहंकारी स्वभाव का व्यक्ति है। उसकी क्रूरता उस समय दिखाई देती है जब वह छल से विट और चेट को हटाकर एकांत में वसंतसेना का गला घोंटकर हत्या करने का प्रयास करता है। वह स्वयं उसकी हत्या करके हत्या का आरोप चारुदत्त के सिर पर मढ़ने का प्रयास करता है। अंततः शकार का चरित्र इस प्रकार समझा जा सकता है कि वह दुर्गुणों की खान है, स्त्रियों के प्रति दुराग्रह रखने वाला, निर्दय, क्रूर और स्वार्थी है। शकार जैसे तत्व ही असामाजिक तत्व होते हैं।

विदूषक

मृच्छकटिक के विदूषक का नाम मैत्रेय है। वह चारुदत्त का मित्र और सहायक है। चारुदत्त जब समृद्ध था तब वह उसके यहाँ बहुत आनंद के साथ रहा करता था किंतु जब चारुदत्त निर्धन हो गया तब वह इधर-उधर घूम कर भोजन करता है और केवल रात में ही सोने भर के लिया जाता है। किंतु किसी भी परिस्थिति में वह चारुदत्त का साथ नहीं छोड़ता। वह हमेशा ही चारुदत्त की समृद्धि की प्रार्थना करता रहता है। मैत्रेय का स्वभाव डरपोक और क्रोधी है। जब वह सुनता है कि शकार ने रदनिका के बाल पकड़ने की चेष्टा की थी तो वह क्रोध में आ जाता है और शकार को मारने के लिए तैयार हो जाता है। अंधेरे में जाने से उसे डर लगता है। स्वभाव से वह एक सामान्य बुद्धि का व्यक्ति है।

शर्विलक

शर्विलक साहस तथा वीरता की मूर्ति है। उसका मानना है कि साहस में ही लक्ष्मी निवास करती है। वह चोरी करने की कला में पूर्णतया निपुण है। उसने योगाचार्य नाम के आचार्य से चोरी की कला सीखी है। लेकिन वह कोई पेशेवर चोर नहीं है। चोरी को वह एक अच्छा काम नहीं समझता लेकिन अपनी दरिद्रता के कारण और मदनिका के प्रेम में फंसने के कारण वह चोरी को एक व्यवसाय मानकर करता है। शर्विलक में साहस कूट-कूट कर भरा है। वह क्रांतिकारियों का नेता है और जेल का फाटक तोड़कर आर्यक को भगा ले जाता है। महल में घुसकर पालक का वध करके आर्य को राजगद्दी पर बैठाने का काम भी उसी का है। शर्विलक स्वभाव से एक सच्चा और दृढ़ मित्र भी है। जब मदनिका के साथ वसंत सेना के साथ वह घर से निकल रहा होता है तभी उसे आर्यक के बंदी बना लिए जाने का समाचार मिलता है। वह तुरंत उतर पड़ता है और आर्यक को मुक्त कराने के लिए चल पड़ता है। इस प्रकरण में शर्विलक षड्यंत्र करने में भी निपुण दिखाई देता है। यह भी मदनिका से प्रेम करता है। यह अनेक वेश धारण करने में और अन्य देश की भाषा बोलने में भी निपुण है।

धूता

धूता चारुदत्त की विवाहिता स्त्री है। स्वभाव से शूद्रक ने इसे पतिव्रता स्त्री के रूप में दिखलाया है। वह सुख और दु:ख में समान रूप से चारुदत्त के साथ रहती है। वह पति की अनुगामिनी है। चारुदत्त उसका पति है जो एक गणिका से प्रेम करता है। यह जानने के बाद भी धूता के हृदय में अपने पति के लिए निष्ठा बिल्कुल भी कम नहीं हुई है। जब उसे पता चलता है कि वसंतसेना के आभूषण चोरी हो गए हैं तो वह अपनी माता के घर से आभूषण लाकर वसंतसेना को देने के लिए मैत्रेय को सौंप देती है। चारुदत्त की प्रतिष्ठा समाज में कलंकित ना हो इसके लिए भी वह लगातार चिंतित रहती है। सामान्य स्त्रियों की तरह ही धूता भी आभूषण की लोभी नहीं है। जब वसंतसेना आभूषण को धूता के पास वापस भिजवा देती है तब धूता यह कहकर उसे अस्वीकार कर देती है कि आर्यपुत्र ने इसे आपको प्रसन्नता पूर्वक दिया है इसलिए मुझे यह लेना ठीक नहीं होगा। स्वभाव से धूता उदार और अपने पति से प्रेम करने वाली है। वह वसंतसेना को अपनी बहन के समान मानती है और उसके कल्याण की कामना करती है। धूता को एक कुलीन चरित्र वाली भारतीय नारी के रूप में चित्रित किया है।

मदनिका

मदनिका वसंतसेना की हितैशी और उसकी प्रियसखी के रूप में चित्रित की गई है। दोनों एक दूसरे को बहुत स्नेह करते हैं। वसंतसेना चारुदत्त के साथ अपने प्रेम रहस्य को मदनिका को ही बतलाती है। मदनिका शर्विलक के साथ छुपकर प्रेम करती है। शर्विलक मदनिका को छुड़ाने के लिए ही चारुदत्त के घर चोरी करता है। स्वभाव से मदनिका बुद्धिमती और चतुर स्त्री है। वह शर्विलक को एक अच्छी गृहणी की तरह ही उपदेश देती है। जब शर्विलक अपने

मित्र आर्यक को कैद से मुक्त कराने की इच्छा बतलाता है तब मदनिका उसका समर्थन करती है। वह कभी भी अपने पति के कर्तव्यों के बीच बाधा नहीं बनना चाहती। एक गणिका होने के बाद भी वह एक अच्छी सखी और प्रेयसी है।

बौद्ध भिक्षु संवाहक

मृच्छकटिक का भिक्षु बौद्ध सन्यासी है। इसके पहले वह जुआरी संवाहक के रूप में दिखाई देता है। दूसरे अंक में वसंतसेना के साथ जब उसकी बातचीत होती है तब उसका पूरा परिचय मिलता है। वह पाटलिपुत्र का रहने वाला है और वहाँ के एक गृहस्थ का लड़का है। देश देखने की उत्सुकता से वह उज्जैनी आया और उसने चारुदत्त के घर नौकरी कर ली। शुरू में कला समझकर उसने देह दबाने और मालिश करने का काम सीखा था। बाद में यही उसकी जीविका का साधन बन गया। जब चारुदत्त गरीब हुआ तब संवाहक ने जुआ खेलकर अपना पेट पालना शुरू किया। एक दिन जुए में वह सभी स्वर्ण मुद्राएँ हार गया और विजयी जुआरी के डर से उसने वसंतसेना के यहाँ शरण ली। वसंतसेना ने ही उसे उनके हाथों से छुड़ाया था। संवाहक सन्यास ग्रहण करने के बाद एक सत्य संयमी के रूप में हमारे सामने आता है। इंद्रियों पर उसका पूर्ण संयम हो जाता है।

पाठगत प्रश्न 11.3

1. चारुदत्त के चरित्र में मुख्य गुण कौन-कौन से हैं?

   ....

2. वसंतसेना का चित्रण किस रूप में किया गया है?

   ....

3. शकार किस प्रकार का चरित्र है?

   ....

4. मदनिका कौन है?

   ....

5. संवाहक बौद्ध भिक्षु क्यों बनता है?

   ....

11.5 मृच्छकटिक नाटक की रंग संभावनाएँ

मृच्छकटिक संस्कृत नाट्य साहित्य की एक मनोरंजक प्रकरण रचना है। शूद्रक ने इसकी रचना प्रकरण के समस्त नियमों का यथावत पालन कर किया है। कथावस्तु पूरी तरह कवि की कल्पना से निर्मित है और शूद्रक ने अपनी कल्पना से कथा को सामाजिक और राजनैतिक आवरण देने का सफलतापूर्वक प्रयास किया है। वस्तुत: उन्होंने एक प्रेम कथा और दूसरी राजनैतिक कथा इन दोनों कथाओं को इस तरह बुना है कि किसी को भी एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। जिस तरह के पात्र इस प्रकरण में मिलते हैं उस तरह के पात्र अन्य किसी संस्कृत नाटक में नहीं दिखाई देतें। सभी पात्र समाज के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। एक चोर, द्यूतकार, धूर्त, गणिका, शकार जैसे निम्न कोटि के पात्रों को प्रकरण में प्रयोग कर उन्होंने सामाजिक दृष्टि अपनाई है। शिक्षित न्यायाधीश से लेकर चांडाल तक और गणिका से लेकर कुलीन स्त्री तक उदार और अधम पात्रों के द्वारा उन्होंने तत्कालीन समाज का अत्यंत सजीव वर्णन किया है।

मृच्छकटिक का मुख्य रस श्रृंगार है। वीर रस को उन्होंने बहुत ही खूबसूरती के साथ श्रृंगार के अंगीकृत रूप में प्रयोग किया है। पूरा प्रकरण रोचक घटनाओं से भरा हुआ है। इस प्रकरण की एक और विशिष्ट विशेषता है कि इसमें विभिन्न प्रकार की प्राकृत भाषाओं का प्रयोग किया गया है। इसमें शूद्रक ने सात प्रकार की प्राकृत भाषाओं का इस्तेमाल किया है। प्राकृत की इतनी भाषाओं और बोलियों का प्रयोग संस्कृत के किसी दूसरे रूपक में दिखाई नहीं देता। शायद यहीं एक वजह रही है कि इस प्रकरण को कई भाषाओं और बोलियों में अनूदित कर रोचक तरीके से खेला गया है। आचार्य भरत ने भी देश काल और पात्र के अनुसार ही प्राकृत भाषा के प्रयोग का निर्देश दिया है। शूद्रक इस निर्देश का सुंदरता से पालन करते हुए दिखाई देते हैं। इस प्रकार मृच्छकटिक प्रकरण में शूद्रक की नाट्य शैली अत्यंत सरल, सरस और कृत्रिमता से रहित है। नाटक के संवाद मार्मिक और भावनाओं की अभिव्यक्ति में सफल हैं। संवादों की शैली भी रंगमंच के अनुकूल है। अपनी रंगमंच संभावनाओं के कारण ही यह प्रकरण न केवल संस्कृत नाट्य साहित्य में बल्कि आधुनिक रंगमंच में भी आकर्षण का केंद्र बना रहा है।

आपने क्या सीखा

- शूद्रक का समयकाल छठीं शाती है।
- वामनकृत काव्यालंकार सूत्र में शूद्रक का उल्लेख मिलता है।
- मृच्छकटिक शूद्रक के द्वारा रचित प्रकरण है।
- मृच्छकटिक में प्रणयकथा और राजनैतिक कथा का सुंदर समन्वय है।

- मृच्छकटिक प्रकरण में दस अंक है।
- मृच्छकटिक की कथा कवि कल्पित है।
- मृच्छकटिक में चारुदत्त नायक, वसंतसेना नायिका और शकार प्रतिनायक है।
- वसंतसेना द्वारा बालक की मिट्टी की गाड़ी में स्वर्ण आभूषण रखे जाने की घटना के कारण प्रकरण का नाम मृच्छकटिक रखा गया है।
- मृच्छकटिक में चोर, जुआरी, धूर्त, गणिका जैसे चरित्रों का वर्णन है।
- मृच्छकटिक में सात प्रकार की प्राकृत भाषाओं का प्रयोग किया गया है।
- मृच्छकटिक का मुख्य रस श्रृंगार है। वीर रस को श्रृंगार के अंगीरस के रूप में प्रयोग किया गया है। घटना के अनुसार हास्य की भी योजना है। अंत में करुण रस का भी मार्मिक प्रयोग देखने को मिलता है।

पाठान्त प्रश्न

1. मृच्छकटिक की मुख्य कथा क्या है?
2. शूद्रक के बारे में आपने क्या जाना?
3. मृच्छकटिक में वर्णित चरित्र के बारे में बतलाइए?
4. मृच्छकटिक की नाट्यशैली के बारे में बतलाइए?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

11.1

1. मृच्छकटिक के रचनाकार
2. छठी शाताब्दी
3. काव्यालंकार
4. भास
5. वराहमिहिर

11.2

1. दस अंक
2. संवाहक
3. चारुदत्त की पत्नी
4. चोर
5. अंक-3
6. अंक-9

11.3

1. धीरप्रशांत नायक, उदार, दयालु, चतुर, निपुण, शाील, आकर्शक व्यक्तित्व
2. नायिका के गुण, अनुपम सौंदर्य, सच्चरित्र, उदार, दयालु, वात्सल्यमयी
3. प्रतिनायक, घमण्डी, कपटी, अषिश्ट, क्रूर और निर्दयी
4. एक दिन जुए में वह सब हारकर विजयी जुआरी के डर से वसंतसेना के यहाँ शरण लेता है। वसंतसेना उसे उनके हाथों से छुड़ाती है। इस घटना से आहत होकर संवाहक सन्यास ग्रहण कर लेता है।

12

ध्रुवस्वामिनी

आधुनिक हिंदी नाटकों के प्रमुख नाटककार के रूप में जयशंकर प्रसाद का नाम महत्वपूर्ण है। उन्होंने आधुनिक नाट्य लेखन को एक नया आयाम दिया है। यदि हम प्रसाद के पूर्व हिंदी नाटककारों के विषय में देखें तो वह प्राय: किसी पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा अंग्रेजी के नाटकों का अनुवाद या रूपांतरण करते हुए अधिकतर दिखाई देते हैं। प्रसाद की मौलिक रचनाएँ भी अपने वर्तमान समय के विषयों को लेकर सामने आती हैं। जयशंकर प्रसाद पूर्व में लिखे गए किसी नाटक को अनूदित या रूपांतरित नहीं करतें और ना ही उसकी पुनर्रचना करते हैं। उन्होंने स्वतंत्र रूप से नाटक के माध्यम से अपने विचारों और भावों की अभिव्यक्ति की है।

प्रसाद के नाटक प्राय: रंगमंच की कसौटी पर रखे जाते रहे हैं। कभी उन्हें और रंगमंच कहा गया तो कभी प्रसाद की रचनाओं के लिए एक नई रंग तकनीक की आवष्यकता महसूस की गई। प्रसाद स्वयं भी कहते हैं कि यदि आधुनिक नाट्य तकनीक से नाटकों का मंचन किया जाए तो मेरे नाटक रंगमंचीय हैं। अपने समय से आगे भावी रंगमंच की कल्पना करते हुए दिखाई देते हैं। उनके नाटकों में एक गहरी ऐतिहासिक रोमांटिक दृष्टि, राष्ट्रप्रेम की भावना और नारी विमर्श जैसे कई विषय खुलकर सामने आते हैं। इस अध्याय में हम जयशंकर प्रसाद द्वारा लिखित नाटक ध्रुवस्वामिनी की चर्चा करेंगे।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप–

- ध्रुवस्वामिनी नाटक के विषय में जानते हैं;

- ध्रुवस्वामिनी नाटक के कथानक को जानते हैं;
- ध्रुवस्वामिनी नाटक के पात्रों का चरित्र चित्रण जानते हैं; और
- ध्रुवस्वामिनी मे प्रयुक्त नाट्ययुक्तियों को जानते हैं।

12.1 ध्रुवस्वामिनी

ध्रुवस्वामिनी जयशंकर प्रसाद द्वारा लिखित एक प्रसिद्ध नाटक है जिसका प्रकाषन वर्श 1933 में हुआ था। ध्रुवस्वामिनी जयषंकर प्रसाद का अंतिम नाटक है। प्रसाद जी ने इस नाटक में समुद्रगुप्त की मृत्यु और चंद्रगुप्त के राज सिंहासन पर विराजमान होने के समयकाल को बखूबी चित्रण किया है। उन्होंने अपनी कल्पना से उस ऐतिहासिक समय काल को कथावस्तु में सजोंने का प्रयास किया है। यह नाटक यथार्थ और प्रभावशाली रचना रही है।

प्रसाद कृत यह नाटक 3 अंक का है। नाटक की नायिका नारी पात्र ध्रुवस्वामिनी है। यह ऐतिहासिक प्रवृत्ति का नाटक है। नाटक का कथानक गुप्त काल से जुड़ा हुआ है। इस नाटक की कथा की जड़ें विशाखदत्त के द्वारा लिखे गये संस्कृत नाटक 'देवी चंद्रगुप्त' में देखा जा सकता है। इस नाटक के माध्यम से प्रसाद अपने वर्तमान समय में इतिहास की ओर दर्शकों और पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। भारत का गौरवमयी अतीत और राष्ट्रीय चेतना के माध्यम से वे अपने वर्तमान को प्रत्यक्ष करने का प्रयास करते हैं। जैसा कि नाट्य लेखन की भारतीय परंपरा रही है कि उसे किसी ऐतिहासिक अथवा पौराणिक कथावस्तु वस्तु को ग्रहण करके नाटककार उसमें अपनी कल्पना से मूल कथा में कुछ परिवर्तन अवश्य करता है ठीक उसी प्रकार जयशंकर प्रसाद ने भी ध्रुवस्वामिनी नाटक में इतिहास और कल्पना का बहुत ही सुंदरता के साथ संयोजन किया है।

पाठगत प्रश्न 12.1

1. ध्रुवस्वामिनी नाटक कब प्रकाशित हुआ है?

....

2. ध्रुवस्वामिनी नाटक में कितने अंक हैं?

....

3. नाटक का कथानक किस कालखंड से जुड़ा है?

....

टिप्पणी

4. ध्रुवस्वामिनी नाटक का संबंध विशाखदत्त के किस नाटक से है?

....

5. ध्रुवस्वामिनी नाटक का उद्देश्य क्या है?

....

12.2 ध्रुवस्वामिनी नाटक की कथावस्तु

ध्रुवस्वामिनी नाटक की प्रमुख और केंद्रीय नारी पात्र है। पूरी कथा इसी चरित्र को केंद्र में रखकर बुनी गई है। कहानी में दिखाया जाता है कि राम गुप्त शिखरस्वामी के षड्यंत्र में फंसकर ध्रुवस्वामिनी से बलपूर्वक विवाह कर लेता है और राज्य भी हड़प लेता है। नाटक का खलनायक शकराज है। वह ध्रुवस्वामिनी की सुंदरता के बारे में सुनकर उस पर मुग्ध हो जाता है और रामगुप्त से संधि प्रस्ताव के रूप में ध्रुवस्वामिनी की मांग करता है। रामगुप्त अपनी कायरता का प्रदर्शन करते हुए ध्रुवस्वामिनी को सौंपने के लिए तैयार हो जाता है किंतु चंद्रगुप्त को यह स्वीकार नहीं है। चंद्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के मध्य संवाद होता है जिसमें ध्रुवस्वामिनी अपनी भावना व्यक्त करती है। नाटक के अंत में चंद्रगुप्त शकराज को मारकर ध्रुवस्वामिनी से विवाह कर लेता है। यह पूरी कथा मुख्य रूप से 3 अंक में वर्णित है। अंकों में वर्णित कथा इस प्रकार हैं।

प्रथम अंक

इस अंक की शुरुआत में रामगुप्त का शिविर दिखाया जाता है। ध्रुवस्वामिनी शिविर में प्रवेश करती है। उसके साथ ही एक पुरुष और एक स्त्री तलवार लिए आती है। वह स्त्री शुरुआत में कुछ समय तक नहीं बोलती लेकिन बाद में वह चंद्रगुप्त के बारे में ध्रुवस्वामिनी को बताती है। वह यह भी बताती है कि चंद्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी को हृदय से प्रेम करता है। इसके साथ ही चंद्रगुप्त की दशा के बारे में भी ध्रुवस्वामिनी को बतलाती है। तभी अचानक रामगुप्त शिविर में प्रवेश करता है। वह बहुत ही चिंतित दिखाई देता है। उसके संवादों से पता चलता है कि वह इस आशंका से भरा हुआ है कि ध्रुवस्वामिनी आज भी चंद्रगुप्त से प्रेम करती है।

ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त के मध्य संवाद चल ही रहा होता है कि अचानक एक प्रहरी प्रवेश करता है। वह रामगुप्त को एक दुखद खबर देना चाहता है लेकिन रामगुप्त उसकी बात नहीं सुनता। वह केवल ध्रुवस्वामिनी को लेकर ही चिंतित रहता है। अमात्य शिखर स्वामी राम गुप्त को बतलाता है की शकराज ने संधि का प्रस्ताव भेजा है और उसने इस प्रस्ताव में अपने लिए ध्रुवस्वामिनी और अपने सामंतों के लिए गुप्त साम्राज्य के सामंतों की पत्नियों की मांग की है। यदि यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया जाता तो वह गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण कर देगा और सब कुछ तहस-नहस कर देगा।

रामगुप्त अपनी कायरता का परिचय देते हुए इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है। ध्रुवस्वामिनी इसका पुरजोर विरोध करती है और राम गुप्त से बिनय करती है कि वह ऐसा ना करे। लेकिन रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी की बातों को नहीं सुनता। जब चंद्रगुप्त को इस प्रस्ताव के बारे में पता चलता है तो वह रामगुप्त की कायरता के लिए उसे धिक्कारता है और ध्रुवस्वामिनी के स्थान पर स्वयं शकराज के शिविर में जाने का निर्णय लेता है। रामगुप्त और शिखरस्वामी ध्रुवस्वामिनी को भी साथ जाने के लिए कहते हैं। अंत में चंद्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी दोनों ही शकराज के शिविर में जाने की तैयारी करते हैं।

दूसरा अंक

इस अंक का स्थल शकराज का शिविर है। शकराज के शिविर में कोमा दिखाई देती है जो कि शकराज की प्रेमिका है। तभी सहसा शकराज हाथ में तलवार लिए हुए प्रवेश करता है। वह अत्यंत चिंतित दिखाई देता है। वह व्याकुल होकर अपने दूत खिंगिल की प्रतीक्षा करता है। कोमा को देखकर वह उससे बात करना शुरू करता है। वह अपने हृदय में चल रहे उलझन को कोमा से साझा करता है। कोमा उसे शांत करने के लिए मदिरा का प्याला लेने जाती है।

तभी खिंगिल का प्रवेश होता है। वह शकराज को यह खबर देता है कि रामगुप्त ने उसके दोनों प्रस्ताव स्वीकार कर लिए हैं। शकराज प्रसन्न होता है। कोमा चुपके से उन दोनों के बीच चल रहे संवाद को सुन लेती है। शकराज अपने सामंतों को आज्ञा देता है कि वह विजय का उत्सव मनाएँ।

ध्रुवस्वामिनी के आने की कल्पना से शकराज अधीर हो जाता है। खिंगिल शकराज को बतलाता है कि ध्रुवस्वामिनी की पालकियाँ आ गई हैं और वह यह भी बतलाता है कि ध्रुवस्वामिनी ने शकराज से अकेले ही मिलने की बात कही है। कोमा शकराज को अकेले जाने से मना करती है। लेकिन कामवासना में अधीर शकराज उसकी बात को सुनने से मना कर देता है और उसकी भर्त्सना करता है। वह अपने धर्म आचार्य मिहिर का भी अपमान करता है। मिहिर कोमा को साथ लेकर चला जाता है।

ध्रुवस्वामिनी और ध्रुवस्वामिनी का वेश धरे हुए चंद्रगुप्त आपस में संवाद करते हुए मंच पर प्रवेश करते हैं। दोनों ही स्वयं को ध्रुवस्वामिनी बताते हैं। शक राज उन दोनों को देखकर उनके सौंदर्य पर मुग्ध हो जाता है। तभी चंद्रगुप्त अवसर पाकर शकराज को द्वंद युद्ध के लिए चुनौती देता है। दोनों के मध्य युद्ध होता है और अंत में चंद्रगुप्त शकराज का वध कर देता है।

तृतीय अंक

इस अंक की घटनाएँ शकराज के दुर्ग के भीतरी प्रकोष्ठ में सम्पन्न होती हैं। ध्रुवस्वामिनी मंच पर है तभी एक सैनिक प्रवेश करता है। वह उस सैनिक से चंद्रगुप्त के आघात के बारे में

टिप्पणी

पूछती है। सहसा पुरोहित का मंच पर प्रवेश होता है। वह ध्रुवस्वामिनी को महादेवी कहकर उसे एक विशिष्ट धार्मिक रीति स्वास्त्ययन के आयोजन के लिए कहता है किंतु ध्रुवस्वामिनी स्वयं को महादेवी कहे जाने से मना कर देती है। वह अपने संवादों में पुरोहित और उनके धर्मशास्त्रों में वर्णित स्त्रियों की दयनीय स्थिति को लेकर अपने भाव अभिव्यक्त करती है। पुरोहित अपने धर्मशास्त्र को फिर से देखने की बात कहकर चला जाता है।

मिहिरदेव और कोमा मंच पर प्रवेश करते हैं और शकराज के मृत शरीर को ले जाने की याचना करते हैं। ध्रुवस्वामिनी उन्हें शव को ले जाने की आज्ञा देती है। तभी चंद्रगुप्त मंच पर प्रवेश करता है और ध्रुवस्वामिनी से कहता है कि अब यहां रहना उसके लिए व्यर्थ है।

सहसा नेपथ्य से कोलाहल का स्वर सुनाई देता है। मंदाकिनी प्रवेश करती है और चंद्रगुप्त को बतलाती है कि रामगुप्त के सैनिकों ने शकराज का शव ले जाते हुए आचार्य मिहिर और उनकी पुत्री कोमा को मार डाला है। सभी सामंत इस बात से दुखी हैं। वह राम गुप्त के लिए अपमानजनक शब्दों में उसकी भर्त्सना कर रहे हैं।

रामगुप्त मंच पर प्रवेश करता है और यह सब जानकर बहुत क्रोधित होता है। वह चंद्रगुप्त को बंदी बनाए जाने का आदेश देता है। ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त के इस कृत्य की भर्त्सना करती है और खुद को उसकी पत्नी मानने से इंकार करती है। इस बात से क्रोध में आकर रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी को भी बंदी बनाए जाने का आदेश देता है। चंद्रगुप्त के लिए यह सब असहनीय होता है। वह जंजीरों को तोड़ देता है। तभी अवसर देखकर शिखरस्वामी चंद्रगुप्त के पक्ष में आ जाता है।

मंत्री परिषद की बैठक की जाती है। उसमें सभी मंत्री और सामंत ध्रुवस्वामिनी को रामगुप्त से विवाह-विच्छेद करने और चंद्रगुप्त से विवाह की अनुमति देते हैं। रामगुप्त क्रोध में चंद्रगुप्त पर धोखे से वार करता है लेकिन तभी एक सामंत उसे देख लेता है और राम गुप्त को मौत के घाट उतार देता है। यहीं नाटक का अंत हो जाता है।

इस प्रकार जयशंकर प्रसाद ने गुप्तकालीन ऐतिहासिक घटना को आधार बनाकर अपनी कल्पना से एक नाटक में बदला है। इतिहास में केवल यही तथ्य मिलता है कि चंद्रगुप्त ने अपने बड़े भाई रामगुप्त को मारकर राज सिंहासन प्राप्त किया था लेकिन ऐसा कौन सा कारण था जिसके कारण चंद्रगुप्त को यह करना पड़ा? इस विषय में इतिहासकारों के पास कोई जवाब नहीं है। प्रसाद जी ने इसी प्रश्न को अपना आधार बनाया और प्रथा की आड़ में सदियों से भारतीय समाज में चल रहे नारी शोषण के मुद्दे को मौलिकता प्रदान की। नाटक की मूल संवेदना में नारी स्वतंत्रता और उनके अधिकारों से जुड़े कई प्रश्न हैं जो ध्रुवस्वामिनी के संवादों में निकलकर सामने आते हैं। पुरुष स्त्री को केवल भोग की वस्तु समझता है पुरुष एक से अधिक विवाह कर सकता है, विवाह को लेकर स्त्री की इच्छा और अनिच्छा के संबंध में कोई प्रश्न नहीं, स्त्री को पुनर्विवाह की अनुमति नहीं होती ऐसी कई बातें हैं जो इस नाटक में निकल कर सामने आती हैं। जयशंकर प्रसाद बड़ी ही कुशलता के साथ न केवल नारी समस्या

को मुखर करते हैं बल्कि उनके अन्य पात्र भी अवसर पाकर रूढ़ियों के प्रति विद्रोह प्रदर्शित करते दिखते हैं। जैसे कोमा अपने साथ होने वाले अन्याय को सह रही होती है वहीं मंदाकिनी और ध्रुवस्वामिनी नारी के विरुद्ध सदियों से चल रहे कुप्रथा पर प्रश्नचिन्ह खड़ी करती हैं। नाटक का अंत बहुत ही आदर्श के साथ होता है।

पाठगत प्रश्न 12.2

1. किस बात को लेकर रामगुप्त शंका में है?

   ....

2. शकराज रामगुप्त के सम्मुख क्या प्रस्ताव रखता है?

   ....

3. कोमा कौन है?

   ....

4. द्वितीय अंक में घटना किस स्थल पर घटित होती है ?

   ....

5. रामगुप्त कैसे मारा जाता है?

   ....

6. ध्रुवस्वामिनी और चंद्रगुप्त का क्या संबंध है?

   ....

7. नाटक के अंत में क्या होता है?

   ....

12.3 ध्रुवस्वामिनी नाटक के चरित्र

ध्रुवस्वामिनी नाटक में ध्रुवस्वामिनी, मंदाकिनी और कोमा तीन स्त्री पात्र हैं। पुरुष पात्रों में रामगुप्त, चंद्रगुप्त, शिखरस्वामी, शकराज, खिंगिल, मिहिर देव और पुरोहित हैं। इन प्रमुख पात्रों के अलावा नाटक में कुछ और पात्रों का प्रवेश भी होता है जैसे- हिजड़ा, बौना, कुबड़ा,

प्रतिहारी, खडगधारिणी, कुमार, सामंत इत्यादि। किंतु पूरे नाटक की कथावस्तु केवल 3 पात्रों पर ही केंद्रित है- ध्रुवस्वामिनी, रामगुप्त और चंद्रगुप्त। नाटक का पूरा कार्य व्यापार इन्हीं को केंद्र में रखकर बुना गया है। अब हम इनके विषय में थोड़ा विस्तार से जानेंगे

ध्रुवस्वामिनी

ध्रुवस्वामिनी नाटक का संपूर्ण घटनाक्रम ध्रुवस्वामिनी के ही इर्द-गिर्द घूमता है। ध्रुवस्वामिनी के साथ रामगुप्त ने बलपूर्वक विवाह किया है किंतु अंत में वह चंद्रगुप्त को अपने पति के रूप में स्वीकार करती है। ध्रुवस्वामिनी इस नाटक की मुख्य नायिका है। नाटक के कथानक से हमें ज्ञात होता है चंद्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हैं लेकिन शिखरस्वामी के षड्यंत्र के कारण चंद्रगुप्त का बड़ा भाई रामगुप्त उससे जबरन विवाह कर लेता है और छल पूर्वक चंद्रगुप्त के राज्य को भी हड़प लेता है।

ध्रुवस्वामिनी का रूप सौंदर्य अनुपम है। वह इतनी सुंदर है कि शकराज उसके सौंदर्य पर आसक्त हो जाता है। वह ध्रुवस्वामिनी को किसी भी प्रकार से हासिल करना चाहता है इसीलिए वह रामगुप्त के समक्ष संधि प्रस्ताव भेजता है। उसकी सुंदरता के कारण ही चंद्रगुप्त ने उसे अपना हृदय दे दिया था।

नाटक के आरंभ में अगर हम देखें तो ध्रुवस्वामिनी एक ऐसी स्त्री के रूप में दिखाई देती है जो पूरी तरह पुरुष पर आश्रित है। चंद्रगुप्त से प्रेम करने के बाद भी वह बिना विरोध किए रामगुप्त से विवाह कर लेती है। वह इस स्थिति को स्वीकार कर परिस्थिति के अनुसार स्वयं को ढालने की कोशिश करती है। लेकिन हृदय से कभी भी वह रामगुप्त को स्वीकार नहीं कर पाती है। जब राम गुप्त संधि प्रस्ताव को स्वीकार कर ध्रुवस्वामिनी को उसके पास भेजे जाने के लिए तैयार हो जाता है तो ध्रुवस्वामिनी का हृदय टूट जाता है। वह उसके समक्ष बार-बार अनुनय विनय करती है लेकिन रामगुप्त इसे भी ठुकरा देता है। तब वह कहती है-''कुछ नहीं, मैं केवल यही कहना चाहती हूँ कि पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु संपत्ति समझ कर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल मर्यादा, नारी का गौरव नहीं बचा सकते तो मुझे बेच भी नहीं सकते हो।'' आगे वह कहती है- ''मैं उपहार देने की वस्तु, शीतल मणि नहीं हूँ। मुझ में रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय ऊष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है।'' जब राम गुप्त ध्रुवस्वामिनी की याचना को ठुकरा देता है तब उसके हृदय से यह उद्‌गार फूट पड़ते हैं। उसके अंदर की विरोध की भावना मुखर हो जाती है लेकिन उदास होकर वह आत्महत्या के लिए तैयार हो जाती है।

ध्रुवस्वामिनी के संवादों को पढ़कर यह अनुमान लगता है कि वह अत्यंत व्यवहारिक और बुद्धिमती है। जीवन को लेकर वह बहुत ही व्यवहारिक है। वह अपने हृदय के भावों को छुपा कर रखती है। वह सहजता से सभी के सम्मुख अपनी भावनाओं को व्यक्त नहीं करती। शकराज के शिविर में वह बुद्धि से काम लेती है और उसका वध करने के लिए चंद्रगुप्त

का साथ देती है। वह अपनी बुद्धि के कारण ही प्रजा और सभी सामंतों को अपने पक्ष में ले लेती है। धर्मगुरु के साथ भी वह तर्क करती है और उन्हें निरुत्तर कर देती है।

ध्रुवस्वामिनी के साथ ही प्रसाद ने कई नारी समस्याओं पर भी प्रकाश डाला है। कथानक में ध्रुवस्वामिनी अपने आत्म गौरव को लेकर सचेत है। उसके अंदर यह भावना इतनी बलवती है कि रामगुप्त से विवाह करने के बाद भी वह उसे कभी स्वीकार नहीं करती क्योंकि उसकी आत्मा इसके लिए कभी उसे अनुमति नहीं देती। अपने आत्म गौरव की रक्षा के लिए वह पहले रामगुप्त से अनुनय विनय करती है लेकिन बाद में स्वयं उठ खड़ी होती है। नाटक में ध्रुवस्वामिनी कभी एक निस्सहाय स्त्री के रूप में दिखाई देती है तो कभी अन्याय और अत्याचार के खिलाफ कड़ा तेवर भी अपनाती हुई दिखती है। वह रामगुप्त को कायर और निर्बल कहकर उसकी निंदा भी करती है।

चंद्रगुप्त

चंद्रगुप्त नाटक का प्रमुख नायक है। उसके चरित्र में नायक के सभी गुण हैं। स्वभाव से वह वीर, कर्तव्यनिष्ठ और पराक्रमी है। जब रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी को शकराज के शिविर में भेजने के लिए तैयार हो जाता है तब चंद्रगुप्त का खून खौल उठता है। वह बड़ी ही निर्भयता के साथ रामगुप्त के इस निर्णय का विरोध करता है। और यही नहीं वह ध्रुवस्वामिनी की रक्षा के लिए अपने प्राणों की बलि देने के लिए भी तैयार हो जाता है।

चंद्रगुप्त वीर और पराक्रमी होने के साथ ही धैर्यवान, विवेकशील, दयाशील और परोपकार उसे और भी महान बनाते हैं। अपने लिए हुए अत्याचारों को तो वह सह लेता है लेकिन अपनों के विरुद्ध होने वाले अत्याचार को वह कभी नहीं सहता। कुल की मर्यादा के लिए ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त का विवाह उसे स्वीकार था लेकिन ध्रुवस्वामिनी को शकराज के शिविर में भेजा जाना उसे कतई स्वीकार नहीं था। इसीलिए वह रामगुप्त के विरुद्ध विद्रोह कर बैठता है।

चंद्रगुप्त में एक और गुण प्रमुख है-त्याग और चिंतन। जब सम्राट समुद्रगुप्त चंद्रगुप्त को भावी सम्राट घोषित करता है किंतु उनकी मृत्यु के पश्चात रामगुप्त राज्य सत्ता पर अपना हक काबिज करता है। इस अवसर पर चंद्रगुप्त खुशी-खुशी अपना राज रामगुप्त को सौंप देता है। इस प्रकार चंद्रगुप्त पुरुष पात्रों में श्रेष्ठ नायक के रूप में सामने आता है। यदि कथानक में चंद्रगुप्त नहीं होता तो संभवतः ध्रुवस्वामिनी अपनी स्वतंत्रता और आत्म गौरव की रक्षा के लिए मुखर नहीं हो पाती।

रामगुप्त

रामगुप्त इस नाटक का प्रमुख पुरुष पात्र है। ध्रुवस्वामिनी के अधिकांश प्रश्न रामगुप्त से ही जुड़े हुए हैं। रामगुप्त का चरित्र, दुर्बल, अयोग्य, कायर और विलासी प्रवृत्ति का है। नाटक में

रामगुप्त से जुड़ी कई विशेषतायें सामने आती हैं। जैसे वह एक शराबी, पत्नी के प्रति उपेक्षापूर्ण और अमानवीय तथा विलासी है। अन्य पात्रों के साथ जब रामगुप्त का संवाद होता है तब भी कई बातें पता चलती हैं। जैसे उसका स्वभाव शंकालु है। उसे हमेशा यह शंका रहती है कि ध्रुवस्वामिनी चंद्रगुप्त से प्रेम करती है। जैसे उसका संवाद है- "जो स्त्री किसी दूसरे के शासन में रहकर और प्रेम किसी अन्य पुरुष से कम करती है उसमें एक गंभीर और व्यापक रस उद्वेलित रहता होगा वही तो नहीं, जो चंद्रगुप्त से प्रेम करेगी वह स्त्री ना जाने कब चोट कर बैठे? भीतर भीतर न जाने कितने कुचक्र घूमने लगेंगे।'' रामगुप्त पराक्रमी और साहसी नहीं है इसीलिए युद्ध करने और अपने प्राणों को संकट में डालने की बजाय ध्रुवस्वामिनी और सामंत पत्नियों को शकराज को सौंपने के लिए वह तैयार होता है।

शकराज

शकराज ध्रुवस्वामिनी नाटक का एक गौण किंतु प्रमुख पात्र है। वह दूसरे अंक में उपस्थित होता है। इसकी उपस्थिति से ही नाटक के कथानक में एक द्वंद रहता है। शकराज विदेशी शासक है। वह शक देश से आया है। वह स्वभाव से स्वेच्छाचारी, र्दुव्यवहारी और बर्बर व्यक्ति है। शकराज युद्ध नीति में कुशल योद्धा और नीति कुशल शासक भी है। वह रामगुप्त के शिविर को घेर लेता है और गिरिपथ को रोककर विरोधियों के मार्ग को अवरुद्ध कर देता है। इस प्रकार वह रामगुप्त को पराजित कर देता है।

मिहिरदेव

मिहिरदेव नाटक में एक वास्तविक धर्मगुरु, वात्सल्यपूर्ण, भविष्य का दृष्टा, स्वाभिमानी और उच्च चरित्रवान दिखाई देता है। वह राजनीति में छल, कपट, अनीति और अत्याचार का विरोधी है। जब शकराज अपने पद से भ्रष्ट होकर ध्रुवस्वामिनी का प्रस्ताव भेजता है तब मिहिरदेव शकराज से कहता है कि राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ ना धो बैठो जिसका विश्व मानव के साथ व्यापक संबंध है। राजनीति की साधारण घटनाओं को सफलता प्राप्त करके क्षण भर के लिए तुम अपने कुछ चतुर मान सकते हो। समझ लेने की भूल कर सकते हो। दो प्यार करने वाले हृदय के बीच स्वर्गीय ज्योति का निवास है। मिहिरदेव कोमा का पिता भी है। कोमा उनकी पुत्री है। वह कोमा को प्राण से भी अधिक प्रेम करता है। जयशंकर प्रसाद ने इस चरित्र की योजना एक भविष्य के दृष्टा ऋषि के रूप में की है। शकराज उनकी बेटी की अवहेलना करके ध्रुवस्वामिनी को अपनी बनाना चाहता है। शकराज की इस अनैतिक नीति पर मिहिरदेव अपनी असहमति व्यक्त करते हैं।

कोमा

कोमा एक भारतीय नारी के रूढ़िवादी पारंपरिक रूप का प्रतिनिधित्व करती है जिनके लिए पति ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य होता है। पति के अतिरिक्त संसार में कोई दूसरा नहीं होता। कोमा में कोमलता और भावुकता का योग है। उसका पूरा प्रेम भावना पर ही टिका हुआ है।

उसका मन किसी पर अत्याचार नहीं देख सकता। उसके प्रति शकराज की कठोरता और निर्दयता भी असहनीय है। स्वभाव से वह अत्यंत शीतल है। उसका हृदय कोमल है। कोमा उदार हृदय वाली एक आदर्श प्रेमिका के रूप में नाटक में दिखलाई देती है। बौद्धिकता और चिंतन उसे विरासत में मिला है। कोमा के हृदय में मानव के लिए उदारता और चिंता है। अन्य नारी के लिए उसके हृदय में स्नेह है। अपनी चिंता ना कर के भी ध्रुवस्वामिनी के लिए शकराज का विरोध करती है। वह विवेकशील, निर्भय, त्यागी, शांतिप्रिय और बलिदानी स्वभाव की है।

मंदाकिनी

मंदाकिनी तीसरी और महत्वपूर्ण स्त्री पात्र है। हालांकि मुख्य कथा में वह इतना महत्वपूर्ण नहीं है लेकिन फिर भी उस पर चर्चा करना आवश्यक है। मंदाकिनी विवेकशील है। वह अपनी बुद्धि से जटिल से जटिल परिस्थिति को सरलता से समझा जाती है। वह निर्भीक भी है। सत्य और न्याय संगत बात कहने में वह डरती नहीं है भले ही सामने राजाधिराज हो। नाटक के अंतिम दृश्य में वह राज्य परिषद के सामने रामगुप्त को उसके घृणित कार्य के लिए फटकारती है। वह कहती है- ''राजा का भय मंदाकिनी का गला नहीं घोंट सकता। तुम लोगों को यदि कुछ भी बुद्धि होती तो इस तरह अपनी कुल मर्यादा नारी को शत्रु के दुर्ग में यूं ना भेजते।''

मंदाकिनी में सेवा करने की भावना भी अत्यंत प्रबल है। वह विपरीत परिस्थितियों में भी चंद्रगुप्त को ध्रुवस्वामिनी तक पहुंचाने की यात्रा में लगी रहती है। मंदाकिनी धर्म शास्त्रों के रूढ़वादी दृष्टिकोण, अन्याय और नारी की दुर्बलता का पुरजोर विरोध करती है। पूरे नाटक में वह नारी अधिकार की रक्षा के लिए अपनी आवाज उठाती हुई दिखाई देती है। उसके संवादों में नारी की प्रताड़ना, उसकी चित्कार और करुणा की अभिव्यक्ति है। धर्म शास्त्रों के लिए उसके मन में विद्रोह की भावना है। उसके अनुसार तो धर्मशास्त्र ही नारी की दयनीय दशा का मुख्य कारण हैं।

12.5 ध्रुवस्वामिनी की नाट्यशैली

किसी भी पात्र के विषय में हमें नाटक के पाठ से सभी जानकारियाँ मिलती हैं। प्राय: पात्रों के बारे में लेखक अपने रंगसंकेत में विवरण उपस्थित करते हैं। इन्हीं विवरणों को चरित्र चित्रण के लिए आधार बनाया जाता है। इसी से हमें पात्र के रूप, रंग, वेशभूषा, स्वभाव आदि के बारे में पता चलता है। पात्रों को जानने और समझने के लिए दूसरा तरीका भी है जिसमें उसके द्वारा बोले गए संवाद से पात्र के विषय में कई जानकारियाँ मिलती हैं। उनके द्वारा किए गए कार्य उनके अंतर्मन को उद्घाटित करते हैं। जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों में चरित्र को स्वतंत्र रूप में प्रस्तुत किया है। उनसे पहले लिखे गए नाटकों में पात्र प्राय: देवी और आसुरी वृत्तियों वाले और यदा-कदा नाटककार के ही दृष्टिकोण को सामने लाने वाले होते थे। जयशंकर प्रसाद ने ऐसे रूढ़ पात्रों को अस्वीकार किया है। उनके नाटकों में प्रयुक्त चरित्र

अपनी निजी अभिव्यक्ति करते हैं। वे स्वतंत्र हैं उन पर किसी प्रकार का कोई आरोप नहीं है। जैसे ध्रुवस्वामिनी में ध्रुवस्वामिनी और चंद्रगुप्त अपने आप में स्वतंत्र हैं और इसी नाटक के प्रतिनायक या खलनायक रामगुप्त और शकराज दोनों ही बिल्कुल अलग ढंग के पात्र हैं।

प्रसाद के नाटकों की यह विशेषता है कि उनमें इतिहास और कल्पना दोनों का ही मनोरंजक समन्वय है। वह इतिहास की घटनाओं से भी पात्र को सजीव कर देते हैं और इन्हीं ऐतिहासिक घटनाओं से वर्तमान समय को परिलक्षित करते हैं। जयशंकर प्रसाद स्वच्छंदतावादी कवि रहे हैं। उनके चरित्रों में कुछ महत्वपूर्ण गुण दिखलाई देते हैं। जैसे आत्म गौरव और आत्मसम्मान की भावना, नारी सशक्तिकरण, नारियों की स्वतंत्रता और समता की भावना और साथ ही प्रेम और सौंदर्य का स्वच्छंदतावाद। इसीलिए उनके नाटकों को केवल ऐतिहासिक नाटक नहीं कहा जाता बल्कि ऐतिहासिक रोमांटिक नाटक कहा जाता है क्योंकि वह इतिहास के चरित्रों से वर्तमान पर रोमांचकारी प्रभाव डालते हुए दिखाई देते हैं।

ध्रुवस्वामिनी से पहले लिखे गए नाटक शिल्प में कुछ भिन्नता रखते हैं। इस नाटक में केवल 3 ही अंक हैं और दृष्यों की भी अधिकता नहीं है। पिछले नाटकों में जयशंकर प्रसाद ने रंग संकेतों का भी अधिकतम प्रयोग नहीं किया लेकिन ध्रुवस्वामिनी में वह रंगसंकेत का प्रचुर मात्रा में प्रयोग करते हैं। पूर्व नाटकों की तरह ध्रुवस्वामिनी के कसावट में कोई ढीलापन नहीं है। उन्होंने कथानक को कुशलतापूर्वक नाटक के शिल्प में ढ़ाला है। ध्रुवस्वामिनी आधा छायावादी और आधा यथार्थवादी नाटक है।

पाठगत प्रश्न 12.3

1. ध्रुवस्वामिनी नाटक के चरित्रों में कौन से गुण दिखाई देते हैं?

   ....

2. प्रसाद के नाटकों की क्या विशेषता है?

   ....

3. प्रसाद के चरित्रों की क्या विशेषता है?

   ....

4. पूर्व नाटकों की अपेक्षा ध्रुवस्वामिनी में क्या अंतर है?

   ....

5. ध्रुवस्वामिनी किस प्रकृति का नाटक है?

....

आपने क्या सीखा

- ध्रुवस्वामिनी जयशंकर प्रसाद की अंतिम नाट्य रचना है।
- ध्रुवस्वामिनी का प्रकाशन वर्ष 1933 में हुआ था।
- ध्रुवस्वामिनी नाटक का मुख्य आधार एक ऐतिहासिक कथा है जिसमें समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त और रामगुप्त प्रमुख चरित्र हैं। इस कथा में केवल यही उल्लेख मिलता है कि चंद्रगुप्त रामगुप्त को मारकर गद्दी पर बैठा था किंतु ऐसा उसने क्यों किया यह अज्ञात है। प्रसाद ने इसी प्रश्न को कल्पना का अधार बनाया है।
- ध्रुवस्वामिनी नाटक में ध्रुवस्वामिनी, मंदाकिनी और कोमा तीन स्त्री पात्र हैं। पुरुष पात्रों में रामगुप्त, चंद्रगुप्त, शिखरस्वामी, शकराज, खिंगिल, मिहिर देव और पुरोहित हैं।
- नाटक की नायिका नारी पात्र ध्रुवस्वामिनी है। यह ऐतिहासिक प्रवृत्ति का नाटक है। नाटक का कथानक गुप्त काल से जुड़ा हुआ है।
- इस नाटक में केवल 3 ही अंक हैं और दृश्यों की भी अधिकता नहीं है।
- ध्रुवस्वामिनी में प्रसाद रंगसंकेत का प्रचुर मात्रा में प्रयोग करते हैं।
- चंद्रगुप्त नाटक का प्रमुख नायक है। उसके चरित्र में नायक के सभी गुण हैं। स्वभाव से वह वीर, कर्तव्यनिष्ठ और पराक्रमी है।
- ध्रुवस्वामिनी के अधिकांश प्रश्न रामगुप्त से ही जुड़े हुए हैं। रामगुप्त का चरित्र, दुर्बल, अयोग्य, कायर और विलासी प्रवृत्ति का है।
- कोमा एक भारतीय नारी के रूढ़िवादी पारंपरिक रूप का प्रतिनिधित्व करती है जिनके लिए पति ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य होता है। पति के अतिरिक्त संसार में कोई दूसरा नहीं होता। कोमा में कोमलता और भावुकता का योग है।
- इस नाटक की कथा की जड़ें विशाखदत्त के द्वारा लिखे गये संस्कृत नाटक 'देवी चंद्रगुप्त' में देखा जा सकता है। इस नाटक के माध्यम से प्रसाद अपने वर्तमान समय में इतिहास की ओर दर्शकों और पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। भारत का गौरवमयी अतीत और राष्ट्रीय चेतना के माध्यम से वे अपने वर्तमान को प्रत्यक्ष करने का प्रयास करते हैं।

पाठान्त प्रश्न

1. संस्कृत नाट्यलेखन की श्रृंखला में प्रबोधचंद्रोदय का क्या महत्व है?
2. प्रबोधचंद्रोदय नाटक की मूलकथा के विषय में बतलाइए?
3. प्रबोधचंद्रोदय के नामकरण के विषय में बतलाइए?
4. प्रबोधचंद्रोदय के अनुप्रयोग के बारे में बतलाइये?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

12.1

1. वर्ष 1933 में
2. ध्रुवस्वामिनी नाटक में तीन अंक हैं।
3. गुप्तकाल
4. देवी चंद्रगुप्त
5. अतीत के माध्यम से वर्तमान की ओर पाठक व दर्शकों का ध्यान आकृष्ट करना।

12.2

1. ध्रुवस्वामिनी और चंद्रगुप्त के मध्य प्रेम संबंध को लेकर रामगुप्त शंका में है।
2. शकराज ने संधि का प्रस्ताव भेजा है और उसने इस प्रस्ताव में अपने लिए ध्रुवस्वामिनी और अपने सामंतों के लिए गुप्त साम्राज्य के सामंतों की पत्नियों की मांग की है। यदि यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया जाता तो वह गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण कर देगा और सब कुछ तहस-नहस कर देगा।
3. कोमा शकराज की प्रेयसी है।
4. द्वितीय अंक में घटना शकराज के शिविर में घटित होती है।
5. रामगुप्त क्रोध में चंद्रगुप्त पर धोखे से वार करता है लेकिन तभी एक सामंत उसे देख लेता है और राम गुप्त को मौत के घाट उतार देता है।

टिप्पणी

6. ध्रुवस्वामिनी चंद्रगुप्त को पसंद करती थी किंतु रामगुप्त ने जबरन उससे विवाह कर लिया था।

7. नाटक के अंत में ध्रुवस्वामिनी व चंद्रगुप्त परिणय सूत्र में बंध जाते हैं।

12.3

1. चरित्रों में कुछ महत्वपूर्ण गुण दिखलाई देते हैं। जैसे आत्म गौरव और आत्मसम्मान की भावना, नारी सशक्तिकरण, नारियों की स्वतंत्रता और समता की भावना और साथ ही प्रेम और सौंदर्य का स्वच्छंदतावाद।

2. प्रसाद के नाटकों की क्या विशेषता है?

3. प्रसाद के नाटकों की यह विशेषता है कि उनमें इतिहास और कल्पना दोनों का ही मनोरंजक समन्वय है। वह इतिहास की घटनाओं से भी पात्र को सजीव कर देते हैं और इन्हीं ऐतिहासिक घटनाओं से वर्तमान समय को परिलक्षित करते हैं।

4. पिछले नाटकों में जयशंकर प्रसाद ने रंग संकेतों का अधिकतम प्रयोग नहीं किया लेकिन ध्रुवस्वामिनी में वह रंगसंकेत का प्रचुर मात्रा में प्रयोग करते हैं।

5. ध्रुवस्वामिनी छायावादी और यथार्थवादी नाटक है।

13

प्रबोधचंद्रोदय

संस्कृत नाट्य लेखन के क्रम में प्रबोधचंद्रोदय की महती भूमिका है। नाटककार श्री कृष्ण मिश्र ने एक गंभीर दार्शनिक विचार को संस्कृत नाटक की परंपरा में नाटक का मुख्य आधार बनाया है। इस प्रकार के कथानक को लेकर नाटक लिखना एक चुनौतीपूर्ण कार्य है क्योंकि इससे मनोरंजकता में कमी आ सकती है। लेकिन श्री कृष्ण मिश्र ने बड़ी ही कुशलता और चतुराई के साथ ऐसे गंभीर विचारधारा को कथा में परिवर्तित करने का कार्य किया है। जिस तरीके से उन्होंने मानव और उसके अंदर चल रहे अंतर्द्वंद के संघर्ष को नाटक में जगह दी है यह वास्तव में बहुत ही रचनात्मक है। श्री कृष्ण प्रबोधचंद्रोदय के लेखन में नाटक के नियमों का उल्लंघन भी नहीं करते है। संवादों का प्रयोग भी प्रदर्शन को ध्यान में रखकर किया जाता है। मौलिक रूप से इस नाटक में अद्वैत वेदांत और विष्णु भक्ति का समन्वय है, लेकिन कहीं भी दार्शनिकता और उपदेश नाटक की गति को शिथिल नहीं करते।

इस अध्याय में हम प्रबोधचंद्रोदय के विषय में चर्चा करेंगे। संस्कृत नाट्य परंपरा में यह नाटक क्यों महत्वपूर्ण है और श्रीकृष्ण मिश्र द्वारा इस नाटक की रचना कैसे की गई यह हमारा विषय होगा।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप-

- नाटककार श्रीकृष्ण मिश्र के विषय में जानते हैं;
- प्रबोधचंद्रोदय नाटक के कथानक को जानते हैं;

- प्रबोधचंद्रोदय के पात्रों का चरित्र चित्रण जानते हैं; और
- प्रबोधचंद्रोदय मे प्रयुक्त नाट्ययुक्तियों को जानते हैं।

13.1 श्रीकृष्ण मिश्र का सामान्य परिचय

प्रबोध चंद्रोदय की प्रस्तावना में 'गोपाल' के लिए जो संकेत मिलता है उसी से श्री कृष्ण मिश्र का समय काल निर्धारित किया जाता है। गोपाल श्री कृष्ण मिश्र को प्राकृत नाटक की रचना के लिए सदैव उत्साहित किया करते थे और उसके द्वारा अपने मित्र राजा कीर्ति वर्मा की राजा कर्ण पर विजय की स्मृति को अमिट करना चाहता थें। कर्ण का उल्लेख 1042 के एक शिलालेख में मिलता है। दूसरा शिलालेख 1092 में मिलता है जिसमें चंदेल के राजा कर्ण का उल्लेख मिलता है। इन सभी तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि श्री कृष्ण मिश्र का समय काल ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है

श्री कृष्ण का निवास स्थान मगध था क्योंकि उन्होंने अपनी रचनाओं में द्वारका और मथुरा को छोड़कर मंदार नाम के तीर्थ का उल्लेख किया है। यह मंदार बिहार में स्थित है। प्रबोध चंद्रोदय श्री कृष्ण मिश्र की एकमात्र रचना है। अपने नाम से ही यह नाटक में वर्णित कथावस्तु की ओर संकेत करता है।

13.2 प्रबोधचंद्रोदय

वास्तव में प्रबोध चंद्रोदय एक गंभीर और दार्शनिक रूप से प्रतीक नाटक है। 6 अंकों में मानव जीवन का चित्रण किया गया है। नाटक में श्रीकृष्ण मिश्र ने मनुष्य के हृदय की दो प्रवृत्तियों का चित्र प्रस्तुत किया है। एक वृत्ति आत्मज्ञान की ओर प्रवृत्त है और दूसरी वृत्ति उससे विमुख होती दिखाई देती है। मन के दो पुत्रों के विरोध की कल्पना है और यह दोनों सौतेले भाई हैं जो मन की प्रवृत्ति और निवृत्ति से उत्पन्न हुए हैं। इनका नाम मोह और विवेक है। मोह के पक्ष में काम, रति, लोभ, हिंसा और अहंकार हैं। इसका एक पोता भी है जिसका नाम संभव है जो मोह के पुत्र लोभ और उसकी पुत्रवधू तृष्णा से उत्पन्न हुआ है। मिथ्या दृष्टि को एक कुल्टा के रूप में दिखाया गया है। भौतिक सुख साधनों में प्रवृत्त वृत्ति का प्रतिनिधित्व चार्वाक करता है। वहीं दूसरी और दूसरे पक्ष का प्रमुख विवेक है जिसके साथ मति, करुणा, शांति, श्रद्धा, क्षमा, संतोष और वस्तु विचार है। विवेक स्वयं को कुछ देर के लिए पराजित महसूस करता है उसकी सेना छिन्न-भिन्न हो जाती है लेकिन आखिर में विवेक की ही जीत होती है। इस विजय में विष्णु भक्ति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यह नाटक का मुख्य कथानक है।

इसके साथ ही साथ श्रद्धा और शांति की कथा भी जोड़ी गई है। शांति जो अपनी माँ को खो चुकी है जिसका नाम श्रद्धा है। श्रद्धा पर दुष्ट प्रवृत्तियों का आक्रमण होता है लेकिन वह विष्णु

भक्ति के द्वारा सुरक्षा प्राप्त करती है। श्रीकृष्ण मिश्र ने अपने इस कथानक में बहुत ही कुशलता के साथ मानव प्रवृत्तियों को चरित्र रूप में प्रस्तुत किया है।

कथानक में वे कुशलता के साथ उस दौर में प्रचलित प्रमुख जैन धर्म, बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म में श्रद्धा का अभाव दिखलाते हैं। नाटक में एक लंबे संघर्ष के बाद सत्य पक्ष की जीत होती है जिसे संग्राम विजय के रूप में दिखाया गया है। राजा मन अपने पुत्र को और पत्नी प्रवृत्ति के वियोग में बहुत दुखी होते हैं लेकिन सच्चे सिद्धांतों और वेद ज्ञान के द्वारा उनमें धीरज बँधता है और वह निवृत्ति को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। आखिर में विवेक का मिलन उपनिषद से होता है और इसी उपनिषद से प्रबोध होते हैं और विद्या से सभी का संसार निवृत्त हो जाता है।

13.3 प्रबोधचंद्रोदय के प्रमुख पात्र

नाटक के आरंभ में हमें सूत्रधार और नटी दिखाई देते हैं। सूत्रधार नाटक का आचार्य है और नटी उसकी पत्नी है। मुख्य कथा में विवेक प्रधान नायक है और मति उसकी पत्नी है। वस्तु विचार विवेक का मित्र है। संतोष उसका सहचर है। पुरुष उपनिषद् का पति और प्रबोधोदय पुरुष का पुत्र है। नाटक में महिला पात्र के रूप में श्रद्धा को दिखलाया गया है। इसके तीन रूप हैं-सात्विकी, राजसी और तामसी। शांति विवेक की बहन है। करुणा श्रद्धा की सखी है। विष्णु भक्ति उपनिषद् की सखी है और सरस्वती विष्णु भक्ति की सखी। उपनिषद् वेदांतशास्त्र है। क्षमा को विवेक की सखी के रूप में दिखाया गया है। वैराग्य, निदिध्यासन, संकल्प मन के तीन पुत्र हैं। परिपार्श्विक पुरुष सारथि प्रतिहारी अन्य पात्र हैं।

पात्रों के नाम से यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण मिश्र ने इस नाटक में वेदांत दर्शन को उद्देश्य बनाया है। मनुष्य के वेदांत ज्ञान में सहायक और बाधक दोनों ही प्रवृत्तियों को श्रीकृष्ण मिश्र ने चरित्र रूप में दिखलाया है। दोनों ही प्रवृत्तियों के संघर्ष को पात्र संघर्ष के रूप में चित्रित कर उन्होंने दर्शकों को इनसे अवगत कराया गया है।

महामोह कथा का प्रतिनायक है। काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, अहंकार को मोह के मंत्री के रूप में मिश्र जी ने दिखलाया है। चार्वाक मोह का मित्र है। कापालिक सोम सिद्धांत का प्रवर्तक है और महंत दुराचारी मठ पति है। मिथ्यादृष्टि को मोह की पत्नि और विभ्रमावति को उसकी सखी के रूप में चित्रित किया गया है। रति काम की पत्नी, हिंसा क्रोध की पत्नी और तृष्णा लोभ की पत्नी हैं। बटु, शिष्य, पुरुष और दौवारिक अन्य पात्र हैं।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि मानव मन के विविध भावों को चरित्र रूप में दिखलाकर नाटककार श्रीकृष्ण मिश्र ने उनके मध्य चलने वाले संघर्ष को बहुत ही रोचकता के साथ प्रयोग किया है। समस्त पात्र भाव के अनुरूप ही हैं। उनके संवादों में भावों की मौलिक प्रकृति सहज ही देखी जा सकती है। नाटक के सभी पात्र इन्हीं मनोभावों के ही प्रतीक हैं।

विचार उसे कहते हैं जो वस्तु की तथ्य परक सोच रखता है। मति उस बुद्धि को कहा गया है जो विवेक की अनुगामिनी होती है। इस तरह के मानसिक भाव ही इस नाटक में पात्र बनाए गए हैं। नाटक के अध्ययन व दर्शन के लिए भी यह जरूरी है कि पाठक अथवा दर्शक को इस दार्शनिकता का ज्ञान हो अन्यथा यह नाटक अपने उद्देश्य में पूर्ण नहीं हो पाएगा। उन्हें यह ज्ञात होना चाहिए कि वे केवल नाटक नहीं देख रहे हैं। इस नाटक का आनंद उन्हें तभी मिल सकेगा जब वे इसके अभिप्राय को समझ सकेंगे।

पाठगत प्रश्न 13.1

1. राजा कर्ण का उल्लेख कितने शिलालेखों में मिलता हैं?

   ....

2. श्रीकृष्ण मिश्र का समयकाल क्या है?

   ....

3. प्रबोधचंद्रोदय प्रतीक नाटक क्यों है?

   ....

4. प्रबोधचंद्रोदय में विवेक कौन है?

   ....

5. प्रबोधचंद्रोदय में रति किसकी पत्नी है?

   ....

6. प्रबोधचंद्रोदय में मुख्य कथा के साथ कौन-सी कथा चलती है?

   ....

7. करुणा किसकी सखी है?

   ....

8. सोम सिद्धांत का प्रवर्तक कौन है?

   ....

9. भौतिक सुख साधनों में प्रवृत्त वृत्ति का प्रतिनिधित्व कौन करता है?

....

10. विष्णुभक्ति कौन है?

....

13.4 प्रबोधचंद्रोदय नाटक की कथावस्तु

प्रबोधचंद्रोदय नाटक में कुल छः अंकों में कथानक को वर्णित किया गया है। नाटक के लिए श्रीकृष्ण ने दार्शनिक विचारों को आधार बनाया है। नाटक की कथा वस्तु कुछ इस प्रकार है-

प्रथम अंक

प्रवृत्ति और निवृत्ति मन की दो स्त्रियाँ है। उनसे उत्पन्न मोह और विवेक एक-दूसरे के विरोधी हो जाते हैं। विवेक के साथ शांति, श्रद्धा, और मोह के साथ काम, लोभ, तृष्णा, क्रोध और हिंसा आदि हैं। अंक के आरंभ में काम और रति का प्रवेश होता है। रति काम से कहती है कि मोह के लिए विरोधी विवेक एक समस्या है। काम उसे यकीन दिलाता है कि तुम स्त्री हो इसीलिए इससे डर रही हो नहीं तो विवेक का कोई अस्तित्व नहीं है। तुम जो विवेक के मंत्री यम और नियम की बात कर रही हो, उनके लिए तो केवल हमारा चित्तविकार ही काफी है। मद, मात्सर्य के सामने तो यह यम नियम ठहर ही नहीं सकते हैं। रति काम से यह भी पूछती है कि मैंने सुना है आप और विवेक एक ही कुल से हैं। काम कहता है कि बस वंश एक है। यह क्यों पूछती हो? बस हम दोनों के पिता एक हैं। हमारे पिता मन ने इस संसार को अपने बल पर अर्जित किया है। हम दोनों ही अपने पिता को प्रिय थें। और हमने उन पर अपना अधिकार कर लिया। यह विवेक हम लोगों को और पिताजी को अपने रास्ते से हटाना चाहता है। रति पूछती है कि क्या यह पाप केवल ईर्ष्या और द्वेष से किया जा रहा है। इस पर काम कहता है कि तुम भयभीत हो जाओगी। हमारे कुल में विद्या नाम की एक राक्षसी जन्म लेने वाली है। इस बात से रति डर कर काम से लिपट जाती है। काम उसे यकीन दिलाता है कि हमारे रहते विद्या की उत्पत्ति नहीं होगी। तुम बस धैर्य धरो। रति पूछती है कि क्या विवेक इस विद्या का जन्म चाहते हैं? यह विद्या तो उनका भी नाश कर देगी। उत्तर में काम कहता है कि हाँ। वहीं दूसरी ओर मति और विवेक आपस में बात कर रहे होते हैं। विवेक मति से कहता है कि यह अभागा काम हम लोगों को ही पापी बतला रहा है। मति पूछती है कि पुरुष तो स्वाभाविक रूप से आनंद में है तो फिर इन लोगों ने उसे कैसे बंध न में डाला। विवेक कहता है कि होशियार आदमी भी स्त्रियों के द्वारा बंधन में पड़ जाता है। यह भी माया के द्वारा ही बंधन में डाले गए हैं। मति उसके उद्धार का कारण पूछती है और विवेक कहता है कि उपनिषद के साथ हमारा संबंध अगर हो तभी प्रबोध की उत्पत्ति होगी और यह बंधन छूट सकता है।

टिप्पणी

दूसरा अंक

दूसरे अंक में मोहराज दंभ को बुलाता है और कहता है विवेक ने प्रबोधक उदय की प्रतिज्ञा की है और तीर्थों की ओर शम दम को भेजा है। यहाँ हमारे वंश के पतन का समय आ गया है। इसलिए सभी को सावधान करो कि वह इसका विरोध करें। पृथ्वी में सभी की मुक्ति का स्थान काशी है और वहाँ जाकर चारों आश्रम में विघ्न पैदा करो। मैंने यहाँ अपना प्रभाव जमाया है। धूर्त लोग शराब पीकर गणिकाओं के पास समय बिताते हैं और सुबह-सुबह इस तरह का स्वांग रचते हैं कि लोग उन्हें तपस्वी समझें। तभी दक्षिण से अहंकार आता है और कहता है कि यहाँ रहने वाले सब मूर्ख हैं फिर भी उन्हें पांडित्य का गौरव है। साधु लोग अपना सिर मुड़ाकर वेदांत का दावा करते हैं। इस तरह कहता हुआ अहंकार दम्भ के आश्रम में पहुँचता है। वहाँ सजावट देखकर कुछ समय के लिए उसी स्थान को अपना विश्राम स्थल बनाता है। उसे आते देखकर दम्भ का शिष्य उससे कहता है कि अलग ही रहिए। बिना पैर धोए वहाँ नहीं जाना होता। ऐसा कर अहंकार वहाँ जाने को तैयार होता है लेकिन दंभ अपनी चेष्टा से बटु को उसे रोकने के लिए कहता है। अहंकार को बड़ा आश्चर्य होता है। अहंकार अपने विषय में बताता है। तब दम्भ उसे पहचानते हुए कहता है, अरे! यह तो मेरे दादाजी हैं। पहचानने के बाद दम्भ अहंकार के पैरों में प्रणाम करता है। अहंकार दम्भ से कहता है मैंने द्वापर युग के अंत में तुम्हें बालक के रूप में देखा था। तुम अब बड़े हो गए हो और बड़े होने के कारण मैं तुमको पहचान नहीं सका। तुम्हारे परिवार में सब कुशल हैं? दम्भ अहंकार से कहता है कि हाँ और वह लोग भी यहीं हैं। अहंकार दम्भ से मोह के बारे में पूछता है और विवेक के संबंध में चर्चा करता है। तभी मोह का आगमन होता है। उसके साथ चार्वाक मत भी आता है और अपने मत का प्रचार करता है। चार्वाक सिद्धांत को सुनकर वह बड़ा प्रसन्न होता है। चार्वाक और दम्भ के बीच बातचीत होती है। चार्वाक कहता है कि विष्णुभक्ति नाम की एक योगिनी है। कल इन्होंने उसका प्रचार रोक दिया है। फिर भी उसका बहुत बड़ा प्रभाव है। वह जहाँ रहती है उस वंश की ओर देखना भी बड़ा कठिन हो जाता है। तभी मध्यमान का संदेश लेकर एक पुरुष आता है। उसके पत्र को पढ़कर पता चलता है कि शांति अपनी माता श्रद्धा के साथ विवेक को उपनिषद से मिलाने के लिए दिन-रात उपनिषद को समझा रही है। मोह कहता है कि जब काम उसके विपक्ष में है तो फिर उसकी क्या हैसियत है। मध्यमान से हमारा आदेश कहना कि धर्म को बाँधकर रखें। तभी क्रोध और लोभ अपना गुण प्रकट करते हुए मंच पर प्रवेश करते हैं। मोह शांति को अपने वश में करने के लिए उपाय सोचता है।

तृतीय अंक

मिथ्यादृष्टि श्रद्धा का ग्रहण कर लेती है और शांति श्रद्धा की खोज में वन, पर्वत, नदी तक ढूंढती फिरती है। करुणा नाम की सखी के कहने पर शांति श्रद्धा को पाखण्डालयों में खोजने चलती है। वहाँ दिगंबर जैन साधुओं को वह देखती है जो अपने मत को श्रेष्ठ बताते घूमते

रहते हैं। वहाँ उसे श्रद्धा मिलती है। लेकिन वह तामसी श्रद्धा होती है। खोज के इसी सिलसिले में शांति बौद्ध भिक्षुओं के पास भी जाती है। वहाँ बौद्ध भिक्षु भी अपने मत को श्रेष्ठ बनाता हुआ घूम रहा होता है। वहाँ भी शांति को तामसी श्रद्धा के दर्शन होते हैं। जैन और बौद्ध मत में श्रेष्ठता को लेकर शास्त्रार्थ होता है। शांति आगे बढ़कर सोमसिद्धांत को देखती है जिससे जैन साधु उसका सिद्धांत दर्शन पूछते हैं। सोम सिद्धांत ने नारी और मदिरा के लालच में भिक्षुओं को अपनी और आकर्षित कर लिया है। कापालिक वेश धारण किए हुए राजसी श्रद्धा उन दोनों को अपने आलिंगन में लेकर मदिरा का सेवन कराती है। नाम के समान होने से शांति को यह संदेह होता है कि यह मेरी माता श्रद्धा नहीं है। तभी करुणा बताती है कि तुम्हारी माता श्रद्धा विष्णुभक्ति के पास है यह तो कोई दूसरी राजसी श्रद्धा है।

चतुर्थ अंक

श्रद्धा और मैत्री आपस मे बातें कर रही हैं। मैत्री श्रद्धा से कहती है कि मैंने मुदिता से सुना है कि तुम्हें विष्णुभक्ति देवी ने महाभैरवी के चंगुल से छुड़ाया है। यही जानकर मैं तुमसे मिलने के लिए आई हूँ। श्रद्धा महाभारती वाली घटना उसे बताती है। मैत्री भी अपनी कथा श्रद्धा से कहती है कि हम चारों बहनें महात्माओं के हृदय में रहती हैं। वह यह भी बतलाती है कि देव विवेक ने वस्तुविचार को बुलावा भेजा है। विवेक वस्तु विचार से कहता है कि मोह के साथ हम लोगों का युद्ध आरंभ हो गया है। मोह की ओर से काम मुख्य योद्धा है और हमने आपको उससे लड़ने के लिए चुना है। वस्तु विचार कहता है कि मेरे लिए यह कोई कठिन कार्य नहीं है। काम को जीतना कौन सी बड़ी बात है। क्षमा कहती है कि मैं क्रोध पर विजय अवश्य पा लूंगी और क्रोध को जीतने के बाद हिंसा, मदमान स्वयं अपनी हार मान लेंगे। लाभ को जीतने के लिए संतोष को बुलाया जाता है। संतोष कहता है कि हमें बनारस पर चढ़ाई की तैयारी करना चाहिए। राजा विवेक भी अपनी सेना को भेजने का आदेश दे देता है।

पंचम अंक

पांचवें अंक में विवेक की सेना मोह पर प्रहार कर देती है और विवेक की सेना से जब मोह का संहार हो जाता है तब श्रद्धा इस निष्कर्ष पर आती है कि अपनों का विरोध हमेशा कुल का संहार करने वाला होता है। विष्णु भक्ति और शांति श्रद्धा से मिलते हैं और पूछते हैं कि युद्ध का क्या समाचार है। श्रद्धा कहती है कि देवी के विरोध से जो होना चाहिए वही हुआ। दोनों ओर की सेना आमने सामने खड़ी हुई। विवेक ने मोह के पास दूत के रूप में न्यायदर्शन को भेजा है। दूत ने जाकर मोह से कहा कि वह देवस्थान को छोड़कर पीछे हट जाए नहीं तो उस का समूल नाश हो जाएगा। यह सुनकर मोह को बहुत क्रोध आया और उसी समय हमारी सेना के आगे सरस्वती प्रकट हुई। बहुत ही भयानक युद्ध हुआ और मोह पक्ष के सभी लोग हताहत हुए। मोह कहीं छुप गया। जब यह सारा समाचार मन ने सुना तो अपने पुत्रों की मृत्यु से उसे बहुत कष्ट हुआ। प्रवृत्ति के मरने के समाचार ने तो उसे तोड़ ही दिया। तभी उसके पास सरस्वती पहुँचीं और उन्होंने मन को संसार के इस वास्तविक रूप का परिचय

कराया। वह वैराग्य की ओर झुकें और निवृत्ति को मन की पत्नी के पद पर नियुक्त किया गया। इस प्रकार अंततः मन को शांति प्राप्त हुई।

छठा अंक

अब शांति और श्रद्धा निश्चित होकर आराम से रहने लगीं। तभी एक दिन शांति ने राजकुल का समाचार श्रद्धा से पूछा। श्रद्धा ने उसे समझाया कि पुरुष ने संबंध का त्याग करके वैराग्य को अपना लिया है। श्रद्धा से उसे यह भी पता चला कि इस स्थिति में भी मोह ने अपनी दुष्टता को नहीं छोड़ा है। वह पुरुष को खुशी दिलाने के लिए मधुमति को नियुक्त करता है। और मधुमति पुरुष को कल्पना दिखलाती है, माया हामी भर देता है, मन उसका अनुमोदन कर देता है और संकल्प उसे प्रोत्साहित करता है। पुरुष भी सहमत हो जाता है लेकिन तभी पार्ष्ववर्ती तत्व समय पर इस मायाजाल का पर्दाफाश करके पुरुष को सचेत कर देते हैं। पुरुष विवेक को देखने की इच्छा प्रकट करता है और उपनिषद को भी बुलावा भेजता है लेकिन उपनिषद विवेक से मिलने में आनाकानी करती रहती है क्योंकि विवेक ने मुश्किल समय में उसका साथ छोड़ दिया था। जिससे उपनिषद को बहुत कष्ट सहने पड़े थे। शांति उपनिषद को समझाती है। तब कहीं जाकर उपनिषद विवेक से मिलती है। पुरुष से उपनिषद अपनी आपबीती सुनाती है। पुरुष उपनिषद से पूछता है कि इतने दिन तुमने कैसे बिताये? उपनिषद कहती है कि मैं मठ और पुराने देवालय जैसी जगहों में रही हूँ। वहां मैंने रहने वालों को अर्थ का अनर्थ करते देखा है। और इस तरह उपनिषद अपनी आपबीती सुनाती है। इसी समय निदिध्यासन प्रकट होती है और उपनिषद से कहती है कि तुम्हारे गर्भ से विद्या और प्रबोध नाम की दो संताने उत्पन्न होंगी। विद्या को संघर्ष विद्या द्वारा मन में संक्रांत कराने और प्रबोध चंद्र को पुरुष के हाथों में सौंप कर तुम विवेक के साथ विष्णुभिक्त के पास चली जाओ। अंत मे यही होता है। प्रबोध उदय होने से पुरुष का अंधकार दूर हो जाता है और पुरुष को विष्णुभक्ति के आनंद से मुक्ति मिलती है।

पाठगत प्रश्न 13.2

1. प्रबोधचंद्रोदय में कितने अंक हैं?

....

2. विवेक के पक्ष में कौन-कौन हैं?

....

3. दम्भ किस अंक में प्रवेश करता है?

....

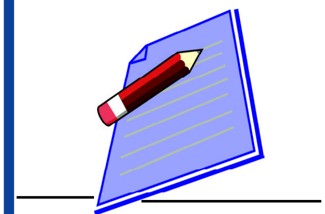

4. श्रद्धा किस अंक में प्रवेश करती है ?

....

5. मन को शांति कब मिलती है?

....

6. नाटक की कथानक किस प्रवृत्ति का है ?

....

13.5 प्रबोधचंद्रोदय की नाट्यशैली और सैद्धान्तिक अनुप्रयोग

संस्कृत नाटकों की श्रृंखला में अध्यात्म के विषय को लेकर नाटक की रचना करना एक महत्वपूर्ण कार्य और चर्चा का विषय रहा है। कृष्ण मिश्र के नाटक प्रबोधचंद्रोदय की चर्चा 11वीं शताब्दी के बाद भी विद्वानों में होती रही है। संभवतः यह नाटक पहला प्रतीक नाटक है जिसमें प्रवृत्तियों को चरित्र रूप में दिखला कर उनके संघर्ष को रंगमंच पर रूपायित करने का प्रयास किया गया है। भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा भी इसी शैली में भारत दुर्दशा नाटक की याद सहज ही हो आती है जिसमें वह भारत की दुर्दशा के प्रमुख कारक तत्वों को चरित्र रूप में प्रस्तुत करते हैं।

प्रबोध चंद्रोदय को विद्वानों ने छाया नाटक, प्रतीक नाटक और भाव नाटक की संज्ञा दी है। वास्तव में नाटक में अमूर्त भावों का मानवीकरण कर जब उन्हें प्रस्तुत किया जाता है तो ऐसे नाटकों को इन संज्ञा से जाना जाता है। संस्कृत नाट्य में श्री कृष्ण मिश्र से पूर्व इस प्रकार के नाटकों को लिखने की परंपरा दिखाई नहीं देती है। यद्यपि कुछ प्रतीक नाटक अवश्य लिखे गए होंगे किंतु विद्वानों ने इस श्रेणी के नाटकों में श्रीकृष्ण मिश्र की इस रचना को सर्वप्रथम रचना मानी गई है। अमूर्त भावों को विशुद्ध रूप से मानवीकृत करके प्रतीक नाटक लिखने का श्रेय उन्हीं को जाता है।

किसी एक दार्शनिक सिद्धांत को नाटक में व्यक्त करना बड़ा ही कठिन कार्य है। श्रीमद्‌भागवत में पुरंजन की दार्शनिक प्रतीक कथाओं ने इस ओर संकेत किया है। इस तरह के नाटकों में जब अमूर्त भाव का मानवीकरण कर दिया जाता है तो वे व्यक्ति के रूप में इस प्रकार प्रत्यक्ष होते हैं कि उनका उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है और उनमें कम ही व्यक्तित्व रहता है। उस चरित्र का जीवन ही भाव बन जाता हैं। बहुत अधिकतर किसी जीवित व्यक्ति की अपेक्षा वे एक सिद्धांत ही होते है। श्री कृष्ण मिश्र ने इस चुनौती को बखूबी स्वीकार किया है

वास्तव में प्रबोधचंद्रोदय शांत रस प्रधान नाट्य है। यदि हम नाट्यशास्त्र में वर्णित रसों को देखें तो हमें केवल आठ रस ही प्राप्त होते हैं। शांत रस को नाट्य में आचार्य भरत ने प्रयुक्त नहीं किया है। किंतु 11वीं शताब्दी में नौवें रस के रूप में शांत रस की स्थापना होती है और श्रीकृष्ण मिश्र इस रस को लक्ष्य बनाकर प्रबोधचंद्रोदय लिखते हैं। रंगमंच पर श्रद्धा, ज्ञान, भक्ति, विवेक, बुद्धि, क्रोध, अहंकार जैसे अमूर्त भावों को चरित्र रूप में देखना अपने आप में रोचकता से भरा हुआ है। कथानक में किसी पौराणिक और ऐतिहासिक घटनाओं के बजाय वेदांत के अद्वैतवाद को कहानी के रूप में दिखाने की कल्पना केवल कृष्ण मिश्र ही कर सकते हैं।

कृष्ण मिश्र की नाट्य रचना ने कालांतर में कई रूपकों को जन्म दिया। कई नाटककारों ने इसका अनुप्रयोग करते हुए अपने रूपकों की रचना की है। जैसे यशपाल ने 13वीं शताब्दी में 'मोहपराजय' नाम का रूपक लिखा तो वेंकटनाथ ने 14वीं शताब्दी में 'संकल्प सूर्योदय' नाम पर रूपक लिखा। यह परंपरा रुकी नहीं। 16वीं शताब्दी में गोकुलनाथ ने 'अमृत उदय' नाम का रूपक लिखा। श्रीनिवास दीक्षित ने 'भावनापुरुषोत्तम' और कर्णपूर ने 'चौतन्य चंद्रोदय' नाम के रूपक की रचना की। 17 वीं शताब्दी के अंत और 18वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में वेदकवि ने 'विद्यापरिणय' तथा वरदाचार्य ने 'यतिराजविजय' नाम के प्रतीकात्मक रूप लिखें। श्री कृष्ण मिश्र के प्रबोध चंद्रोदय को जानने का तात्पर्य है कि संस्कृत नाटकों की परंपरा में एक ऐसी नाट्य शैली को जानना जिसने पारंपरिक कथानक प्रयोग को छोड़कर एक नवीन रचनात्मक कथानक को ग्रहण किया।

पाठगत प्रश्न 13.3

1. प्रबोधचंद्रोदय का मुख्य रस कौन-सा है?

   ....

2. अमृत उदय प्रतीकात्मक नाटक कब लिखा गया?

   ....

3. मोहपराजय रूपक के लेखक कौन हैं?

   ....

4. संकल्प सूर्योदय रूपक कब लिखा गया ?

   ....

5. 'यतिराजविजय' नाटक किसने लिखा है?

....

आपने क्या सीखा

- प्रबोधचंद्रोदय के लेखक श्री कृष्ण मिश्र हैं।
- श्रीकृष्ण मिश्र का समय काल एक 11वीं शताब्दी है।
- श्रीकृष्ण मिश्र ने वेदांत के अद्वैतवाद के सिद्धांत को अपने नाटक के कथानक का मुख्य आधार बनाया है।
- संस्कृत नाटक की परंपरा में पहली बार श्रीकृष्ण मिश्र ने एक दार्शनिक विचार को चरित्र रूप में रूपायित कर नाटक की रचना की।
- प्रबोधचंद्रोदय शांत रस प्रधान नाटक है।
- प्रबोधचंद्रोदय 6 अंकों का नाटक है।
- प्रबोधचंद्रोदय का नायक विवेक है और प्रति नायक मोह है।
- प्रबोध चंद्रोदय में विवेक और मोह के मध्य चलने वाले संघर्ष की कहानी है। इसमें विवेक के साथ मति, वस्तुविचार, संतोष, श्रद्धा, शांति, विष्णुभक्ति, उपनिषद तथा मोह के साथी हैं-लोभ, दम्भ, क्रोध, काम, चार्वाक, अहंकार, मिथ्यादृष्टि इत्यादि।
- प्रबोधचंद्रोदय की शैली में परवर्ती संस्कृत नाटककारों ने अपने रूपकों की रचना की है जिसमें उन्होंने पात्र के रूप में मानवीय वृत्ति तथा अदृष्य मनोविकारों को चरित्र बनाया है।

पाठान्त प्रश्न

1. संस्कृत नाट्यलेखन की श्रृंखला में प्रबोधचंद्रोदय का क्या महत्व है?
2. प्रबोधचंद्रोदय नाटक की मूलकथा के विषय में बतलाइए?
3. प्रबोधचंद्रोदय के नामकरण के विषय में बतलाइए?
4. प्रबोधचंद्रोदय के अनुप्रयोग के बारे में बतलाइये?

टिप्पणी

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

13.1

1. कर्ण का उल्लेख 1042 के एक शिलालेख में मिलता है। दूसरा शिलालेख 1092 में मिलता है जिसमें चंदेल के राजा कर्ण का उल्लेख मिलता है।
2. लगभग 11वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध
3. क्योंकि नाटक के चरित्र मनोभावों के प्रतीक हैं।
4. नायक
5. काम
6. श्रद्धा और शांति की कथा
7. श्रद्धा
8. कापालिक
9. चार्वाक
10. उपनिषद की सखी

13.2

1. छः अंक
2. विवेक के साथ शांति, श्रद्धा, और मोह के साथ काम, लोभ, तृष्णा, क्रोध और हिंसा आदि हैं।
3. द्वितीय अंक
4. चौथे अंक में
5. दार्शनिक

13.3

1. शांत रस
2. सोलहवीं शताब्दी में
3. यशपाल (13वीं शतादी)
4. 14वीं शतादी
5. यतिराजविजय

मॉड्यूल-5

रंगमंचः तकनीक और अभिकल्पना

इस मॉड्यूल में रंगमंच तकनीक तथा अभिकल्पना से शिक्षार्थियों का परिचय करवाया गया है।

14. रंगमंच : परिचय तथा प्रकार

15. रंगसंगीत

16. नवरस साधना

17. मुद्राभिनय एवं मुखाभिनय

14

रंगमंच : परिचय तथा प्रकार

रंगमंच क्या है? रंगमंच कला क्या है? इसके कितने प्रकार हैं? ऐसे कई सवाल हमारे मस्तिष्क में उभरते हैं। जब कोई रंगमंच के बारे में बात करता है, तो अक्सर हम उसे अभिनय के प्रदर्शन से जोड़कर देखते हैं। यह सही भी है, क्योंकि रंगमंच के केन्द्र में अभिनय ही है। आप जानते ही होंगे कि रंगमंच के साथ ही कुछ और भी संज्ञाओं को इसी संदर्भ में इस्तेमाल किया जाता है जैसे-नाटक, नाट्य, थियेटर, प्ले, ड्रामा, रूपक इत्यादि। लेकिन क्या आप जानते हैं कि इन शब्दों में कुछ मूलभूत अंतर है? इसे जानने के लिए हमें रंगमंच के बारे में जानना-समझना बहुत ही जरूरी है।

प्राय: हम फिल्मों से प्रभावित होकर अभिनय करने की राह चुनते हैं और इसकी शुरुआत रंगमंच के साथ करते हैं। ऐसे कई जाने-माने अभिनेता भी हैं जिन्होंने लंबे समय तक रंगमंच पर अभिनय किया है और उसके बाद फिल्मों में कदम रखा है। ऊपरी तौर पर भले ही फिल्म और रंगमंच पर अभिनय एक सा लगे पर दोनो में ही कुछ तकनीकी अंतर है। इसे समझने के लिए हमें फिल्म और रंगमंच दोनो की ही प्रक्रिया को समझना आवश्यक होता है। इस पाठ में हम रंगमंच को जानने व समझने का प्रयत्न करेंगे। हम यहाँ रंगमंच के उद्‌भव व विकास के बारे में जानेंगे। इसके साथ ही हम यह भी चर्चा करेंगे कि रंगमंच का आदिकालीन स्वरूप क्या था? किस प्रकार भारत में नाट्यशास्त्र जैसे ग्रंथ की रचना की गई। इस बात पर भी बल दिया जाएगा कि आधुनिक रंगमंच कैसे आरंभ हुआ और उसकी क्या विशेषता है।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप-

- रंगमंच का सामान्य परिचय जानते हैं;

- रंगमंच के उद्भव और विकास को जानते हैं;
- नाट्यमंडप को जानते हैं;
- आदिकालीन रंगमंच के स्वरूप को जानते हैं;
- नाट्यशास्त्र में उल्लेखित रंगमंच को जानते हैं;
- रंगमंच के प्रकारों को जानते हैं; और
- समकालीन भारतीय रंगमंच को जानते हैं।

14.1 रंगमंच का सामान्य परिचय

सबसे पहले हम बात करते हैं, कि रंगमंच शब्द का क्या अर्थ है? प्रथम दृष्ट्या आज हम 'रंगमंच' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी भाषा के शब्द Theatre के पर्याय के रूप में भी करते हैं जिसका अर्थ है- सीनरी स्पेस यानि दृश्य स्थल। Theatre शब्द का प्रयोग वास्तुकला के संदर्भ में उन स्थानों के लिए भी प्रयोग किया जाता है जहाँ एक ओर नाट्य प्रस्तुतियाँ की जाती हैं और दूसरी ओर दर्शकों के बैठने की व्यवस्था होती है। इस प्रकार रंगमंच को हम नाटक के लिए बनाए गए प्रेक्षागृह के संबंध में प्रयोग करते हैं।

दूसरी बात यह है कि प्राय: नाटकों के प्रदर्शन के लिए भी हम रंगमंच शब्द का प्रयोग करते हैं। 'रंगमंच' मुख्यत: दो शब्दों से मिलकर बना है- रंग और मंच। यहाँ रंग, मंच की विशेषता बतलाने के संदर्भ में प्रयोग किया गया है। मंच का सामान्य अर्थ है- एक ऊँचा स्थान जहाँ पर खड़े होकर कोई अभिनेता नाटक की प्रस्तुति करता है। लेकिन जब मंच के साथ रंग विशेषण जुड़ जाता है तो यह एक विशेष अर्थ ग्रहण कर लेता है। रंग का सामान्य अर्थ है, वर्ण (Colour)। इस तरह रंगमंच का अर्थ है- वह मंच जहाँ नाट्य प्रस्तुति की जाय। अभिनेता जब स्वयं को बाहर और भीतर से जीवन के विभिन्न रंगों (भावों) से रंगकर मंच पर उपस्थित होता है तो उस प्रदर्शन के साथ मंच रंगमंच बन जाता है। इसलिए भारतीय विद्वानों ने नाट्य प्रदर्शन के स्थान को रंगमंच कहा है। हमारे भारतीय रंग-चिंतन परंपरा में रंगमंच शब्द केवल प्रेक्षागृह के लिए नहीं बल्कि उसके साथ-साथ एक प्रदर्शनकारी कला के अर्थों को भी अपने आप में समाए हुए है।

आज वर्तमान युग में हम रंगमंच से जुड़े कई और शब्दों का भी प्रचलन देखते हैं जैसे-रंगकर्मी, रंग कलाकार, नाटक, नाट्य, ड्रामा, प्ले आदि। रंगमंच पर काम करने वाला प्रत्येक कलाकार रंगकर्मी कहलाता है चाहे वह अभिनेता हो, निर्देशक हो या फिर बैक स्टेज में काम करने वाला। नाटक वह है जिसे एक नाटककार प्रस्तुति के लिए स्क्रिप्ट के रूप में तैयार करता है। अंग्रेजी में इसके लिए ड्रामा शब्द का प्रयोग किया जाता है। जब वह स्क्रिप्ट प्रदर्शित होती है

तो उसे नाट्य कहा जाता है। अंग्रेजी में उसे प्ले कहते हैं। इस प्रकार वर्तमान में जब हम 'रंगमंच' कहते हैं तो उसका मतलब उस कला से है जिसमें नाटक को दर्शकों के समक्ष प्रदर्शित किया जाता है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि रंगमंच का आशय दो बातों से है-

1. रंगमंच: प्रेक्षागृह

2. रंगमंच: प्रदर्शनकारी कला

आइये अब इस पर थोड़ा विस्तार से चर्चा करते हैं।

रंगमंच: प्रेक्षागृह

भारत के प्राचीन साहित्य में 'रंग' शब्द का प्रयोग कई जगहों पर मिलता है। आचार्य भरत नें 'नाट्यशास्त्र' में 'रंग' शब्द का कई बार प्रयोग किया है। 'रंग' शब्द के प्रयोग से ही रंगशीर्ष, रंगपीठ, रंगभूमि जैसी संज्ञाएँ संस्कृत में आई हैं। इस संदर्भ में 'रंग' का अर्थ आमोदस्थली, सभाभवन, नृत्यगान और अभिनय दिया गया है। यह जरूर है कि आचार्य भरत के नाट्य शास्त्र में रंगमंच शब्द नहीं मिलता और ना ही बाद के नाट्य विषय में लिखे गए ग्रंथों में।

वास्तव में ब्रिटिश शासन के दौरान अंग्रेजों द्वारा अपने मनोरंजन के लिए कई ऑडिटोरियम बनाए गए थें जिनमें ऑपेरा की प्रस्तुतियाँ हुआ करती थीं। इन ऑडिटोरियम को थियेटर कहा जाता था। बाद में इन प्रेक्षागृहों में रहकर नाट्य मंडली निरंतर प्रस्तुति करने लगी। पारसी थियेटर ने भी आरंभ में प्रेक्षागृह में अपनी प्रस्तुतियाँ कीं किंतु बाद में उन्होंने देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में अपनी प्रस्तुति करनी शुरू कीं। एक स्थायी ऑडिटोरियम के बजाय उन्होंने अस्थायी रंगमंच बनाए। इस तरह धीरे-धीरे ऑडिटोरियम के लिए इस्तेमाल किया जाने वाला Theatre हिंदी में 'रंगमंच' संज्ञा से प्रचलित होने लगा।

रंगमंच: प्रदर्शन कला

कोई भी नाटक रंगमंच पर ही पूर्णता को प्राप्त करता है। आज 'रंगमंच' या Theatre शब्द के लिए 'नाटक' शब्द भी प्रचलित है। 'नाटक' सामान्यत: 'नट' धातु से उत्पन्न माना जाता है। 'नट' का अर्थ नाचना, अभिनय करना और अनुकरण करना भी माना गया है। 'नट' का एक अर्थ अभिनेता भी है। इसी 'नट' से ही 'नाट्यम् शब्द भी बना है जिसका अर्थ नाचना, अनुकरणात्मक चित्रण, स्वांग भरना, हाव-भाव प्रदर्शन और अभिनय करना है। इसी से बने 'नाटकम्' अथवा नाटक शब्द का अभिप्राय बनता है-ऐसी

काव्य रचना जिसका अभिनय किया जाता है।

आज हम जिस रंगमंच को जानते हैं वह केवल प्रेक्षागृह के बोध तक ही सीमित नहीं है। अगर हम लोक नाटकों की ओर देखें तो ऐसे कई नाट्य हमें दिखाई देते हैं जो एक सुसज्जित प्रेक्षागृह की अपेक्षा समाज के बीच गली नुक्कड़ और मेलों में होते हैं। ऐसे में 'रंगमंच' का सीधा संबंध प्रदर्शन कला से स्थापित होता है। रंगमंच अर्थात एक ऐसी कला जिसमें एक नाट्य मंडली नाटक का प्रदर्शन करती है जिसमें नाटककार, अभिनेता, निर्देशक, डिजायनर और नेपथ्य के कलाकार होते हैं।

14.2 रंगमंच का उद्भव और विकास

रंगमंच को यदि नाट्य प्रस्तुति से पृथक कर दिया जाय तो शायद केवल आलेख ही शेष रह जाय, जो केवल पाठ्य हो। नाटक साहित्य की एक विधा अवश्य है और रंगमंच उसे मंच प्रदान कर उसे जीवंतता प्रदान करता है। शायद यही कारण रहा है कि विद्वानों ने नाटक की पूर्ण अवस्था रंगमंच पर माना है। एकांकीकार डॉ. रामकुमार वर्मा ने भी कहा है– 'नाटक प्राण है तो रंगमंच' शरीर। यदि शरीर ही ना हो तो प्राण की अभिव्यक्ति संभव नहीं। जीवन के विविध रंग घटनाओं के रूप में दृश्यों में संयुक्त हो रंगमंच पर जीवंत, प्रभावी और मूर्त हो उठते हैं।

रंगमंच का आरंभ कैसे हुआ? यह बहुत ही रोचक प्रश्न है। मनुष्य और रंगमंच कला का रिश्ता सृष्टि के जन्म की कहानी से बहुत गहराई से जुड़ा है। सृष्टि की सबसे सुंदर और कलात्मक कृति है– मनुष्य। और समय के साथ-साथ उन्नति करते हुए इसी मनुष्य ने रंगमंच जैसी कला को जन्म दिया है। यह तो अवश्य है कि रंगमंच की परंपरा एकाएक आरंभ नहीं हुई बल्कि मनुष्य जीवन के विकास के साथ धीरे-धीरे विकसित हुई है। नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि समस्त कलाओं का समन्वित रूप रंगमंच है। ऐसे में सभी कलाओं, शिल्पों आदि के जन्म लेने व कुछ विकसित होने के बाद ही रंगमंच प्रकाश में आया होगा। इसमें कोई संदेह नहीं है।

दैवीय अवधारणा

अगर साहित्य को आधार बनाएँ तो 500 शती ईसा पूर्व आचार्य भरत द्वारा लिखे गए नाट्यशास्त्र में नाट्योत्पत्ति की कथा सामने आती है। जिसमें उल्लेख है कि ब्रह्माजी नें चारों वेदो के तत्वों से पंचमवेद अर्थात नाट्य की सृष्टि की हैं। इससे हमें पता चलता है कि वेदों की रचना के बाद नाट्य की उत्पत्ति हुई है। इस कथा के अनुसार– जब सतयुग बीत चुका था और त्रेतायुग प्रारंभ हो चुका था और प्रजा काम और लोभ के वशीभूत ग्राम्य धर्म में प्रवृत्त होने लगी थी। तब इन्द्र आदि देवताओं ने पितामह ब्रह्माजी से निवेदन किया कि हे देव! हम ऐसा मनोविनोद का साधन चाहते हैं जो देखने तथा सुनने योग्य हो। देवताओं को 'एवमस्त' कह और इन्द्र को विदा कर ब्रह्माजी ने चारों वेदों का स्मरण किया। ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद

से अभिनय व अथर्ववेद से रस ग्रहण कर नाट्यवेद की रचना की। नाट्यवेद की उत्पत्ति के बाद ब्रह्माजी ने इंद्र से इसे प्रयोग करने को कहा किंतु देवराज इंद्र ने नाट्य प्रयोग को ग्रहण करने, धारण करने व प्रयोग करने में देवताओं को अक्षम बताकर किसी ऐसे ऋषि को दिये जाने की प्रार्थना की जो इसके प्रयोग में समर्थ हो। तब ब्रह्माजी ने भरत मुनि से कहा कि आप इसका प्रयोग करें। ब्रह्माजी से आज्ञा पाकर भरत मुनि ने अपने सौ पुत्रों के साथ इसका प्रयोग किया। इस प्रकार नाट्य की उत्पत्ति हुई।

इस प्रकार नाट्यकला की उत्पत्ति की कथा हमें नाट्यशास्त्र में मिलती है।

आधुनिक अवधारणा

अभिनय का आरंभ भी वहीं से हुआ होगा जब मनुष्य ने अपनी घटनाओं को किसी अन्य के सामने अभिव्यक्त किया होगा। इस अभिव्यक्ति में शब्दों का खेल ना था बल्कि शारीरिक भाषा का खेल था। इतना तो अवश्य है कि शारीरिक भाषा मनुष्य की पहली अभिव्यक्त भाषा थी। अगर इसे आधार बनाए तो अभिनय की प्रवृत्ति पुरापाषाण काल में ही आरंभ हो चुकी थी। धीरे-धीरे बोली जाने वाली भाषा का उदय हुआ। ध्वनियों से शब्द बनें और शब्दों से साहित्य बनने लगा।

रंगमंच की उत्पत्ति आधुनिक अवधारणा पर डार्विन के विकासवाद सिद्धांत और फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का गहरा प्रभाव है। इसके अनुसार - पहले मनुष्य अस्तित्व में आया। इसके बाद उसकी आवश्यकताओं ने समाज की नींव रखी। पहले परिवार, फिर घर, भोजन, कृषि, प्राकृतिक शक्तियों पर आस्था, कर्मकांड, अनुष्ठान, धर्म और तत्पश्चात कला आई। इसके साथ ही रंगमंच ने सहज रूप में अपना आकार लिया। रंगमंच के उद्भव की कहानी यहीं से आरंभ होती है।

आधुनिक अवधारणा में रंगमंच की उत्पत्ति के बिंदु मानव सभ्यता के विकास के साथ तलाशे

गए हैं। हम जानते हैं कि पुरापाषाण काल तक आते-आते मनुष्य का समाज कबीले के रूप में विकसित हो चुका था। जंगली जानवरों का शिकार भूख मिटाने का प्रमुख माध्यम था। वे शिकार करते थे और पूरा कबीले के साथ उसे पकाकर खाते। यही परिस्थिति सामूहिक रूप से अभिव्यक्ति का माध्यम बना और यहीं कला प्रदर्शन ने जन्म लिया। इस दौर में मनुष्य के पास आज की तरह भाषा नहीं थी, वह केवल ध्वनियों और शारीरिक हाव-भाव से अपनी अभिव्यक्ति किया करता था। रंगमंच पर अभिनय की शुरुआत उस दिन हुई होगी जब आग के चारों ओर बैठे कबीले के लोगों ने अपने अनुभवों को एक दूसरे से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया होगा। शिकार की पूरी घटना को अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत किया होगा। एक व्यक्ति शिकारी बना होगा और दूसरा शिकार। इसी के साथ रंगमंच की अवधारणा विकसित हुई होगी। शनैः-शनैः अभिव्यक्ति और प्रदर्शन की यह घटना शिकार नृत्य, आदिमजातीय अनुष्ठानों के रूप में विकसित हुई। अगर हम आज भी बस्तर व अन्य जनजातीय इलाकों में होने वाले नृत्यों को देखें तो इस बात की पुष्टि हो जाती है।

कृषि के साथ मानव सभ्यता में भारी परिवर्तन आया। शिकार के स्थान पर खेती उनका मुख्य व्यवसाय हो गया और इसी के साथ लोक कलाओं का उदय हुआ। संस्कार, नृत्य, गीत, चित्रकला, कथा, गाथा आदि विकसित हुए। इसी काल में रंगमंच एक स्वतंत्र कला के रूप में अस्तित्व में आया। 'नाट्यशास्त्र' ग्रंथ में हमें इसी स्वतंत्र रंगमंच कला के बारे में पता चलता है।

14.3 नाट्यमण्डप

नाट्यमण्डप एक ऐसा स्थल होता है जहाँ नाटकों का प्रदर्शन किया जाता है। इसकी योजना इस प्रकार की जाती है कि नाट्यदल सुविधापूर्वक अपने कार्यों को संपन्न कर सके व दर्शक भी दर्शक दीर्घा में बैठकर नाटक को भली-भांति देख व सुन सके। इसे प्रायः प्रेक्षागृह, नाट्यगृह, ऑडिटोरियम व रंगमंच के नाम से भी जाना जाता है। यहाँ हम भारतीय प्राचीन नाट्यमण्डप व वर्तमान में प्रचलित नाट्यमंडपों के विषय में जानेंगे।

नाट्यशास्त्र में वर्णित प्रेक्षागृह

अभिनेता द्वारा मंच पर अभिनय प्रदर्शन किया जाता है। प्रभावी प्रदर्शन हेतु दृश्यता व श्रवणता को ध्यान में रखते हुए आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' के दूसरे अध्याय में नटों द्वारा अभिनय हेतु प्रयोग किये जाने वाले प्रेक्षागृह का विस्तृत वर्णन किया है। भरत ने मापन के आधार पर इन्हें- ज्येष्ठ, मध्यम व कनिष्ठ में वर्गीकृत कर उनके निर्माण के विधि-विधान का उल्लेख किया है। रंगशाला हेतु रंगभूमि का चयन, उसका मापन, मंच व दर्शक दीर्घा की योजना, भूमिपूजन विधि आदि पर प्रकाश डाला है। इसी के आगे वे तृतीय अध्याय में रंगपूजन की विधि बतलाते हैं।

टिप्पणी

आचार्य भरत ने तीन प्रकार के नाट्यमंडपों के विषय में बतलाया है:

1. विकृष्ट (अर्थात आयताकार)
2. चतुरस्त्र (अर्थात वर्गाकार)
3. त्रयस्त्र (अर्थात त्रिभुजाकार)

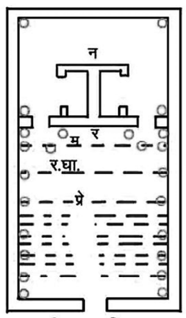

पूर्व विकृष्ट

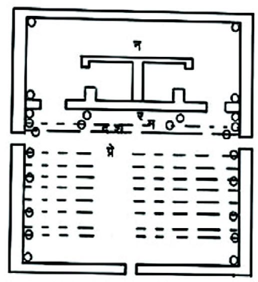

पूर्व 2 चतुरस्त्र(वर्गाकार)

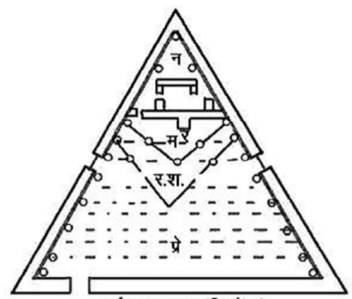

पूर्व 3 अयस्त्र (तिकोना)

इसके पश्चात उन्होंने पुनः इन तीनों के तीन-तीन भेद किये हैं-

1. ज्येष्ठ
2. मध्यम
3. अवर

इस प्रकार नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रेक्षागृह के प्रकार हुए:-

विकृष्ट ज्येष्ठ	चतुरस्त्र ज्येष्ठ	त्रयस्त्र ज्येष्ठ
विकृष्ट मध्यम	चतुरस्त्र मध्यम	त्रयस्त्र मध्यम
विकृष्ट अवर	चतुरस्त्र अवर	त्रयस्त्र अवर

नाट्यशाला को मध्य से विभाजित कर आधा भाग दर्शकों के लिए 'प्रेक्षागृह' तथा अन्य आधे भाग में 'रंगमण्डप' का विधान बतलाया गया है। नाट्य मंडप के पिछले भाग में 'नेपथ्य' होता था। नेपथ्य के आगे 'रंगपीठ' व 'रंगशीर्ष' होता था। नेपथ्य से मंच पर आने-जाने हेतु दरवाजे होते थे। मंच के दायें-बायें 'मत्तवारिणी' की स्थापना की जाती थी। दर्शक दीर्घा की रचना 'सीढ़ीनुमा' बनाई जाती थी ताकि दर्शक दृश्य को अच्छी तरह से देख व सुन सकें।

आधुनिक रंगमंच में प्रचलित नाट्यगृह

आधुनिक रंगमंच में नाट्य मंडप को लेकर भी कई प्रयोग हुए। आजकल अनेक प्रकार के मंचों का चलन है। आधुनिक रंगमंच के साथ ही मुक्ताकाशी (खुले आकाश के नीचे बने प्रेक्षागृह),

प्रोसीनियम थियेटर, स्टूडियो थियेटर, चक्रिल रंगमंच, कहीं-कहीं सड़क नुक्कड़ पर बिना किसी मंच के नाटक और प्रायोगिक रंगमंच का प्रचलन शुरू हुआ। उदाहरण के लिए- भारतेंदु हरिश्चंद्र का नाटक 'अंधेर नगरी' प्रेक्षागृह में पूरे उपकरण के साथ भी प्रदर्शित हुआ है, मुक्ताकाशी मंच पर भी हुआ है और सड़कों पर राह चलते लोगों के बीच भी। बादल सरकार का 'जुलूस' नाटक भी इसी प्रकार रंगशालाओं के अतिरिक्त मैदानों और और नुक्कड़ों पर अधिक सफलता से मंचित हुआ। नाटक 'होरी' का मंचन सचमुच के खेत और झोंपड़ी आदि बनाकर मुक्ताकाशी में हुआ। पुराने किले के खंडहरों में- 'अंधा युग', 'तुगलक' 'रजिया सुल्तान' आदि नाटक मुक्ताकाशी मंच पर प्रकाश, ध्वनियों व सभी उपकरणों से युक्त होकर सफलता के साथ मंचित हुए हैं। फिरोजशाह कोटला के ऐतिहासिक मैंदानों भी 'अंधायुग' का सफल प्रदर्शन हुआ।

प्रोसीनियम नाट्य गृह

सर्वाधिक प्रचलित प्रस्तुति क्षेत्र प्रोसीनियम रंगमंच ही होता है। इस परम्परागत प्रस्तुति क्षेत्र में दर्शक दीर्घा सामान्य धरातल से कुछ उंचाई पर बने चबूतरे के सामने स्थित होती है जो एक बे फ्रेम के पीछे बना होता है जिसे प्रोसीनियम फ्रेम अथवा महराब (तबी) कहते हैं। प्रोसीनियम का शाब्दिक अर्थ वह चौकोर अथवा महराबदार स्थान होता है जिसमें से देखा जा सकता है। प्रेक्षागुह में प्रेक्षकों के निर्धारित स्थान तथा प्रस्तुति क्षेत्र को विभाजित करनें वाली दीवार प्रोसीनियम कहलाती है। यह दीवार प्रेक्षागृह को दो भागों में बांटती है-

अ) प्रोसीनियम दीवार के पृष्ठ भाग में प्रस्तुति क्षेत्र, मंच पार्श्व का क्षेत्र एवं अन्य तकनीकी उपकरण आदि के लिए स्थान एवं भंडारण क्षेत्र

ब) प्रोसीनियम दीवार के सामने ऐप्रन, प्रेक्षकों के बैठनें का स्थान आदि।

सेट लगाने के लिये सुविधानुसार प्रस्तुति क्षेत्र को कई भागों में बांट लिया जाता है। प्रेक्षकों के समीप भाग को मंचाग्र (down stage) एवं प्रेक्षकों से दूर स्थित भाग को मंचपृष्ठ (up stage) कहा जाता है। प्रस्तुति क्षेत्र के केन्द्र को मंच मध्य (centre stage) तथा विंग एवं पिछली दीवार के तरफ को मंच पार्श्व (off stage) कहा जाता है। प्रस्तुति के दाँए व बाँए भाग को भी सुविधानुसार विभाजित किया जाता है।

दृष्टि रेखाओं का परीक्षण करनें के लिए उसे यथा संभव प्रत्येक स्थान से देखा जाता है, विशेष रूप से-

अ) पिछली पंक्ति की किनारे पर लगी हुई सीटों से

ब) प्रथम पंक्ति की दोनो किनारों पर लगी सीटों से

टिप्पणी

स) बालकनी की प्रथम एवं अंतिम पंक्तियों के दोनों किनारों पर लगी सीटों से

द) मुख्य प्रेक्षागृह एवं बालकनी एवं बालकनी की मध्य पंक्ति के मध्य में लगी सीटों से।

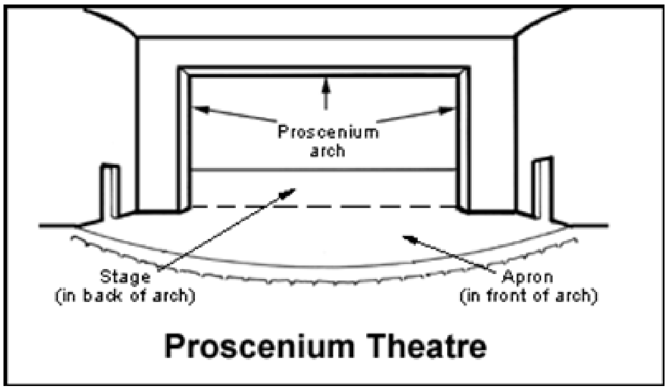

अखाड़ा रंगमंच (Arena theatre)

इस प्रकार का रंगमंच चक्राकार मंच होता है जिसमें अभिनय मंच अधिकांशत: वर्गाकार अथवा आयताकार होता है, मध्य में बनाया जाता है तथा दर्शक दीर्घा चारों ओर होती है। अभिनेताओं का प्रवेश एवं निष्क्रमण दर्शक दीर्घा के मध्य में बने मार्ग से होता है। अभिनय क्षेत्र कभी-कभी प्रथम पंक्ति के स्तर पर ही स्थित होता है, एवं कभी-कभी इसे एक या डेढ़ फिट की उँचाई पर भी बना दिया जाता है।

इस प्रकार के रंगमंच में प्रदर्शन के दौरान सेट का प्रयोग नहीं किया जाता। केवल अभिनय के माध्यम से ही पूरे नाटक का प्रदर्शन किया जाता है जिसे देखकर चारों ओर बैठे दर्शक देखते हैं।

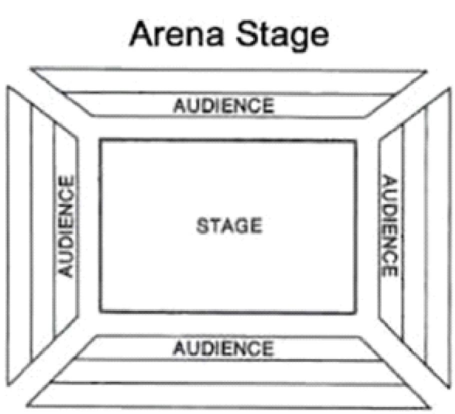

जिह्वाकार मंच (Thrust theatre)

यह भी अखाड़ा रंगमंच की ही तरह होता है। अंतर केवल इतना होता है कि यह केवल तीन ओर से घिरा होता है। इस रंगमंच के आकार के कारण इसे जिव्हाकार अथवा घोड़े की नाल के आकार का मंच भी कहा जाता है। चौथी ओर कुछ साधारण प्रकार की दृश्य सज्जा होती है जो प्रस्तुति के लिये उपयुक्त दृश्य वातावरण की पृष्ठभूमि प्रदान करती हैं।

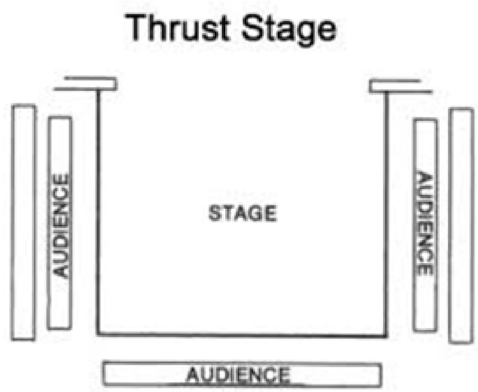

अन्य प्रयोगशील प्रस्तुति क्षेत्र (Other experimental performing areas)

रंगमंच एक सतत अभ्यास प्रक्रिया है जिससे वह निरंतर विकसित होता रहता है। विकास का अर्थ है परिवर्तन। नाट्यलेखक नाटक के स्वरूप एवं शैलियों में प्रयोग करते हैं, अभिनेता नाट्य क्रिया में विविधता उत्पन्न करनें की कोशिश करते हैं। नाट्यक्रिया एवं दर्शकों की समुचित प्रक्रिया के उत्तेजक स्थल के निर्माण की इच्छा से प्रेरित होकर पिछली चार शताब्दियों से 'सर्वोत्तम मंच' एवं सर्वोत्तम नाट्यगृह विकसित करनें का प्रयास हो रहा है परंतु अधिक कुछ नहीं किया जा सका है। इस प्रक्रिया से निर्मित नाट्यगृहों को दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

अ) ऐप्रेन या मुक्त मंच

इस प्रकार के रंगमंच मुख्यत: ऐप्रन के विकास पर आधारित है जिनमें ऐप्रन की विभिन्न स्थितियों को विकसित करनें का प्रयास किया गया है। ऐसे रंगमंच प्रोसीनियम द्वार से मुक्त होकर मंच के वर्गाकार अथवा आयताकार स्वरूप को वक्राकार साइक्लोरामा से घिरा हुआ बनाते हैं तथा ऐप्रन का आकार अपेक्षाकृत बड़ा हो जाता है। कुछ नाट्यगृहों में ऐप्रन तथा मुख्य मंच के संयुक्ताकार की छत भी बनाई गई है।

ब) मुक्ताकाशी मंच (Open air theatre)

इसे नवीन दृष्टि के प्रयोग करनें के लिए सर्वाधिक उपयुक्त माना गया है परंतु इनके

विकास का आधार ध्यान से देखनें पर यूनानी तथा रोमन रंग भवन स्थापत्य में ही दिखलाई पता है। कुछ रंगमंच झीलों तथा नदियों के किनारों पर विकसित किए गए जिनमें जल प्रवाह को भी दृष्य विन्यास के लिए उपयोग किया गया।

इन प्रकारों के अलावा वर्तमान में प्रयोगधर्मी रंगमंच का प्रभाव भी शनैः-शनैः बढ़ रहा है। आवश्यकता के अनुरूप किसी भी जगह को प्रदर्शन के लिए प्रयोग किये जाने पर बल दिया जा रहा है। रंगोपकरणों के बिना भी मंच पर मात्र अभिनय से नाटक प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

जैसा हमने पूर्व में रंगमंच की उत्पत्ति के संबंध में प्रचलित दैवीय उत्पत्ति और आधुनिक अवधारणा में जाना कि किस प्रकार मनुष्य के प्रागैतिहासिक सभ्यता के साथ-साथ कला के उद्भव के बीज तलाशे गए हैं। क्या रंगमंच अपने आदिम स्वरूप में ही एक स्वतंत्र कला के रूप में अस्तित्व में आया? संभवतः नहीं। रंगमंच अपने पूर्ण आकार में बहुत बाद में आया। अब प्रश्न यह उठता है कि फिर आदिकालीन रंगमंच का स्वरूप कैसा था? इसे वैज्ञानिक सोच के साथ जाना-समझा जा सकता है। इसे समझने के लिए एकमात्र आधार है- हमारी जनजातीय कलाएँ। जी हाँ, विश्व के विविध जनजातीय सभ्यताओं में प्रचलित नृत्य, संगीत और चित्रकलाओं के माध्यम से हम आदिकालीन रंगमंच की कल्पना कर सकते हैं। यहाँ हम कुछ विशेष बिंदुओं की चर्चा करने जा रहे हैं जिससे आप इस बात को समझ सकेंगे।

रंगमंच की अनायास उत्पत्ति

उस समय की कल्पना करिए जब आदिमानव गुफाओं में रहा करता था और अपनी भूख मिटाने के लिए गुफाओं से निकलकर शिकार करता था। शिकार के लिए उसने पत्थरों, लकड़ियों और जानवरों की हड्डियों से हथियार बनाए। इन हथियारों से वह आसानी से शिकार कर सकता था। धीरे-धीरे समय बीतता गया और अब वह गुफाओं से निकलकर समूह में रहने लगा। उसने जंगलों में अपनी झोपड़ी

बनाई और परिवार के साथ रहने लगा। समूह का एक विशेष दल जो युवा था वह शिकार के लिए जाता और उसके द्वारा लाए गए शिकार से कबीले के वृद्ध और बच्चे अपनी भूख शांत करते। शिकार पर जाने के पूर्व वे विजय का अनुष्ठान करते। जानवरों की नजर से बचने के लिए वे उनकी 'खाल व मुखौटों' का प्रयोग करते। बच्चों को शिकार में दक्ष बनाने और अपने मनोरंजन के लिए वे शिकार नृत्य करते। हमें भीमबेठका के शैल गुहा में कई ऐसे शैल चित्र मिलते हैं जो इस तथ्य को पुष्ट करते हैं। बस्तर आदि क्षेत्रों में आज भी प्रचलित शिकार नृत्य को देखा जा सकता है। संभव है इसी परिवेश में रंगमंच की अनायास उत्पत्ति हुई होगा जिसका स्वरूप नृत्यमूलक रहा होगा।

कल्पना कीजिए कि एक दिन शिकारी दल ने किसी विशालकाय जानवर का शिकार किया होगा। शिकार करते हुए कई शिकारी हताहत हुए होंगे। यह घटना आश्चर्यचकित कर देने वाली रही होगी। शिकारी दल उस जानवर को लेकर कबीले में आए होंगे। आग में उस जानवर को पकाते हुए जब सभी कबीले के लोग आग की रोशनी के इर्द-गिर्द बैठे रहे होंगे तब कबीले के किसी व्यक्ति ने जिज्ञासावश उस घटना के बारे में जानने की इच्छा व्यक्त की होगी। शिकारी दल के व्यक्ति ने उस घटना का अभिनय कर कबीले के सामने वह पूरी कहानी व्यक्त की होगी। एक व्यक्ति शिकारी बना होगा और दूसरा जानवर। इस तरह अभिनय कला ने जन्म लिया गया होगा। उत्साह में आकर कुछ व्यक्तियों ने लकड़ी, हड्डी, पत्थर आदि बजाकर ताल दिया होगा। अभिनेता बने शिकारी ने उस ताल पर नृत्य करते हुए अभिनय किया होगा। यह एक ऐसी अप्रत्याशित प्रदर्शन रहा होगा जिसने दर्शकों को रोमांचित कर दिया होगा।

अनुकरण की मूल भावना

अरस्तू ने रंगमंच को 'आर्ट ऑफ इमिटेशन' कहा है। अनुकरण करना मानव स्वभाव का एक प्राकृतिक गुण है। जब मनुष्य जन्म लेता है तो वह अपने आसपास के वातावरण को देख-सुनकर सीखता है। आदिमानव ने भी अपने आसपास के वातावरण को देखा होगा, जानवरों का अनुकरण कर उनके जैसी हरकतें की होंगी। उसे इस कार्य में आनंद आया होगा। रंगमंच के आरंभ से जुड़ी हुई जिस 'शिकार' की कहानी का उल्लेख हमने ऊपर किया वह भी इसी अनुकरण की भावना से जन्मी थी।

धार्मिक भावना

जीवन के संघर्षों से जूझते हुए जब कभी मनुष्य आगे प्रगति की कामना करता है तब वह ईश्वर की ओर उन्मुख होता है। इसके साथ ही वह अपनी धार्मिक भावना को नृत्य, संगीत आदि के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। रंगमंच भी अनायास इस अभिव्यक्ति का मुख्य माध्यम बनता है। आदिमानव ने भी इसी तरह प्राकृतिक शक्तियों के समक्ष अपना सिर नवाया। विजय की कामना, सुरक्षा की भावना, प्रकृति के क्रोध को शांत करने आदि के लिए अनुष्ठान का मार्ग अपनाया। पूजा नृत्य, बलि, जादू-टोना जैसे कर्मकाण्ड आदिम समाज में उपजें और उसे संपन्न कराने वाले पुरोहित अस्तित्व में आयें। अपने देवता को प्रसन्न करने के लिए इन

धार्मिक अनुष्ठानों में समूह नृत्य भी किये जाने लगे। यदि हम आदिवासी नृत्यों को देखें तो उसमें मिलने वाले 'बैगा' चरित्र इसी ओर संकेत करते हैं। कालांतर में यही भावना रंगमंच के लिए भी कथानक का आधार बनी।

कृषि

मानव सभ्यता विकसित हुई और इसी के साथ मनुष्य जंगलों से निकलकर मैदानों में आ गया। उसने कृषि कर फसलों का उत्पादन करना सीखा। जैसे-जैसे कृषि का महत्व उसके जीवन में बढ़ने लगा उसने उससे जुड़े हुए नृत्य, गीत उत्सवों का विकास किया। मौसमों के बदलने पर भी वह उत्सव मनाने लगा। फसलों को बोने व काटने के समय किये जाने नृत्य उत्सवों को आज भी हम लोक में देख सकते हैं। वास्तव में यह दौर लोक के उदय का था। आज भी हम इस उत्सवधर्मिता को देख सकते हैं। छत्तीसगढ़ में 'हरेली' और उड़ीसा में 'नुवाखाई' एक ऐसा ही उत्सव है जो फसलों के बोने व काटने के समय मनाया जाता है।

इस प्रकार हमें आदिकालीन रंगमंच के दो रूप दिखाई देते हैं-(1) आदिम रंगमंच और (लोक रंगमंच)।

पाठगत प्रश्न 14.1

1. रंगमंच से आप क्या समझते हैं?

   ....

2. नाट्यशास्त्र की रचना कब की गई?

   ....

3. नाट्यशास्त्र की रचना किसने की है?

   ....

4. नाट्यशास्त्र में कितने प्रकार के प्रेक्षागृह बतलाए गए हैं?

   ....

5. प्रेक्षागृह के प्रमुख अवयव कौन-कौन से हैं?

   ....

6. दिल्ली के पुराने किले में कौन से नाटक किये गए थें?

....

7. आधुनिक प्रेक्षागृह की क्या विशेषता है?

....

8. नाट्योत्पत्ति की कौन सी अवधारणाएँ प्रचलित हैं?

....

9. किसने रंगमंच को श्आर्ट ऑफ इमिटेशन्न कहा है?

....

10. आदिकालीन रंगमंच में अनुकरण की क्या भूमिका है?

....

11. रंगमंच के विकास में धार्मिक भावना का क्या योगदान है?

....

12. आदिकालीन रंगमंच का स्वरूप कैसा था?

....

13. आदिकालीन रंगमंच को कितने वर्गों में बाँटा गया है?

....

14. जिह्वाकार रंगमंच क्या है?

....

14.5 नाट्यशास्त्र में उल्लेखित रंगमंच

मानव समाज बनें तो अभिव्यक्ति भी होने लगी। सुख, दुख, ईर्ष्या, छल, कपट जैसे मनोविकार भी पैदा हुए। सामूहिक उल्लास ने उत्सवधर्मी आयोजनों को जन्म दिया और व्यक्ति नाचने लगे, गाने लगे, अभिनय करने लगे। यह परंपराएँ सदियों तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहीं। आज भी देश में प्रचलित जनजातीय कलाएँ-नृत्य, गीत, संगीत, नाट्य इन्हीं परंपराओं के चिन्ह सजोए हुए हैं।

टिप्पणी

नाट्यशास्त्र की रचना भारतीय रंग परंपरा की एक महत्वपूर्ण घटना है। कई हजार वर्ष पूर्व की नाट्य परंपरा का समुचित रूप इस ग्रंथ में लिखा गया है। यह एक ऐसा ग्रंथ है जो आज भी अभिनेताओं व रंगकर्मियों के लिए अत्यंत व्यवहारिक है।

इतिहास-पुराण, वेद, उपनिषद, महाकाव्य व अन्य साहित्यों व पुरातात्विक साक्ष्य स्पष्ट रूप से इस ओर इशारा करते हैं कि ईसा से कई शताब्दियों पूर्व रंगमंच कला पूरी तरह विकसित हो चुकी थी। यक्ष, किन्नर, गंधर्व, नट, नर्तक, सूत, मागध, ग्रंथिक, चारण, कुशीलव आदि जातियों ने इस कला को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन जातियों ने गायन, वादन, नर्तन, कथा-वाचन, कथा-प्रदर्शन के नाटकीय प्रदर्शनो को पीढ़ी-दर-पीढ़ी संजोया। इस नाट्य प्रदर्शन की समृद्धशाली, आकर्षक और सामाजिक रूप से प्रतिष्ठित कला ने ऋषियों, मुनियों और आचार्यों को इसे शास्त्र रूप प्रदान करने हेतु प्रेरित किया।

वास्तव में नाट्यशास्त्र केवल नाट्यकला ही नही अपितु गायन, वादन, नर्तन सदृश कई कलाओं का विवेचन ग्रंथ है। 'पंचमवेद' की संज्ञा से प्रचलित इस शास्त्र में स्वयं आचार्य भरत इसके महत्व पर कहते हैं-

न तच्छास्त्रं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न तत्कर्म न योगोऽसौ नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

वस्तुतः इसमें एक ऐसी समृद्ध और सम्पन्न रंगमंच परंपरा संकलित की गई जो कालांतर में हजारों वर्षों तक भारतीय रंगमंच में प्रदर्शन का आधार बनी। अभिनय के पूरक तत्वों जैसे- रंगमंडप, अभिनय- आंगिक, वाचिक, आहारिक व सात्विक, वृत्ति, प्रवृत्ति, रस, आतोद्य, ध्रुवागान, सिद्धि, पात्र प्रकृति, गान आदि विषयों पर आचार्य भरत ने विस्तार से प्रकाश डाला है।

किसी भी कला रूप पर चिंतन की प्रक्रिया का आरंभ तभी संभव है जब वह विधा पूर्ण रूपेण विकसित व उसकी परंपरा संपन्न हो। इस सम्पन्नता के पश्चात ही किसी शास्त्र का निर्माण होता है। इस प्रकार दो महत्वपूर्ण धाराएँ-प्रदर्शन परंपरा और उन्हें आधार बनाकर ग्रंथों आदि की रचना प्रचलित हुई। प्रदर्शन की परंपरा तो अबाध रूप से गतिमान थी किंतु नाट्यशास्त्र की रचना ने उन पर हो रहे चिंतन को और भी प्रबल बना दिया। फलतः जहाँ एक ओर संस्कृत नाटकों का लेखन और प्रदर्शन हुआ वहीं दूसरी ओर नाट्यशास्त्र को आधार मानकर तत्कालिक रंग परंपरा पर चिंतन भी होता रहा और अनेकों ग्रंथ, भाष्य और टीकाएँ लिखी जाती रहीं।

14.6 रंगमंच के प्रकार

प्रसिद्ध विद्वान नेमिचंद्र जैन ने 'भारतीय रंग परंपरा' विषय पर दिये गये भाषण में कहा है कि यह सच है कि प्रारंभिक दौर के बारे में हमारी जानकारी बहुत कम है। फिर भी इतना तो बेहिचक कहा जा सकता है कि अन्य संस्कृतियों की भांति ही हमारे देश में भी नाट्यात्मक कार्य की शुरुआत आदिम अनुष्ठानों या अनुष्ठानमूलक नृत्यों उत्सवों आदि से हुई है। वास्तव

टिप्पणी

में वैदिक युग में प्रचलित यज्ञों व कर्मकाण्डों में नाट्य जैसी स्थितियाँ व क्रियाएँ उपस्थित थीं। बाद में पूर्वजों और समुदायों के महापुरुषों की जीवनगाथाओं के गायन आदि के समाविष्ट होने के बाद तो नाट्य रूप के उदय की सारी माँगें पूरी होने लगी। उदाहरण के लिए बाल्मीकि रचित 'रामायण' में नाटक, नर्तक, गायक, कुशीलव आदि का उल्लेख मिलता है।

यह तो निश्चित है कि भारत में रंगमंच का आरंभ एकाएक नहीं हुआ बल्कि शनैः शनैः मानव सभ्यता के विकास के साथ हुआ है। वास्तव में नाट्य की उत्पत्ति अनवरत रूप से चली आ रही गीत, संगीत, नर्तन व आदिम अनुष्ठानों की परंपरा का ही परिणाम है। इसके समृद्ध स्वरूप का शास्त्रगत विवेचन नाट्यशास्त्र में वर्णित कर आचार्य भरत ने आने वाली संतति को नाट्य प्रयोग की शिक्षा दी।

14.6 रंगमंच के प्रकार

भारत विविधताओं का देश है। यहाँ कई जाति, धर्म, भाषा व संस्कृति के लोग निवास करते हैं। यही कारण है कि हमें नृत्य, गीत, संगीत आदि कलाओं के विविध रूपों के दर्शन होते हैं। यदि हम भारतीय रंगमंच के प्रकारों की चर्चा करें तो हमें पता चलता है कि भारतीय रंगमंच की अपनी एक महान परंपरा है जो विविधताओं से भरी हुई है। भारत में कालक्रम के अनुसार रंगमंच के निम्नलिखित प्रकार दिखाई देते हैं:-

संस्कृत रंगमंच

जैसा कि हमने पूर्व में नाट्यशास्त्र में वर्णित रंगमंच की चर्चा की है। इस ग्रंथ में हमें रूपक के दस प्रकारों की चर्चा मिलती है- नाटक, प्रकरण, भाण, अंक, प्रहसन, वीथी, ईहामृग, व्यायोग, समवकार और डिम। इन प्रकारों में कथावस्तु, नेता और रस के आधार पर भिन्नता है। इसके साथ ही नाट्यशास्त्र में आचार्य भरत 18 उपरूपकों की भी चर्चा करते हैं। संस्कृत रंगमंच के इन प्रकारों का प्रचलन नौवीं शताब्दी तक मिलता है।

लोक रंगमंच

संस्कृत रंगमंच के पतन के उपरांत हमें लोकनाटकों का प्रचलन मिलता है। इन लोकरंगमंच को निम्न श्रेणियों में बांटा गया है- (1) मंदिर आश्रित (वह लोकरंगमंच जो मंदिरों के गर्भगृह में किया जाता था। जैसे- कुड़ियट्टम, अंकिया भाओना आदि।) (2) लीला नाट्य (वह लोकनाट्य जो राम व कृष्ण की लीलाओं पर आधारित थें। जैसे- रामलीला, रासलीला।) (3) सामाजिक नाट्य- इस श्रेणी के अंतर्गत वे लोकनाट्य आते हैं जिनकी कथावस्तु सामाजिक होती है। जैसे- स्वांग, नौटंकी, नाचा आदि।

टिप्पणी

पारसी रंगमंच

बंबई से शुरू हुए पारसी रंगमंच ने कलकत्ता और दिल्ली को अपना केन्द्र बनाया था। आरंभ में पारसी रंगमंच साधनविहीन था किंतु धीरे-धीरे उन्होंने आवश्यक संसाधन जुटा लिये। इन नाटक कंपनियों के पास अद्‌भुत विशेष प्रभाव उत्पन्न करने वाले यंत्र हुआ करते थें। इनके द्वारा देवों को हवा में उड़ते हुआ दिखाया जाता था, हीरो को महल की दीवार से नदी में छलांग लगाते हुए दिखाया जाता था, परियों को आकाश से उतरते हुए दिखाया जाता था। प्रभाव उत्पन्न करने के इस तकनीक ने दर्शकों को चमत्कृत कर दिया। इन आकर्षक प्रभावों को देखने लोग टिकट लेकर जाया करते थे। भारतीय दर्शकों के लिये ये विलग अहसास था।

पारसी नाटक कंपनी में निर्देशक, नाटककार, अभिनेता, डिजायनर आदि वैतनिक रूप से रखे जाते थें। स्त्री पात्रों का अभिनय पुरुष अभिनेता ही किया करते थे। बाद में इसके प्रसिद्धि को देखते हुए नर्तकियों और गणिकाओं ने भी भाग लेना आरंभ किया। अपरे आरंभिक काल में इन कंपनियों ने शेक्सपियर के नाटकों को अंग्रेजी, गुजराती भाषा में प्रस्तुत किया। बाद में हिंदी, उर्दू और फारसी मिश्रित हिंदुस्तानी भाषा का प्रयोग होने लगा। इनके संवादों में शेरो-शायरी, सशक्त कार्यव्यापार के कारण चुस्ती दुरुस्ती हुआ करती थी। नाटकों में हास्य कथा भी नियोजित हुआ करती थी। नाटक अंकों में विभक्त होते थें।

आधुनिक रंगमंच

उन्नीसवीं शदी के उत्तरार्ध से आधुनिक रंगमंच का दौर दिखाई देता है। जिसमें नाटकों के विषय आम आदमी से जुड़े और इसके साथ ही प्रदर्शन की यथार्थवादी अयथार्थवादी व प्रायोगिक पद्धति का प्रयोग किया जाने लगा।

यदि हम प्रस्तुति शैली के आधार पर देखें तो रंगमंच को कुछ इन प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता है:-

यथार्थवादी रंगमंच

यथार्थवादी रंगमंच शैली वह है जिसमें आम जीवन को जस का तस प्रस्तुत किया। आधुनिक युग में इस रंगमंच की शुरुआत हुई। इस रंगमंच की विशेषता यह है कि इसमें बिना किसी अतिरेक प्रदर्शन को इस तरह संयोजित किया जाता है कि ऐसा प्रतीत होता है मानो दर्शक अपने आसपास की घटनाओं को देख रहे हों। अभिनय में भी सहज शारीरिक क्रियाओं और बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया जाता है। यह अभिनय मनोविश्लेषणात्मक होता है।

अयथार्थवादी रंगमंच

अयथार्थवादी रंगमंच के अंतर्गत उन प्रस्तुति शैलियों को रखा जाता है जिनमें गीत, संगीत, नृत्य आदि का प्रयोग करते हुए अतिरेक क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है। प्रायः पौराणिक, धार्मिक

टिप्पणी

व ऐतिहासिक कथानकों की प्रस्तुति के लिए इसी शैली का प्रयोग किया जाता है। संस्कृत रंगमंच, लोक रंगमंच और पारसी रंगमंच इसी श्रेणी के रंगमंच हैं। इसी क्रम में हम कुछ विशेष शैलियों की चर्चा करने जा रहे हैं–

नृत्य प्रधान रंगमंच

यह रंगमंच का एक ऐसा प्रकार है जिसमें अभिनेता होने के लिए पहली शर्त है कि वे अच्छे अभिनेता हों। प्रायः इस हम कुडि्यट्टम, तेरुकुत्तु, यक्षगान आदि लोकनाट्यों को देखकर समझ सकते हैं। साथ ही नर्तकों द्वारा किया जाने वाला डांस ड्रामा भी इसी श्रेणी में आता है।

संगीत प्रधान रंगमंच

रंगमंच की इस प्रस्तुति शैली में वह रंगमंच आता है जिसमें अभिनेताओं के द्वारा संवादों की अदायगी प्रायः गेय होती है। इसे म्यूजिकल ड्रामा भी कहा जाता है। उदाहरण के तौर पर नौटंकी को हम देख सकते हैं।

नुक्कड़ शैली

रंगमंच की यह शैली बीसवीं शताब्दी के मध्य में अस्तित्व में आयी। इस शैली में प्रायः नाटकों की प्रस्तुति गली, नुक्कड़, चौराहों में की जाती है। इसका मुख्य उद्देश्य लोगों को जागरुक करना होता है। सफदर हाशमी इस शैली के चर्चित रंगकर्मी हैं।

रेडियो नाटक

यह रंगमंच की एक ऐसी प्रस्तुति शैली है जिसमें शारीरिक अभिनय की अपेक्षा वाचिक अभिनय पर विशेष बल दिया जाता है। इसमें अभिनेता अपने वाचन व पार्श्व संगीत के माध्यम से चरित्रों को श्रोताओं की कल्पना में जीवंत कर देता है। 'अंधायुग' नाटक धर्मवीर भारती द्वारा इसी शैली के लिए लिखा गया था।

मूक नाटक

मूकनाटक अर्थात माइम रंगमंच की एक ऐसी प्रस्तुति शैली है जिसमें अभिनेता वाचन की अपेक्षा शारीरिक क्रियाओं पर विशेष बल देता है। इसमें संवाद नहीं होते केवल ध्वनियों, संगीत और आंगिक अभिनय से कहानी को मंच पर प्रस्तुत किया जाता है।

एकल

इस प्रस्तुति शैली में मंच पर केवल एक अभिनेता प्रस्तुति करता है। वह स्वयं ही विभिन्न चरित्रों की भूमिका अदा करता है।

टिप्पणी

प्रायोगिक रंगमंच

रंगमंच की इस शैली में किसी एक पद्धति का प्रयोग नहीं होता बल्कि रंगमंच के अवयवों को लेकर प्रयोग किये जाते हैं। कभी मंच को लेकर तो कभी रचना को लेकर। कभी अभिनय को लेकर तो कभी डिजाइन को लेकर। उदाहरण के लिए- इब्राहिम अल्काजी ने मंच को लेकर कई प्रयोग किये। 'कहानी का रंगमंच' में प्रो. देवेन्द्रराज अंकुर द्वारा रंगमंच के अन्य अवयवों को अस्वीकार किया गया तो बंसी कौल द्वारा विदूषकीय शैली में डिजाइन व अभिनय को लेकर प्रयोग किया गया। बादल सरकार द्वारा किया गया प्रयोग 'तीसरा रंगमंच' भी प्रायोगिक रंगमंच में उल्लेखनीय है।

पाठगत प्रश्न 14.2

1. नाट्यशास्त्र किस प्रकृति का ग्रंथ है?

   ....

2. किन-किन जातियों ने नाट्यशास्त्र के पूर्व रंगमंच को विकसित किया?

   ....

3. नाट्यशास्त्र में रंगमंच के किन अवयवों की चर्चा है?

   ....

4. नाट्यशास्त्र की कौन-कौन सी धारा प्रचलित हुई?

   ....

5. नृत्य नाटक क्या है?

   ....

6. नौटंकी किस प्रकार का रंगमंच है?

   ....

14.7 आधुनिक रंगमंच

भारत में आधुनिक रंगमंच का वातावरण बीसवीं शताब्दी के आरंभ मे ही तैयार किया जा रहा था। राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत साहित्य लिखा जा रहा था। भारतीय रंगमंच में इस भावना को

टिप्पणी

सशक्त बनाने की दिशा में निरंतर प्रयास किये जा रहे थें। क्षेत्रीय रंगमंच के अध्ययन से भी यह बात पुष्ट होती है। पश्चिम सभ्यता का अंधानुकरण और बाद में पश्चिमी अनुकरण से प्रेरित स्वदेशी भावना के प्रति विशेष प्रेम इस बात की द्योतक हैं।

भारतीय रंगमंच के इतिहास में स्वतंत्रता संग्राम ने विशेष प्रभाव डाला। जब पूरे भारत में 1940-47 के दौरान भारतीय स्वतंत्रता प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर थें, तभी 1943 में भारतीय जन नाट्य संघ की स्थापना हुई। इस संस्था ने रंगमंच के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसी दौर में पारसी रंगमंच और फिल्म के ख्यात अभिनेता पृथ्वीराज कपूर ने पृथ्वी थियेटर्स के नाम से अपनी यायावर मंडली (1944-60) बनाई और यथार्थवादी शैली के सुधारवादी नाटकों में पारसी रंगशैली का अभिनव प्रयोग करते हुए पारसी के अतिनाटकीय तत्व को नियंत्रित किया।

बीसवीं सदी के पाँचवे दशक में केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी (1954) द्वारा आयोजित गोष्ठियों व समारोहों नें रंगमंच का धरातल तैयार किया और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (1959) के प्रदर्शनों ने हिंदी रंगमंच को गति प्रदान की। इस संस्था से प्रशिक्षित रंगकर्मियों ने देश के विभिन्न राज्यों में जाकर अपनी मंडलियाँ बर्नाइं और रंगशिविरों का आयोजन कर रंगमंच को सुदूर क्षेत्रों में सक्रिय किया। थियेटर यूनिट (1954 बंबई), अनामिका (1955, कलकश्रा) नया थियेटर (1959, दिल्ली) जैसी मंडलियाँ आधुनिक रंगदृष्टि से रंगमंच में अभूतपूर्व योगदान दिया।

हबीब तनवीर का 'आगरा बाजार' भी इसी दशक में चर्चित हुआ। इसके प्रदर्शनों ने टोटल थियेटर की अवधारणा को चर्चा का विषय बना दिया और पारंपरिक नाट्य रूपों की प्रासंगिकता को उभारा। इसी दशक में सत्यदेव दुबे ने थियेटर यूनिट के लिए अंधायुग (1962) किया। आषाढ़ का एक दिन (1964), सुनो जन्मेजय (1966), शुतुरमुर्ग (1968), आधे अधूरे (1969), एवम् इंद्रजीत (1970) जैसी कालजयी प्रस्तुतियाँ हुई। अनामिका के लिए श्यामानंद जालान द्वारा निर्देशित 'लहरों के राजहंस' (1964), शुतुरमुर्ग (1967) और एवम् इंद्रजीत (1968) की प्रस्तुतियाँ चर्चित रहीं।

सातवें दशक में भारतीय रंगमंच अपने स्पष्ट आकार में आ गया था। इस काल में देश-विदेश के श्रेष्ठ मौलिक नाटकों और भारत के विविध भाषायी नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत किया गया। नाट्यलेखन के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई। इससे नाट्यलेखन के स्तर, कथ्य और शैली में जो नयापन आया, उसका प्रभाव रंगकर्म के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

80 के दशक में अव्यवसायिक रंगमंच पूरे भारत में सक्रिय हुआ। रंग शैलियों में प्रयोग की धारा भी चल निकली। संस्कृत नाटकों को नवीन शैली में खेले जाने लगा। भारतीय रंगमंच के नाटककारों, निर्देशकों का रूझान पारंपरिक नाट्य रूपों की ओर बढ़ा। मंचन हेतु आलेख की मांग बढ़ी। इस मांग की पूर्ति के लिए साहित्य की अन्य विधाओं की ओर रंगमंच मुड़ा।

उपन्यासों के रुपांतरों की ओर निर्देशक आकृष्ट हुए। अन्य भारतीय भाषाओं के नाटक अपनी भाषा की अपेक्षा हिंदी में अधिक खेले गए। इसी दशक में अन्य क्षेत्रों के लोक रंगमंच को सीखने की प्रवृत्ति भी जाग्रत हुई। दूसरी भाषाओं के निर्देशकों ने हिंदी प्रदेशों की मंडलियों के आग्रह पर संस्कृत और हिंदी के नाटक खेले। हिंदी रंगमंच की इन प्रस्तुतियों में उन्होंनें अपनें प्रदेश की रंगशैलियों और तत्वों का बखूबी प्रयोग किया। के. एन. पणिक्कर, रतन थियाम, फ्रिट्ज वेनेविट्ज हिंदी रंगमंच का हिस्सा बन गए। एक ओर धर्मवीर भारती, जगदीशचंद्र माथुर, मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, बी. एम. शाह, जैसे नाटककारों के अलावा सुरेन्द्र वर्मा, मुद्राराक्षस, मणि मधुकर, शंकर शेष, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, भीष्म साहनी, असगर वजाहत, राजेश जोशी, मृणाल पांडे, नंद किशोर आचार्य, रामेश्वर प्रेम आदि नए नाटककारों नें अपनी रंग क्षमता का परिचय दिया, वहीं दूसरी ओर, विजय तेंदुलकर, बादल सरकार, मोहित चटर्जी, मनोज मित्रा, देवाशीष मजूमदार, चंद्रशेखर कंबार, गोविन्द देशपांडे, महेश एलकुंचवार, सतीश आलेकर आदि के नाटक भी चर्चित रहें। आठवें दशक के बाद हिंदी मंडलियां बिखरनें लगीं और रंगकर्मी सिनेमा व दूरदर्शन की ओर पलायन करने लगे।

नब्बे का दशक अन्य प्रदेशों के लोक नाट्य तत्वों को सीखने का था। इस दशक में महत्वपूर्ण यह रहा कि हिंदी रंगकर्मी दूसरे प्रदेशों के रंग तत्वों को सीखने पर बल देनें लगें। इस हेतु के.एन. पणिक्कर (मलयालम), रतम थियाम (मणिपुरी), कन्हाई लाल (मणिपुरी), विजय मेहता (मराठी), रुद्रप्रताप सेन गुप्त (बांग्ला) जैसे चर्चित निर्देशकों को बुलाया जाने लगा। इसी दशक में प्रमुखत: कहानी का रंगमंच, पारम्परिक नाट्य रूपों का प्रयोग चर्चा में रहें। इन प्रयोगों ने रंगमंच को एक नई भाषा प्रदान की। वर्तमान में भारतीय रंगमंच अपने विविध रंग शैलियों के साथ गतिमान है। न केवल व्यवसायिक बल्कि अव्यवसायिक रंगमंच भी निरंतर रंगकर्म को समृद्धि प्रदान कर रहे हैं।

वर्तमान में भारतीय रंगमंच के परिदृश्य में देखें तो नवीन प्रयोगों की परंपरा गतिमान है। देश भर में हो रहे नित नवीन प्रयोगों, विविध राष्ट्रीय नाट्य समारोह में उनके प्रदर्शन, विविध प्रदेशों में स्थापित रंग प्रशिक्षण केन्द्र, प्रशिक्षण उपरांत निरंतर प्रयोग कर रहे प्रशिक्षणार्थी, रंगमंच को प्रोत्साहित करती भारत सरकार की योजनाएँ आदि आज रंगमंच के लिए एक अनुकूल वातावरण तैयार कर रहे हैं।

पाठगत प्रश्न 14.3

1. भारतीय जन नाट्य संघ की स्थापना कब हुई?

....

2. पृथ्वी थियेटर की स्थापना किसने की?

....

टिप्पणी

3. राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के बारे में बतलाइये?

....

4. नाटक-'आगरा बाजार' के निर्देशक कौन थे?

....

5. थियेटर यूनिट का संबंध किस शहर से है?

....

आपने क्या सीखा

- रंगमंच का सामान्य अर्थ है एक ऐसी जगह जहाँ नाटक की प्रस्तुति की जाती है। यह संज्ञा नाट्य प्रस्तुति व उसकी पूरी प्रक्रिया के लिए भी प्रयुक्त किया जाता है।
- भारतीय रंगमंच का सबसे प्राचीन ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' है जिसकी रचना 500 शती ईसा पूर्व आचार्य भरत द्वारा की गई थी।
- नाट्यशास्त्र में संस्कृत रंगमंच का पूर्ण विवरण है। न केवल रंगमंच अपितु नृत्य, नृत्त, संगीत आदि कलाओं का भी यह आदि ग्रंथ है।
- आदिकालीन रंगमंच के संबंध में प्राप्त पुरातात्विक वस्तुओं व कला रूपों से जानकारी मिलती है। इसमें रंगमंच की उत्पत्ति के बीज प्रागैतिहासिक सभ्यता से तलाशे गए हैं। आदिम रंगमंच का आरंभ आदिमानव सभ्यता में अभिव्यक्ति और उत्सवधर्मिता के गुणों से हुआ।
- आदिम रंगमंच का दूसरा पड़ाव कृषि सभ्यता के साथ अस्तित्व में आता है। जहाँ नृत्य, गीत, संगीत, कथा आदि का विकास होता है।
- भारतीय रंगमंच के प्रकारों में संस्कृत रंगमंच, लोक रंगमंच, पारसी रंगमंच व आधुनिक रंगमंच में मुख्यत: वर्गीकृत किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुति शैली के आधार पर भी रंगमंच के कई प्रकार हैं।
- आधुनिक रंगमंच का आरंभ 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आरंभ होता है। विशेषकर आजादी के बाद हमें रंगमंच पर रचनात्मक दृष्टि से कई प्रयोग देखने को मिलते हैं जिनमें न केवल लेखन अपितु प्रदर्शन में भी परंपरागत तरीकों को आधार बनाकर समसामयिक अर्थों की ओर विकास दिखाई देता है।

पाठान्त प्रश्न

1. रंगमंच से आप क्या समझते हैं।
2. भारतीय रंगमंच में नाट्यशास्त्र की क्या भूमिका है?
3. आदिम रंगमंच के बारे में आप क्या जानते हैं?
4. रंगमंच के प्रकार कौन-कौन से हैं?
5. आधुनिक रंगमंच के संदर्भ में बतलाइये?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

14.1

1. रंगमंच से तात्पर्य उस कला से है जिसमें नाटकों को मंच पर प्रस्तुत किया जाता है।
2. 500 शती ईसा पूर्व
3. आचार्य भरत
4. आकार के आधार पर तीन- 1. विकृष्ट, 2. चतुरस्त्र और 3. अवर। पारिमाण के आधार पर इन्हें पुनः तीन में बांटा गया- 1. ज्येष्ठ, 2. मध्यम और 3. अवर।
5. रंगपीठ, रंगशीर्ष, नेपथ्य, मत्तवारिणी, यवनिका इत्यादि।
6. अंधायुग
7. प्रस्तुति के उद्देश्य के अनुरूप प्रस्तुति स्थल का निर्माण, पारंपरिक प्रेक्षागृहों से विलग नवीन रचना।
8. दैवीय और आधुनिक अवधारणा।
9. अरस्तू

टिप्पणी

10. विद्वानों का अनुमान है कि आदिमानव ने अपने आसपास की प्रकृति, उनमें रहने वाले जानवरों को देखकर उनकी नकल करने का प्रयास किया होगा। स्वयं उत्पत्ति की कथा में भी शिकार की घटना का अभिनय करते हुए भी शिकार की नकल करने का उल्लेख मिलता है।

11. रंगमंच के विकास में धार्मिक भावना का विशेष योगदान रहा है क्योंकि मनुष्य ने अपने भय और सुरक्षित भविष्य की कामना से अनुष्ठान की प्रक्रिया को जन्म दिया और इस अनुष्ठान में नृत्य, संगीत और रंगमंच की मुख्य भूमिका रही है।

12. आदिकालीन रंगमंच का स्वरूप नृत्यमूलक था।

13. प्रागैतिहासिक व लोक

14. यह भी अखाड़ा रंगमंच की ही तरह होता है। अंतर केवल इतना होता है कि यह केवल तीन ओर से घिरा होता है। इस रंगमंच के आकार के कारण इसे जिव्हाकार अथवा घोड़े की नाल के आकार का मंच भी कहा जाता है।

14.2

1. नाट्यशास्त्र एक ऐसा ग्रंथ है जिसकी प्रकृति पूर्णतः प्रयोगात्मक है।

2. यक्ष, किन्नर, गंधर्व, नट, नर्तक, सूत, मागध, ग्रंथिक, चारण, कुशीलव आदि।

3. रंगमंडप, अभिनय- आंगिक, वाचिक, आहारिक व सात्विक, वृत्ति, प्रवृत्ति, रस, आतोद्य, ध्रुवागान, सिद्धि, पात्र प्रकृति, गान आदि विषयों पर आचार्य भरत ने विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

4. संस्कृत नाट्यलेखन व भाष्य, टीका ग्रंथों की लेखन परंपरा

15

रंगसंगीत

रंगमंच पर प्रस्तुत किये जाने वाली नाट्य प्रस्तुतियों में संगीत की अपनी एक विशिष्ट भूमिका होती है। रंगमंच में प्रयुक्त किया जाने वाले संगीत की प्रकृति नाटक के भावों से बड़ी ही गहराई के साथ जुड़ा होता है। जैसा कि हम जानते हैं कि नाटक मूलतः दृष्य-श्रव्य माध्यम है। श्रव्यता के साथ ही संगीत का गुण स्वतः ही इससे जुड़ जाता है। नाटक में स्वरों और ध्वनियों का संयोजन ठीक उसी प्रकार किया जाता है जैसे संगीत में किया जाता है किंतु रंगमंच पर यह संयोजन एक उद्देष्य के तहत होता है। नाटक में गीतों का प्रयोग कथा की विकास यात्रा को केन्द्र में रखकर किया जाना, पात्रों के अभिनय के दौरान क्रियाकलापों के लिए कुछ खास वाद्ययंत्रों का प्रयोग और विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने या फिर अव्यक्त भावों को अभिव्यक्त करने के लिए संगीत को ही मुख्य माध्यम बनाया जाता है।

आधुनिकता के उदय के साथ ही रंगमंच में कई व्यवहारिक परिवर्तन हुए। नाटक में संगीत के प्रयोजन को लेकर भी व्यापक प्रयोग हुए। इस अध्याय में हम इन्हीं संदर्भों में रंगसंगीत की चर्चा करेंगे।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप-

- रंगसंगीत का सामान्य परिचय जानते हैं;
- रंगसंगीत के प्रकारों को जानते हैं;
- रंगसंगीत का नाट्य मंचन में योगदान को समझते हैं;
- रंगसंगीत और रस को समझते हैं;

टिप्पणी

- नाट्य के साधारणीकरण में रंगसंगीत की उपादेयता को जानते हैं; और
- आधुनिक रंगसंगीत के विषय में जानते हैं।

15.1 रंगसंगीत से तात्पर्य

आज हम जिसे रंगसंगीत के नाम से जानते हैं वह एक स्वतंत्र और आधुनिक संज्ञा है जो पूरी तरह नाट्य में प्रयुक्त होने वाले संगीत के उद्देश्यों और लक्ष्यों को रेखांकित करता है। अपने आदिरूप से ही वाद्य और गीत नाट्य का अभिन्न अंग रहा है। पाणिनी और कौटिल्य जैसे भारतीय मनीषि नाट्य को गीत, वाद्य और नृत्य के साथ संगीत का ही हिस्सा माना है। यह रंगसंगीत की प्राचीन अवधारणा है। शास्त्रीय परंपरा के साथ ही लोक पारंपरिक नाट्य रूपों मे भी हम संगीत की प्रमुखता को देख सकते हैं।

वास्तव में जब संगीत के साथ रंग विशेषण प्रयुक्त होता है तो यह एक विशेष अर्थ ग्रहण कर लेता है। प्राय: जब हम रंगमंच के संदर्भ में रंगसंगीत अथवा नाट्यसंगीत शब्द का प्रयोग करते हैं तो एक ऐसा संगीत रूप मन-मस्तिष्क में उभरता है जो न केवल रंगमंच पर दिखाए जाने वाले दृश्यों को अलंकृत करता है बल्कि उसके उद्देश्यों को भी पूरा करता है। नाटक में कई प्रकार के मनोभावों, मन:स्थितियों और दृश्यों को प्रदर्शित किया जाता है। ऐसे में संगीत उन मनोभावों, मन:स्थितियों को उभारकर अनुभूति योग्य बनाता है। इस परिस्थिति में दृश्य के भाव के अनुरूप वाद्ययंत्रों और स्वरों का प्रयोग किया जाता है।

नाट्यशास्त्र में संगीत

नाट्य में संगीत कैसा हो? इस संबंध में आचार्य भरत ने विस्तार से चर्चा की है। संपूर्ण नाट्यशास्त्र में 6 अध्याय संगीत पर ही केन्द्रित हैं। 28वें अध्याय में वाद्यों के प्रयोग की चर्चा है। इस अध्याय में आचार्य भरत वाद्य यंत्रों पर चर्चा करते हैं। वाद्य के चार प्रकार- तत्, अवनद्ध, घन और सुषिर। वाद्य प्रकारों की चर्चा करते हुए वे उसके प्रकार, कुतप विन्यास, वाद्य वादकों की बैठक व्यवस्था आदि का वर्णन है। 29 वें अध्याय में रस जाति का लक्षण वर्णित है। रस के अनुकूल गान्धर्व जातियों का विवेचन करते हुए वे वर्ण और अलंकारों पर प्रकाश डालते हैं। गीतों के लक्षण बताते हुए वे उनके प्रयोग विधि की चर्चा करते हैं। इसके पश्चात वे चार प्रकार की गांधर्व संबंधित धातुओं व आश्रावण (वाद्य आदि मिलाना) की प्रक्रिया विधान बतलाते हैं। तीसवाँ अध्याय सुषिर वाद्य के लक्षण पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। बाँसुरी की रचना एवं उसके प्रयोग की विधियाँ इस अध्याय में वर्णित हैं।

इकतीसवें अध्याय में ताल से संबंधित चर्चा है। इस अध्याय में ताल से संबंधित प्रत्येक अंगों पर विशद वर्णन है। ताल और लय का संबंध स्पष्ट करते हुए वे ताल की उत्पत्ति बताते हैं। ताल के प्रयोग विधान के अंतर्गत वे ताल-वाद्य के लिए पाँच प्रकार की उँगली चलाने के विधान व लय बढ़ाने व सम पर मिलाने के नियम बताते हैं।

टिप्पणी

बत्तीसवाँ अध्याय ध्रुवाध्याय है। अध्याय का आरंभ ध्रुवा लक्षण की चर्चा से आरंभ होता है। ध्रुवा जातियों को स्पष्ट करते हुए 110 प्रकार के ध्रुवा छंदों के नाम, रचना नियम तथा उनका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। ध्रुवा प्रयोग के नियम बताते हैं तथा अंत में ध्रुवा गायन के साथ वादन विधि पर भी प्रकाश डालते हैं। तैतीसवें अध्याय गायक-गायिकाओं के गुण दोषों एवं वाद्य-वादको के गुण दोषों का विवेचन है।

चौतीसवें अध्याय में अवनद्ध वाद्यों की उत्पत्ति के संबंध में प्रकाश डाला है। अवनद्ध वाद्यों को बजाने की 4 प्राचीन विधियों, पुष्कर संज्ञा की अनुकूलता का विवेचन किया है। वादन संबंधित करण व वादन की 18 विधियों का भी उल्लेख है। स्वयं नाट्य की उत्पत्ति में ही सामवेद से 'संगीत' तत्व के ग्रहण किये जाने का उल्लेख मिलता है। पाठ्य, संगीत, अभिनय और रस इन्हीं तत्वों से नाट्य की उत्पत्ति हुई है। यदि इस तथ्य को हम आधार मानें तो संगीत की अनिवार्यता को भारतीय रंगमंच का महत्वपूर्ण आधार माना जा सकता है।

ध्रुवागान

ध्रुवागान अर्थात नाटक में गाए जाने वाले गीत। विभिन्न छंदों से इनकी उत्पत्ति होती है। आचार्य भरत ने इनकी संख्या पाँच बतलाई है- प्रावेशिकी, आक्षेपिका, प्रसादिकी, अन्तरा और नैष्क्रमिणी। अब आइये इन्हें थोड़ा विस्तार से जानें।

प्रावेशिकी

नाटक का आरंभ होने पर पात्रों के प्रवेष के समय गाई जाने वाली ध्रुवा 'प्रावेशिकी' कहलाती है। इस गान से पात्र की प्रकृति, उसकी अवस्था और हाव-भाव का बोध दर्शकों को सहज ही हो जाता है। यह गीत रसों और अर्थों से परिपूर्ण होते हैं।

आक्षेपिका

'आक्षेप' का तात्पर्य है- क्रम को परिवर्तित करना। उदाहरण के लिए यदि दृश्य में करुण रस का प्रसंग है तो सहसा वीर रस का आक्षेप करना। इस प्रकार रसों में अंतर ला देने वाला गाान 'आक्षेपिका' कहा गया है। यह द्रुत और बिलंबित दो प्रकार का होता है।

नैष्क्रमिणी

अंक की समाप्ति पर जब पात्र मंच से प्रस्थान करते हैं, उस समय गाई जाने वाली ध्रुवा 'नैष्क्रमिणी' कहलाती है।

प्रासादिकी

किसी हाल ही में घटित घटना के बाद जब उसे तुरन्त गीत के रूप में प्रकट किया जाय तो यह रसों में अंतर ला देता है जिससे दर्शकों का मन प्रफुल्लित हो उठता है, ऐसे गीत को प्रासादिकी कहते हैं। इसमें पात्र के मन में चल रही मनःस्थिति को दर्शकों के सामने गीत के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है।

अन्तरा

अन्तरा का अर्थ है-बीच में। इस ध्रुवा का गान तब किया जाता है जब पात्र थक जाय, बेहोश जाय, संवाद भूल जाय या फिर अपनी वेशभूषा ठीक करने लग जाय ऐसे में 'अन्तरा' ध्रुवा का गान किया जाना चाहिए।

लोकनाट्य में संगीत

संस्कृत रंगमंच के पश्चात हमें लोकनाट्य रूपों के दर्शनन होते हैं। संयोग से इन नाट्यरूपों मे भी संस्कृत रंगमंच की ही भांति गायन, वादन, नर्तन की प्रमुखता रही है। अंतर केवल इतना था कि संस्कृत रंगमंच में शास्त्रीय संगीत का प्रयोग है जबकि लोक नाट्य परंपरा में यह क्षेत्रीय देशी-मार्गी संगीत में बदल गया।

विद्वान जगदीशचंद्र माथुर 'संगीतक' से ही जात्रा, माच, रासलीला, भागवतमेल, तमाशा, कूड़ियट्टम आदि की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। संगीतक में सहगान और सहवाद्य-वादन के साथ-साथ नृत्य, गीत, संवाद आदि का समन्वित रूप होता है। पंद्रहवीं सदी में शुभंकर के ग्रंथ में संगीतक का उल्लेख मिलता है। जिस प्रदर्शन में तालवाद्यों के अनुसार नटियाँ गाती हैं और रंगशाला में नृत्य प्रस्तुत करती हैं, उसे संगीतक कहा जाता है। संगीतक में गीत, वाद्य, नृत्य, रंगशाला और नट-नटी तत्व प्रमुख हैं। कालांतर में मध्य युग तक आते-आते इस संगीतक में संवाद का योग हुआ और भाषा संगीतक का प्रचलन आरंभ हुआ। 14वीं और 15वीं शताब्दी में संगीतक प्रयोग के अनेकों वर्णन मिलते हैं। ज्योतिरीश्वर ठाकुर, उमापति उपाध्याय, विद्यापति आदि ने मिथिला में और शंकरदेव, माधवदेव आदि ने असम में संगीतकों में संवाद का प्रयोग कर काव्य प्रस्तुतियों का प्रमुख माध्यम बनाया।

वास्तव में पूर्व मध्यकाल का यह समय संस्कृत नाटकों के पतन का समय था और भागवत धर्म के प्रति जनसमुदाय का विश्वास बढ़ता जा रहा था। कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक भागवत धर्म की लहर चली। भारत में तेजी से मुस्लिमों का साम्राज्य स्थापित हो रहा था। भागवत धर्म ने पीड़ित जनसमुदाय की भावना को पोषित किया और उनके संरक्षण की आस बधाई। इस संकटपूर्ण समय में लोक में आस्था, विश्वास और मनोरंजन एक बिंदु पर आकर सिमट गए। राजनैतिक तख्था पलट ने समाज में भारी सांस्कृतिक परिवर्तन कर दिया। आभिजात्य संस्कृत नाटक को आश्रय का अभाव होने लगा और जनसमुदाय के मध्य प्रदर्शनों

टिप्पणी

की संख्या बढ़ने लगी। भागवत धर्म के प्रभाव को जयदेव की रचना 'गीत गोविंद' ने बल दिया। इसमें जयदेव ने श्रीमद्भागवत के दसवें खंड के रास प्रसंग में संगीत-नृत्य का संयोजन कर एक प्रस्तुतिपरक रूप का प्रतिपादन किया। इसमें उन्होंने संवाद पद्धति का प्रयोग किया जिसमें संलाप और सूत्रधार प्रमुख थे। पहले सूत्रधार द्वारा मंगलाचरण किया जाता था और उसके बाद गीति संवाद। इस प्रस्तुति से प्रभावित होकर देश के अन्य भागों में भी गीतगोविंद मंदिरों और राजप्रसादों में खेले जाने लगें। इस प्रकार हम पाते हैं कि संगीतक की जो परंपरा आदि से चली आ रही थी, उसी ने परंपराशील लोकनाट्य रूपों के उदय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारतीय लोक ने विष्णु को अपना पालक माना और उन्हें ही इस विकट परिस्थितियों से उबारने का माध्यम माना। ऐसे में आरंभ से ही यशोगान, ऐतिहासिक-पौराणिक आख्यान प्रस्तुत करने वाली चारण, भाट आदि की संगीतक परम्परा ने लोकनाट्यों के लिए अनुकूल माहौल बनाया। जयदेव के प्रयोग ने भी अन्य संतों को ऐसे प्रयोग करने के लिए प्रेरित किया। आस्था और विश्वास से भरे वातावरण में राजनैतिक संघर्षो के कारण रंगमंच को अंततः कुछ राजप्रसादों और मंदिरों में आश्रय मिला। यही मंदिर उसके लिए प्रेक्षागृह बनें। प्रभु की लीला प्रदर्शन की कथावस्तु बनी और भक्तगण दर्शक समुदाय। इस तरह भारतीय रंगमंच में पारंपरिक धार्मिक लोकनाट्य अस्तित्व में आए।

इस प्रकार 1000 ई. से 1650 ई. तक कुटियट्टम, यक्षगाान, भागवतमेल, रासलीला, कीर्तनिया नाच और रामलीला जैसे धार्मिक लोकनाट्य का प्रादुर्भाव होता है जिसमें संगीत की प्रमुख भूमिका रही। दक्षिण में संस्कृत नाटक का पारंपरिक लोकनाट्यों में रूपांतरण होता है और फिर दक्षिण से प्रेरणा लेकर पूरे भारत में पारंपरिक धार्मिक लोकनाट्यों का प्रचलन आरंभ होता है।

18वीं सदी में मुगलों के ह्रास होते ही राजस्थान के शासकों को भाषा संगीतकों पर कार्य करने का अवसर मिला। 'तुर्राकलंगी' पद्य संवाद शैली के प्रभाव से 'माँच' का आरंभ हुआ। इसी शदी के प्रारंभ में 'ख्याल' का भी आरंभ हुआ। राजस्थान के ख्यालों में वीरगाथाओं और प्रेमकथाओं की प्रधानता और उनके संगीत में राजस्थानी लोकगीतों की धुनों और तालों का समावेश-ये दो विशेषताएँ उन्हें भक्ति-प्रधान-नाट्य शैलियों से पृथक सत्ता प्रदान करती है। यही बात मालवा के 'माँच' और पंजाब एवं हरियाणा के 'स्वाँग' और संगीत पर भी लागू होती है जिनका विकास इसी युग में हुआ।' कश्मीर के 'भांड़ जश्न' में सदफ भाँड़ नामक कलाकर के बाहर से आने का उल्लेख मिलता है। 'अलीशाह और हसनशाह ने कर्नाटक से कुछ गायकों को अपने दरबार में बुलाया और इसके फलस्वरूप अनेक कर्नाटक राग-रागनियाँ कश्मीर की 'मुकाम पद्धति' में सम्मिलित कर दी गई। परम्पराशील नाट्य के ऐतिहासिक विवेचन में बार-बार दक्षिण द्वारा उत्तर को प्रदत्त इस प्रकार के सांस्कृतिक नेतृत्व के सबूत मिलते हैं। इसके कुछ समय बाद सदफ भाँड़' नामक कलाकार बाहर से कश्मीर आया और उसने ही 'भाँड़ जश्न' नामक नाट्य-शैली को जारी किया।'

टिप्पणी

19वीं शताब्दी में देश में शांति होने व पश्चिम संस्कृति से संपर्क होने के कारण क्षेत्रीय स्तर पर नये प्रयोग हुए। नित नवीन शैलियों का उदय भी हुआ और पूर्व शैलियाँ भी कुछ परिवर्तनों के साथ होती रहीं।

पारसी रंगमंच में संगीत

औपनिवेशिक युग में आभिजात्य रंगमंच का पश्चिम शैली से प्रभावित रूप सामने आया। इस रंगमंच में भारतीय दर्शन से बिल्कुल ही अलग पश्चिमी संस्कृति की स्पष्ट छाप थी। हमारे भारतीय परंपरा का लक्ष्य रसानुभूति था जबकि पश्चिम रंगमंच का उद्देश्य जीवन के संघर्षों को मंच पर प्रस्तुत करना था। यदि हम पश्चिमी रंगमंच का अध्ययन करें तो पाएंगे कि ग्रीक से लेकर शेक्सपियर तक कथा की बुनावट, भाषा, विन्यास, प्रस्तुति शैली और अभिनय का स्वरूप भारतीय अवधारणा से परे थी। शेक्सपियर के अनंतर पश्चिम में अनेको प्रयोग हो रहे थे। यथार्थवादी रंगमंच के उदय होने से नृत्य, संगीत और नाट्यधर्मी युक्तियों के लिए कोई स्थान ही नही था।

भारतीय रंगमंच के इस तीसरे पड़ाव में हमें पारसी रंगमंच के दर्शन होते हैं। एक ऐसा रंगमंच जो पूरी तरह से चमत्कृत कर देने वाले दृष्यों से भरा था। नायक, नायिका और प्रतिनायक जैसे किरदारों से भरा हुआ था। संगीत इस रंगमंच का प्राण था। दु:ख, विरह, क्रोध, प्रेम-प्रणय, जैसे दृश्यों को गीतों के माध्यम से और प्रभावी बनाकर पेश किया जाता था।

पारसी नाटक कंपनियों पर अंग्रेजी नाटकों का गहरा प्रभाव है। पारसियों ने अंग्रेजी रंगमंच से अभिनय तकनीक और अन्य रंगमंचीय तकनीकों को ग्रहण किया। तड़क-भड़क और आकर्षक दृश्य योजना, विन्यास सब कुछ अंग्रेजी नाटकों की ही देन है।

बंबई से शुरू हुए पारसी रंगमंच ने कलकत्ता और दिल्ली को अपना केन्द्र बनाया था। आरंभ में पारसी रंगमंच साधनविहीन था किंतु धीरे-धीरे उन्होंने आवश्यक संसाधन जुटा लिये। अध्ययन से पता चलता है कि इन नाटक कंपनियों के पास अद्‌भुत विशेष प्रभाव उत्पन्न करने वाले यंत्र हुआ करते थें। डॉ. रामजन्म शर्मा इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि 'इनके द्वारा देवों को हवा में उड़ते हुआ दिखाया जाता था, नायक को महल की दीवार से नदी में छलांग लगाते हुए दिखाया जाता था, परियों को आकाश से उतरते हुए दिखाया जाता था।' प्रभाव उत्पन्न करने के इस तकनीक ने दर्शकों को चमत्कृत कर दिया। इन आकर्षक प्रभावों को देखने लोग टिकट लेकर जाया करते थे। भारतीय दर्शकों के लिये ये अलग अहसास था।

पारसी नाटक कंपनी में निर्देशक, नाटककार, अभिनेता, डिजायनर आदि वैतनिक रूप से रखे जाते थें। स्त्री पात्रों का अभिनय पुरुष अभिनेता ही किया करते थे। बाद में इसके प्रसिद्धि को देखते हुए नर्तकियों ने भी भाग लेना आरंभ किया। आरंभिक काल में इन कंपनियों ने शेक्सपियर के नाटकों को अंग्रेजी, गुजराती भाषा में प्रस्तुत किया। बाद में हिंदी, उर्दू और

फारसी मिश्रित हिंदुस्तानी भाषा का प्रयोग होने लगा। इनके संवादों में संगीत का सशक्त प्रयोग, शेरो-शायरी, सशक्त कार्यव्यापार के कारण चुस्ती दुरुस्ती हुआ करती थी। नाटकों में हास्य कथा भी नियोजित हुआ करती थी। नाटक अंकों में विभक्त होते थें। पारसी नाटकों के प्रदर्शन प्रायः 9-10 बजे रात से आरंभ होते और 3-4 बजे तक चला करते थें। नाटक की शुरूआत मंगलाचरण से होती। मंच पर युद्व, प्रेम, शौर्य, सुख, दुख, हर्ष आदि के रोचक दृश्य होते थें। दृश्य बंध अत्यंत प्रभावी हुआ करते थें। सफल नाटक तो महीने भर चला करते थे।

पारसी रंगमंच में संगीत की अहम भूमिका थी। इनकी प्रस्तुतियों में संगीत नाटक को ऊर्जा से भर दिया करता था। शेरो-शायरी की तर्ज पर संवादों की अदायगी, दृश्य के अनुकूल गीत व नृत्य और नाटक के प्रभाव को आंदोलित करते हुए वाद्य यंत्रों का प्रयोग प्रमुख था।

पाठगत प्रश्न 15.1

1. नाटक में संगीत का प्रयोग कब किया जाता है?

   ....

2. नाट्यशास्त्र में संगीत पर आधारित कितने अध्याय हैं?

   ....

3. वाद्ययंत्रों को कितने वर्गों में विभक्त किया गया है?

   ....

4. ताल संबंधित चर्चा नाट्यशास्त्र के किस अध्याय में है?

   ....

5. गायक और गायिकाओं के गुण-दोष की चर्चा किस अध्याय में है?

   ....

6. ध्रुवागान क्या है?

   ....

7. नैष्क्रमिणी ध्रुवागान क्या है?

   ....

टिप्पणी

8. लोकनाट्यों में प्रयुक्त संगीत किस पद्धति पर आधारित हैं?

....

9. शुभंकर के अनुसार संगीतक क्या है?

....

10. लोकनाटकों के प्रमुख तत्व क्या हैं?

....

11. राजस्थान के ख्याल गायकी की क्या विशेषता है?

....

12. पारसी रंगमंच में संगीत की क्या भूमिका थी?

....

15.2 रंगसंगीत की प्रकृति

संगीत का उद्भव नाटक की उत्पत्ति के साथ नहीं हुआ है बल्कि नाटक से पूर्व मानव सभ्यता के आरंभ के साथ-साथ संगीत धीरे-धीरे विकसित हुई है। यह मानव की संवेदनाओं, भावनाओं को अभिव्यक्त करने की एक सशक्त कला है। रंगमंच भी जीवन के विभिन्न रंगों को मंच पर एकाकार कराता है। ऐसे में संगीत एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

संगीत किसी भी नाट्य प्रस्तुति का आंतरिक भाग होता है, जिसका प्रयोग दृश्य के भाव को उद्दीप्त करनें, पार्श्व ध्वनि के माध्यम से दृश्य परिवर्तन करने आदि के लिए किया जाता है। हम जब भी कोई फिल्म या नाटक देखते हैं तो उसमें कभी (लाइव) या फिर कभी रिकॉर्डेड संगीत का इस्तेमाल किया जाता है।

नाटक में संगीत का प्रयोग निम्नलिखित रूप में किया जाता है-

1. नाटक के थीम को प्रस्तुत करने के लिये (थीम म्यूजिक)

यह संगीत प्राय: नाटक में अलाप के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जिस प्रकार फिल्मों में थीम म्यूजिक का प्रयोग होता है उसी प्रकार नाटकों में भी। इस संगीत के लिए प्राय: नाटक के मुख्य भाव को आधार बनाया जाता है। यदि नाटक का मुख्य उद्देश्य दर्शकों में जोश भरना है तो ऐसे में थीम संगीत भी इसी प्रकृति का होगा। इसी प्रकार यदि

नाटक का मुख्य भाव धार्मिक या फिर किसी ईष्ट की वंदना हो तो थीम म्यूजिक का संयोजन भी उसी अनुरूप होगा।

2. नाटक के दृश्यों को एक दूसरे से जोड़ने के लिए (लिंकिंग म्यूजिक)

हम जानते हैं कि नाटक कई दृश्यों की श्रृंखला होती है। दृश्यों के परिवर्तन में आने वाले अंतराल को भरना निर्देशक अभिनेताओं के लिए एक बड़ी चुनौती होती है। ऐसे में यह संगीत नाटक के दृश्यों को एकसूत्रता में बाँधनें का कार्य करती हैं। इससे दृश्य परिवर्तन में लगने वाले समय को भरा जाता है। प्रत्येक दृश्य का एक मूल भाव होता है। ऐसे में एक दृश्य के भाव से दूसरे दृश्य के भाव में अंतरण के लिए इस संगीत का प्रयोग किया जाता है।

3. किसी चरित्र के प्रवेश के लिए (इंट्रो म्यूजिक)

हर चरित्र की अपनी एक विशेषता होती है। इस विशेषता को ही ध्यान में रखकर यह संगीत किया जाता है। उदाहरण के लिए अंधायुग नाटक को ही लीजिए। इस नाटक में जब कृष्ण का आगमन होता है तो आप किस प्रकार उनके प्रवेश को रोचक बनाएंगे। संभव है आप बाँसुरी की एक विशेष धुन का प्रयोग करेंगे।

4. नाटक में विशेष प्रभाव के लिए (इफेक्ट)

नाटक में किसी दृश्य को विशेष रूप से प्रभावी बनानें के लिये इस संगीत का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए युद्ध आदि के दृश्यों को प्रभावी बनाने के लिए नगाड़ा, तुरही, दुंदुभी आदि का वादन। श्रृंगार के दृश्यों के लिए सितार जैसे मधुर वाद्य यंत्रों का प्रयोग। इस प्रकार परिस्थिति के अनुकूल संगीत के माध्यम से एक विशेष प्रभाव पैदा किया जाता है।

5. भाव के साथ गायन (सिंगिंग विद एक्सप्रेसन)

इस प्रकार के गीत पात्रों के मनोभाव को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। यह प्रायः व्याख्या (नरेशनन) के लिए प्रयुक्त होता है। कभी-कभी अभिनेता भी पात्र के भावों को अभिव्यक्त करने के लिए गायन करते हैं। इन गीतों में चरित्र के मनोभावों पर विशेष बल दिया जाता है।

6. अभिनेता के कार्यकलाप के लिए (मूवमेंट)

यदि मान लीजिए कि एक चरित्र किसी वस्तु के पीछे दौड़-भाग कर रहा है तो उसके कार्यकलाप के माध्यम से दिखाई देने वाले भाग-दौड़ को ढोलक अथवा ड्रम की तीव्र लय से और भी प्रभावी बनाया जा सकता है। इसी प्रकार युद्ध, प्रेम, दुख आदि की

टिप्पणी

स्थिति में बजने वाले संगीत को भी कार्यकलापों के लिए प्रयुक्त संगीत के रूप में देखा जा सकता है। ।

7. चरित्र विशेष के लिए (करेक्टट म्यूजिक)

यदि आपने फिल्में देखी हैं तो कल्पना कीजिए कि जब खलनायक प्रवेश करता है तो पार्श्व में कौन-सा संगीत उभरता है। यह संगीत खलनायक चरित्र को रूपायित करता है। इसी प्रकार किसी नाटक में देवता के प्रवेश पर शंख, घंटी आदि का बजाया जाना भी इसी रंगसंगीत श्रेणी में आएगा।

15.3 रंगसंगीत और नाट्यमंचन

संगीत नाटक की रचनाधर्मिता को उत्सवधर्मी रूप प्रदान करता है। मध्ययुग में परम्पराशील नाट्यरूपों के उदय में भी संगीतक की विशेष भूमिका रही। प्रसिद्ध विद्वान जगदीशचंद्र माथुर का मत है कि-'जात्रा, माच, रासलीला, भागवतमेल, तमाशा, कुड़ियट्टम इत्यादि सभी संगीतक के परवर्ती रूप हैं।' संगीतक में नृत्य, गीत, वाद्य, संवाद ये सभी महत्वपूर्ण अवयव थें। परम्पराशील नाट्यरूपों के प्रदर्शन का अवलोकन कर संगीत तत्व के महत्वपूर्ण पक्ष का आकलन किया जा सकता है। क्या नौटंकी को उसकी गायकी से विलग कर देख जा सकता है? क्या महाराष्ट्र के तमाशा से लावणी गायन आदि का विलोप कर इसकी कल्पना की जा सकती है? संभवत: नहीं। वास्तव में गायकी पद्धतियों ने ही इन कलारूपों को जीवंत बनाए रखने की कोशिश की है।

वास्तव में गीत मानव मन की अंतर्यात्रा है। शब्दों को छंदो में ढालकर गीत का शरीर तैयार किया जाता है। छंदबद्ध रचना, लयात्मकता और संगीतात्मकता से ही गीतों का अस्तित्व होता है। नाटक मे गीतों के प्रयोग को महत्वपूर्ण माना जाता है। नाटक में गीतों के प्रकारों को इन रूपों मे देखा जा सकता है-

1. कथानक को आगे बढ़ाने वाले गीत

प्राय: नाटक में कई ऐसी सूचनाएँ होती हैं जिन्हें दृश्य रूप में प्रस्तुत नही किया जाता क्योंकि यदि इन्हें दृश्य रूप में प्रस्तुत किया जाय तो नाटक में अवांछित विस्तार हो सकता है। ऐसे में गीतों की योजना की जाती है ताकि उन सूचनाओं को रोचक तरीके से दर्शकों तक प्रेषित किया जा सके।

2. रस को चरम तक ले जाने वाले गीत

नाटक के दृश्यों में भावों की उपस्थिति होती है। दर्शक उन भावों को अनुभूत कर रस का आनंद लेता है। गीतों की योजना उस रस के आनंद की प्रक्रिया को और भी तीव्र कर देती है जिससे दर्शक रस की चरम स्थिति का अनुभव करता है।

3. पात्र के अंतर्मन को स्पष्ट करने वाले गीत

नाट्यमंचन में गीतों की कुछ ऐसी योजना भी की जाती है जिससे पात्र के मनोभावों को भी रेखांकित किया जा सके। उदाहरण के लिए यदि नायक नायिका के विरह में है तो इस स्थिति में उसकी विरह वेदना को अभिव्यक्त करने के लिए गीतों की योजना की जाती है।

4. नाटक में स्वाभाविकता लाने वाले गीत

कभी-कभी नाटक में स्वाभविकता लाने के लिए भी गीतों की योजना की जाती है। मंचन के दौरान यह स्वाभाविकता लाने के लिए क्षेत्रीय धुनों का भी प्रयोग किया जाता है।

पाठगत प्रश्न 15.1

1. थीम म्यूजिक क्या है?

....

2. लिंकिंग म्यूजिक क्या है?

....

3. म्यूजिक इफेक्ट क्या हैं?

....

4. संगीतक के अवयव क्या है?

....

5. कथानक को गीत कैसे आगे बढ़ाते हैं?

....

6. पात्रों के लिए गीतों की क्या आवश्यकता हैं?

....

15.4 रंगसंगीत का रस से संबंध

आचार्य भरत ने रसनिष्पत्ति सूत्र में कहा है- विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। यहाँ विभाव का तात्पर्य स्थायी भाव के कारण से है अर्थात जिन कारणों से स्थायी भाव की उत्पत्ति होती है। इनके दो भेद हैं-आलंबन और उद्दीपन। **आलंबन**- जिसमें भाव अवलंबित होता है और **उद्दीपन**- जो भावों को उद्दीप्त अर्थात मात्रा में वृद्धि करता है। कल्पना कीजिए कि नायक नायिका के वियोग में गीत गा रहा है। इस दृश्य में नायक का करूण स्वर प्रधान गीत, संगीत और विलाप की ध्वनियाँ दर्शकों के हृदय में स्थित वियोग रति को और भी उद्दीप्त करेंगी।

अभिनवगुप्त ने भी कहा है कि गीतध्वनि से भी रस की अभिव्यक्ति होती है। **'गीताभ्त्रदिशब्देभ्योऽपि रसाभिव्यक्ति'** अर्थात जिस प्रकार वाचक शब्द वाक्यार्थ-बोधन के पश्चात व्यंग्यार्थ-बोध कराते हैं, उसी प्रकार गेय स्वर भी अपने स्वरूप-बोधन के पश्चात भाव या रस का बोध कराते हैं। इस प्रकार प्राचीन आचार्य गीत-ध्वनि को रस का अभिव्यंजक मानते हैं।'

रसकौमुदीकार श्रीकण्ड का कहना है कि गीत, काव्य और नाट्य-ये तीनों निरपेक्ष रूप से रस के उद्‌गम स्थान हैं। लेकिन काव्य की अपेक्षा गीत-ध्वनि का क्षेत्र अधिक व्यापक है क्योंकि काव्य को तो केवल सहृदय व्यक्ति ही कर सकता है जो उसे समझे लेकिन गीत के माध्यम से एक बालक भी आनंद ले सकता है। इस प्रकार संगीत किसी नाटक में दृश्य के मनोभावों को और भी प्रभावी ढंग से दर्शकों को अनुभूत कराता है।

शब्दों के साथ स्वर, लय और ताल मिलकर रस की सृष्टि करते हैं। साहित्य की छंदोबद्ध रचना जब ताल और लय के साथ बंध जाती है तो उस रचना से रस की धारा बह उठती है। ताल की विविध गतियाँ स्वरों के साथ भी और उनके बिना भी रस पैदा कर सकती हैं। हम जानते हैं कि साहित्य में नौ रसों का उल्लेख है-शृंगार, वीर, हास्य, वीभत्स, करुण, भयानक, रौद्र, अद्‌भुत और शांत।

संगीत में ताल और लय को विभिन्न रसों से संबंधित माना गया है। जैसे- मध्य लय का संबंध हास्य और शृंगार से है। विलम्बित लय वीभत्स और भयानक से तथा द्रुत लय वीर, रौद्र और अद्‌भुत रस की उत्पत्ति करता है।

रस के जाग्रत होने के लिए आवश्यक है कि दर्शक के हृदय में बसे स्थायी भावों का प्रदर्शित किये जाने वाले विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से संयोग हो। तभी दर्शकों को आनंद की अनुभूति होती है। संगीत इसी प्रक्रिया को तीव्र करता है, भावों को और भी उद्वेलित करते हुए। उदाहरण के लिए यदि मंच पर नायक और नायिका का मिलन हो रहा है तो उस दृश्य में गाये जाने वाले गीत, बजाए जाने वाले वाद्ययंत्रों के सम्मिलित प्रयोग से वह दृश्य दर्शकों को रोमांच का अनुभव कराता है और दृश्य को अलंकृत करता है।

टिप्पणी

15.5 रंगसंगीत और साधारणीकरण

मनोविकारों के शमन की अवधारणा भारतीय रंगदर्शन में भी प्राप्त होती है। आचार्य भट्टनायक ने रस पर विमर्श करते हुए 'साधारणीकरण के सिद्धांत' का प्रतिपादन किया है। भट्टनायक के अनुसार काव्य के तीन तत्व हैं-अभिधा, भावना और रसचर्वणा अर्थात भोग। वे मानते हैं कि रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है। वस्तु और अलंकार ध्वनि रस में ही परिवर्तित होते हैं। इस प्रकार भट्टनायक के अनुसार अभिधा केवल वाच्यार्थ अर्थात कहे जा रहे शब्द का अर्थ होता है, भावकत्व व्यापार के द्वारा साधारणीकरण करता है और उसके बाद ही भोजकत्व व्यापार के द्वारा रस का आनंद लिया जाता है। भट्टनायक ने भरत के रससूत्र में निर्दिष्ट 'संयोग' पद का अर्थ भोज्य-भाजक-भाव सम्बन्ध और 'निष्पत्ति' पद का आर्थ 'भुक्ति' माना है। उनके मतानुसार विभावादि के द्वारा भोज्य-भाजक भाव संबंध से रस की निष्पत्ति होती है अर्थात सामाजिक द्वारा रस का भोग किया जाता है। रस भोग के लिए उन्होंने अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व नामक दो नवीन व्यापारों को स्वीकार किया है। इनमें अभिधा के द्वारा काव्य का अर्थ समझा जाता है अर्थात अभिधा द्वारा उत्पन्न अर्थ व्यक्ति विशेष से संबद्ध होता है। फिर भावकत्व व्यापार उस अभिजन्य अर्थ को परिष्कृत कर व्यक्ति विशेष से उसका संबंध हटाकर साधारणीकरण कर देता है। भाव यह है कि भावकत्व व्यापार के द्वारा साधारणीकृत विभावादि व्यक्ति विशेष के संबंध से उन्मुक्त होकर सामाजिक से संबद्ध हो जाते हैं, तब उनमें व्यक्तिगत विशेषताएँ नहीं रह जातीं। इस प्रकार भावकत्व व्यापार के द्वारा विभावादि के साधारणीकरण हो जाने पर भोजकत्व व्यापार उस साधारणीकृत रत्यादि स्थायी का रस के रूप में भोग करवाता है। भाव यह है कि भट्टनायक के अनुसार भाव्यमान (साधारणीकृत) रत्यादि स्थायीभाव सामाजिकों के हृदय में स्थित रजस् एवं तमस् अभिभूत करके सत्वगुण का उद्रेक होने से वेद्यान्तरसम्पर्क शून्य भोजकत्व व्यापार से आस्वादित किया जाता है।' इस प्रकार साधारणीकरण एक ऐसी अवस्था हो जाती है जिसमें व्यक्तित्व का विलयन तथा असाधारण का साधारणीकरण होता है। इस प्रकार मनोविकारों का सामान्यीकरण हो जाता है।

जब भी दर्शक किसी प्रेक्षागृह में नाटक के प्रदर्शन का आस्वादन करने पहुंचता है तो उस समय उसके हृदय में तरह-तरह के सांसारिक जीवन के मनोविकार उमड़ते रहते हैं। वह दर्शक दीर्घा में अपना स्थान ग्रहण करता है। नाट्य प्रस्तुति आरंभ होती है। थर्ड बेल के साथ ही दर्शक का चित्त अपने सांसारिक जीवन से खींचकर प्रस्तुति पर केन्द्रित हो जाता है। नाट्यारंभ का पहला संगीत दर्शकों को भावनात्मक रूप से प्रस्तुति से जोड़ देता है। अभिनेता मंच पर अभिनय करते हैं, विविध प्रकार से सुरों के उतार-चढ़ाव के साथ संवाद कहते हैं, गायक दल द्वारा गायन-वादन होता है और उस संगीत पर अभिनय कर्म होता है। ऐसे में दर्शक मंच पर स्थित चरित्रों के साथ अपना 'स्व' स्थापित कर लेता है। चरित्र के हँसने, रोने, दुखी होने, हर्षोल्लास में में नृत्य के साथ दर्शक भी हंसते हैं, रोते हैं, दुःखी होते हैं और नाचते हैं। इस प्रक्रिया में दर्शकों के मनोविकार चरित्र की क्रियाओं के साथ ही तिरोहित हो जाते हैं। तभी तो दुःख के दृश्य को देखकर दर्शक की आँखों से आँसू निकलने लगते हैं और उनका मन

टिप्पणी

हल्का हो जाता है। इस पूरे विरेचन प्रक्रिया में संगीत इस भावनात्मक जुड़ाव की प्रक्रिया को बढ़ाकर दर्शकों भावनाओं को उच्च स्तर पर ले जाता है जहाँ दर्शक के मन के विकार तिरोहित हो जाते हैं और उसे ब्रहमानंद की अनुभूति होती है। उसका मस्तिष्क नाना प्रकार के तनावों से मुक्त हो जाता है। अरस्तू का 'विरेचन सिद्धांत' और भट्टनायक का 'साधारणीकरण सिद्धांत' इसी प्रक्रिया को स्पष्ट करता है।

पाठगत प्रश्न 15.3

1. काव्य की आत्मा क्या है?

....

2. गीत-ध्वनि रस के अभिव्यंजक कैसे हैं?

....

3. साधारणीकरण सिद्धांत किसकी देन है?

....

4 साधारणीकरण क्या है?

....

15.6 आधुनिक रंगसंगीत

आधुनिक युग में पूर्व और पश्चिम संस्कृति के मेल होने से कलाओं में भारी परिवर्तन हुए। रंगमंच में आए यथार्थवाद ने रंगमंच की संरचना को एक नया आयाम दिया। यथार्थवादी नाटकों को दृष्टिगत रखते हुए संगीत संयोजन किया जाने लगा। यथार्थवाद और प्रयोगवादी अवधारणा ने रंगमंच में प्रयोग किये जाने वाले सोद्देश्य संगीत को रंगसंगीत की संज्ञा दी। वास्तव में रंगसंगीत का तात्पर्य किसी नाट्यप्रस्तुति में दृश्य-विशेष के लिए अथवा संपूर्ण नाटक के लिए तैयार की गई संगीतबद्ध रचना से है जिसमें गायन, वादन के साथ ध्वनि प्रभाव भी सम्मिलित हैं। कभी-कभी पूरा नाटक ही संगीत रचना पर आधारित होता है और कभी-कभी दृश्यों के आवश्यकतानुसार संगीत संयोजन किया जाता है। संगीत पार्श्व ध्वनि के माध्यम से दृश्य परिवर्तन करने आदि के लिए किया जाने लगा। इसका स्वरूप कभी जीवंत (लाइव) तो कभी रिकॉर्डेड हुआ।

टिप्पणी

यह तथ्य विचारणीय है कि आरंभ से लेकर अब तक रंगमंच में संगीत की भूमिका इतनी विशिष्ट क्यों बनी हुई है? वास्तव में रंगमंच अपनी प्रकृति में मूलत: दृश्य-श्रव्य माध्यम है। दृश्य में वे सभी तत्व है जो मंच पर दिखाई देते हैं जिसमें अभिनेता का शरीर और उस पर आरोपित साजो-सामान सभी सम्मिलित हैं और श्रव्य का संबंध ध्वनि से है जो नाट्य में संगीत से ही साध्य है। ऐसे में अभिनेता का स्वर भी संगीत के दायरे में आता है। इसीलिए यथार्थवाद के निर्देशक व सिद्धांतकार स्तानिस्लाव्स्की अभिनेता के संवाद को भी संगीत ही मानते हैं। शब्द श्रोता मस्तिष्क में स्मृतिजन्य काल्पनिक बिंब का निर्माण करता है, ध्वनि प्रकार उस चित्र को आकार प्रदान करती है और संगीत उस चित्र में रंग (भाव) भरती है। ऐसे में वह काल्पनिक बिंब भावपूर्ण हो उठता है। रंगमंच रंगों (भावों) की श्रव्यता को दृश्यत्व प्रदान करता है। इस प्रकार वो भाव मंच और दर्शक हृदय में साकार हो उठते हैं।

आधुनिक भारतीय रंगमंच में ब.व. कारंत, हबीब तनवीर, मोहन उप्रेती, जब्बार पटेल, सतीश आलेकर, बंसी कौल, संजय उपाध्याय जैसे निर्देशकों के नाटकों को देखा जा सकता है। ब. व. कारंत ने ध्वनि विन्यास पर बल दिया। वे भारतीय रंगमंच में लोक रंगमंच की अनिवार्यता के संबंध में कहते भी हैं- ''भारतीय संगीत और रंगमंच की चर्चा करनी हो तो तमाशा, यक्षगान, भवई वगैरह के अलावा भला हम किस भारतीय रंगमंच की बात कर सकते हैं।' इन्हीं की तरह रंगमंच के कई निर्देशकों ने रंगमंच की शैलियों और उनके स्वरूप के साथ प्रयोग किये। कभी उन्होंने लोकसंगीत का प्रयोग किया तो कभी लोकधुनों पर आधारित गीतों की रचना की। किसी ने शास्त्रीय संगीत से प्रेरणा लेकर नाटक में संगीत को एक विशेष प्रकार से प्रयोग किया।

आजादी के बाद रंगमंच को सर्वाधिक प्रभावित करने वाले निर्देशकों में हबीब तनवीर का नाम भी आता है। उन्होंने यथार्थवादी रंगमंच से अलग हटकर लोकनाट्य रूपों को मुख्य धारा में लाकर आधुनिकता की एक नई व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके रंगमंच में भी संगीत की अहम भूमिका थी। उनके अभिनेता जो कि छत्तीसगढ़ के नाचा कलाकार थे, संगीत में भी अभिनय करने में दक्ष थें। वे कभी सामूहिक रूप से गाते और अचानक ही चरित्र में तब्दील हो जाते। वे नाटक में चल रहे कार्यव्यापार में न बंधकर गीत, संगीत और नृत्य से युक्त उत्सव के माहौल को भी रंगमंच पर खड़ा कर देते। उन्होंने लोकसंगीत का नाटक के अनुकूल पुर्नप्रयोग किया। आगरा बाजार में मेले, मदारी और हिजड़ों का नृत्य चरनदास चोर में पंथी नृत्य और राउत नाचा, हिरमा की अमर कहानी में आदिवासियों का नृत्य आदि कुछ ऐसे ही अवसर थे। वे अपने रंगमंच में संगीत के माध्यम से गंभीर और त्रासदी से भरे प्रभाव को हल्का करते और दर्शकों को सोचने पर मजबूर करते।

रंगसंगीत की दुनिया में ब.व.कारंत का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। यथार्थवादी नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' में अल्काजी द्वारा प्रयोग की गई ध्वनियों ने 'रंगमंच में ध्वनियों की महत्वपूर्ण भूमिका' से कारंत का परिचय करवाया। वे कहते हैं-''यह अविस्मरणीय

अनुभव था: झींगुरों की आवाज, सरपट दौड़ते घोड़ों की लयबद्ध ध्वनि, गरजती हवा, सभी एक साथ संगीत की तरह मिश्रित थें। उस दृश्य में मल्लिका बिल्कुल अकेली है, किसी प्रकार का कोई संगीत नहीं, बस एक छोटा सा दीपक। विशुवती लता धीरे-धीरे लहरा रही है जैसे जीवन की अनिश्चितता का प्रतीक हो-अनिश्चितता जैसा कि जैसा कि झींगुरों की आवाज से लगातार इंगित किया जा रहा है। उसके जीवन में कुछ भी नया नहीं है: वह दूसरों के लिए प्रेरणा है पर उसे प्रेरित करने वाला कोई नहीं है। यह सब मेरे लिए नया था और यह तब था जब रंगमंच में मुझे ध्वनि के महत्व का आभास हुआ। नाटक के उस निर्माण में मैंने 'एसराज' बजाया जो मैंने बनारस में यहाँ आने से पहले सीख था। यह पहला अवसर था जब कारंत जी नें अल्काजी के निर्देशन में यथार्थवादी अभिनय सिद्धांतों के अनुप्रयोग के तहत तैयार किये गए नाटक में ध्वनि संयोजन किया था। पंचानन पाटक, जो कि गीत के जानकार थे, वे संगीत, स्पीच, टंग ट्विस्टर तथा 'क्रांति के गीत' सिखाते थे। नेमिचंद्र जैन स्वयं पाश्चात्य नाटक पढ़ाया करते थे। स्वयं एक लेखक होने के नाते वे नाटक की प्रत्येक पंक्ति को बिल्कुल ही अलग तरीके से व्याख्यायित करते थे। कारंत जी इस बात से अत्यंत प्रभावित थे।

अपनी प्रस्तुति बरनम वन में उन्होंने यक्षगान के संगीत का प्रभावी प्रयोग किया। वे मानते है कि शेक्सपियर के नाटकों में उच्च महत्वाकांक्षाओं और गहरे अनुभव के पात्र और क्षण हैं इसलिए वे यक्षगान के मूवमेंट (गतियों) के अनुरूप हैं। साथ ही यक्षगान की भारी और तड़क-भड़क पादगतियों (स्टेप्स) से मेल खाती हैं। इसके अनुसार ही उन्होंने मेकबेथ की गति के लिए यक्षगान के कुछ मूवमेंट्स को लिया। शिवराम कारंत ऐसे कई प्रयोग किये- विभिन्न लय का इस्तेमाल, इरादतन, घुटनों पर चारों ओर घूमना- यह आक्रात्मकता दिखाने के लिए उपयोग किया गया। इस तरह के अनेकों प्रयोग ब.व.कारंत ने अपने नाटकों में किये। उनकी दृष्टि में प्रत्येक ध्वनि रंगमंच में प्रयोग की जा सकती थी।

आपने क्या सीखा

- यदि हम रंगमंच की दोनों ही धाराओं को देखें तो संगीत के नाट्य में कई स्वरूप दिखाई देते हैं। वास्तव में रंगसंगीत का संबंध किसी नाट्यप्रस्तुति में दृश्य विशेष के लिए अथवा संपूर्ण नाटक के लिए तैयार की गई संगीतबद्ध रचना से है।

- आचार्य भरत मुनि के द्वारा लिखे गये 'नाट्यशास्त्र' में संगीत के संबंध में एक वृहद चर्चा मिलती है। नाट्य में संगीत कैसा हो? इस संबंध में आचार्य भरत ने विस्तार से चर्चा कीहै।

टिप्पणी

- नाट्यशास्त्र में ध्रुवा गान की चर्चा मिलती है। ध्रुवा गान अर्थात नाटक में गाए जाने वाले गीत। विभिन्न छंदों से इनकी उत्पत्ति होती है। आचार्य भरत ने इनकी संख्या पाँच बतलाई है- प्रावेशिकी, आक्षेपिका, प्रसादिकी, अन्तरा और नैष्क्रमिणी।

- नाट्यरूपों में भी संस्कृत रंगमंच की ही भांति गायन, वादन, नर्तन की प्रमुखता रही है। अंतर केवल इतना था कि संस्कृत रंगमंच में शास्त्रीय संगीत का प्रयोग है जबकि लोक नाट्य परंपरा में यह क्षेत्रीय देशी-मार्गी संगीत में बदल गया।

- त्रासदी का आरंभ स्त्रोत रचनाओं से हुआ है और प्रहसनों का फूहड़ गीतों से। यह स्त्रोत डायोनिसस देवताओं की उपासना मे गाये जाते थे। डायोनिसस उत्सव में उपासक त्रेगोद (गोट सांग) गाया करते थे। इन्हीं गीतों में अभिनय का योग कर नाटकों की रचना हुई।

- नाटक में संगीत का प्रयोग निम्नलिखित रूप में किया जाता है- नाटक के थीम को प्रस्तुत करनें के लिये (थीम म्यूजिक), नाटक के दृश्यों को एक-दूसरे से जोड़ने के लिए (लिंकिंग म्यूजिम), किसी चरित्र के प्रवेश के लिए (इंट्रो म्यूजिक), नाटक में विशेष प्रभाव के लिए (इंफेक्ट), भाव के साथ गायन (सिंगिंग विद इफेक्ट), अभिनेता के कार्यकलाप के लिए (मूवमेंट), चरित्र विशेष के लिए (करेक्टर म्यूजिक)

- आचार्य भट्टनायक ने रस पर विमर्श करते हुए 'साधारणीकरण के सिद्धांत' का प्रतिपादन किया है।

- संगीत किसी नाटक में दृश्य के मनोभावों को और भी प्रभावी ढंग से दर्शकों को अनुभूत कराता है।

- आधुनिक रंगमंच में संगीत का अभिप्राय केवल गायन, वादन नहीं अपितु इससे भी बढ़कर ध्वनियों के दृश्य अनुकूल प्रयोग से है। इसके अंतर्गत अभिनेता के द्वारा कहे जाने वाले संवाद भी आते हैं।

- ब.व, कारंत आधुनिक रंगमंच का एक ऐसा नाम है जिन्होंने रंगसंगीत पर गहरी चर्चा कीहै।

पाठान्त प्रश्न

1. रंगसंगीत से आप क्या समझते हैं।

2. नाट्यशास्त्र में संगीत की क्या चर्चा है?

3. रंगमंच में गीतों की योजना के बारे में आप क्या जानते हैं?

4. संगीत और रस का क्या संबंध हैं?

5. साधारणीकरण क्या है?

6. आधुनिक रंगमंच में रंगसंगीत का प्रयोग कैसे किया गया।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

15.1

1. मनोभावों और मन:स्थितियों को उभारकर अनुभूति योग्य बनाने हेतु

2. नाट्यशास्त्र में संगीत की चर्चा छः अध्यायों में की गई है।

3. तत्, अवनद्ध, घन और सुषिर

4. ताल से संबंधित चर्चा नाट्यशास्त्र के इकतीसवें अध्याय में की गई है।

5. गायक-गायिकाओं के गुण दोष की चर्चा तैंतीसवें अध्याय में की गई है।

6. नाटक में गाए जाने वाले गीत ही ध्रुवागान हैं।

7. अंक की समाप्ति पर पात्र के मंच से प्रस्थान के समय गाया जाने वाला गीत ही नैष्क्रमिणी गीत है।

8. लोकनाट्य में प्रयुक्त संगीत देशी-मार्गी पद्धति पर आधारित होता है।

9. शुभंकर के अनुसार जिस प्रदर्शन में ताल वाद्यों के अनुसार नटियाँ गाती हैं और रंगशाला में नृत्य प्रस्तुत करती हैं उसे संगीतक कहा जाता है।

10. लोकनाट्य के प्रमुख तत्व संगीत और नृत्य हैं।

11. राजस्थान के ख्याल गायकी में वीर और प्रेम गाथाओं की प्रधानता, संगीत में राजस्थानी लोकगीतों की धुनों और तालों का प्रयोग होता है।

12. प्रस्तुतियों में संगीत नाटक को ऊर्जा से भर दिया करता था। शेरो-शायरी की तर्ज पर संवादों की अदायगी, दृश्य के अनुकूल गीत व नृत्य और नाटक के प्रभाव को आंदोलित करते हुए वाद्य यंत्रों का प्रयोग प्रमुख था।

15.2

1. यह संगीत प्राय: नाटक में अलाप के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जिस प्रकार फिल्मों में थीम म्यूजिक का प्रयोग होता है उसी प्रकार नाटकों में भी। इस संगीत के लिए प्राय: नाटक के मुख्य भाव को आधार बनाया जाता है।

2. यह संगीत नाटक के दृश्यों को एकसूत्रता में बाँधने का कार्य करती हैं। इससे दृश्य परिवर्तन में लगनें वाले समय को भरा जाता है।

3. नाटक में किसी दृश्य को विशेष रूप से प्रभावी बनानें के लिये इस संगीत का प्रयोग किया जाता है।

4. संगीतक में नृत्य, गीत, वाद्य, संवाद ये सभी महत्वपूर्ण अवयव हैं।

5. प्राय: नाटक में कई ऐसी सूचनाएँ होती हैं जिन्हें दृश्य रूप में प्रस्तुत नही किया जाता क्योंकि यदि इन्हें दृश्य रूप में प्रस्तुत किया जाय तो नाटक में अवांछित विस्तार हो सकता है। ऐसे में गीतों की योजना की जाती है ताकि उन सूचनाओं को रोचक तरीके से दर्शकों तक प्रेषित किया जा सके।

6. नाट्यमंचन में गीतों की कुछ ऐसी योजना भी की जाती है जिससे पात्र के मनोभावों को भी रेखांकित किया जा सके। उदाहरण के लिए यदि नायक नायिका के विरह में है तो इस स्थिति में उसकी विरह वेदना को अभिव्यक्त करने के लिए गीतों की योजना की जाती है।

15.3

1. रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है।

2. जिस प्रकार वाचक शब्द वाक्यार्थ-बोधान के पश्चात व्यंग्यार्थ-बोध कराते हैं, उसी प्रकार गेय स्वर भी अपने स्वरूप-बोधान के पश्चात भाव या रस का बोध कराते हैं। इस प्रकार प्राचीन आचार्य गीत-ध्वनि को रस का अभिव्यंजक मानते हैं।

3. भट्टनायक

4. साधारणीकरण एक ऐसी अवस्था हो जाती है जिसमें व्यक्तित्व का विलयन तथा असाधाारण का साधारणीकरण होता है। इस प्रकार मनोविकारों का सामान्यीकरण हो जाता है।

टिप्पणी

16

नवरस साधना

भारतीय कला और साहित्य में रस एक ऐसी विशिष्ट मनोदशा के रूप में चित्रित किया गया है जिसमें प्रेक्षक आनंद का अनुभव करता है। कला का मुख्य उद्देष्य भी यही माना गया है– **'कं लाति आनंदे इति कला'** अर्थात जिससे आनंद की प्राप्ति हो वही कला है। आनंद का अनुभव तभी किया जा सकता है जब रस का अभ्युदय होता है। ऐसे में कला प्रदर्शन के माध्यम से इसी रस को साधने का उपक्रम किया जाता है। रंगमंच के संदर्भ में तो रस अत्यंत ही आवश्यक है। अभिनेता के लिए तो रस की साधना विशेष रूप से जरूरी है।

नाट्य प्रदर्शन के दौरान प्रेक्षक कैसे सौंदर्य का अनुभव करता है? इस मानसिक प्रक्रिया को लेकर समय-समय पर संस्कृत मनीषियों और विद्वानों ने चर्चा की है। उन्होंने यह महसूस किया कि इस सौंदर्यशास्त्र पर गहन चिंतन किया जाना चाहिए। आचार्य भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में रसों और भावों की विशद व्याख्या की है। कालांतर में विद्वानों ने सूक्ष्म से सूक्ष्म स्तर पर रसों के व्यवहार पर प्रयोग आरंभ किया। इस अध्याय में रसों के व्यवहारिक प्रयोग में दक्षता प्राप्त करने हेतु अभिनेताओं के लिए निर्मित 'नवरस साधना' की चर्चा करेंगे।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप–

- नवरस साधना को जानते हैं;
- नवरस साधना और नाट्य प्रस्तुति में भाव-भंगिमाओं की प्रस्तुति को समझते हैं; और
- नवरस साधना का नाट्य प्रस्तुति में महत्व को जानते हैं।

16.1 रस और भाव

नाट्य प्रदर्शन में अभिनेता विभाव, अनुभाव, संचारी भाव और सात्विक भावों के द्वारा दर्शकों के हृदय में परिवर्तनशील रति आदि स्थायी भाव जागृत होते हैं उनका आस्वादन किया जाता है। यही रस है। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में रस की विस्तार से चर्चा की है। भारतीय प्रदर्शन कलाओं के लिए भरत द्वारा प्रतिपादित रस सिद्धांत एक बहुमूल्य देन है। हालांकि नाट्यशास्त्र में यह भी उल्लेख मिलता है कि रस की परंपरा नाट्य शास्त्र से पूर्व भी विद्यमान थी। यह तो अवश्य है आरंभ से ही साहित्य और प्रदर्शनकारी कलाओं के संबंध में निरंतर रस पर विचार किया जाता रहा है। रस की प्रमुखता को रेखांकित करते हुए आचार्य भरत स्वयं कहते हैं-**'नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तये'** अर्थात बिना रस ज्ञान के किसी भी नाटक में वर्णित विभाव आदि को जानना कठिन होता है।

टिप्पणी

वास्तव में नाट्यशास्त्र की विवेचना के मुख्य चार विषय ही रहे हैं। रस अभिनय, संगीत और नृत्य में भरत की दृष्टि में अत्यंत महत्वपूर्ण है। ये सभी रस की अभिव्यक्ति के लिए साधन मात्र ही है। आचार्य भरत ने रस की संख्या आठ मानी है। कुछ विद्वान इनकी संख्या 9 स्वीकार करते हैं जो इस प्रकार है-

1. **श्रृंगार**-श्रृंगार रस का स्थायी भाव 'रति' है और इसके दो प्रकार होते हैं- संयोग और वियोग। इसमें नायक और नायिका के मध्य प्रेम क्रीड़ाओं का प्रदर्शन होता है। वियोग श्रृंगार में निराशा के भाव से नायक का जीवन दुःख में बना रहता है लेकिन इसी के साथ- साथ एक आशा के साथ बंधे होने से नायिका के प्रति प्रेम भाव भी बना रहता है।

2. **हास्य**- हास्य का स्थायी भाव हास होता है। इसमें अवहित्था, आलस्य और तंद्रा जैसे संचारी भाव मुख्य रूप से होते हैं। इसके दो भेद हैं-आत्मत्स्थ और परस्थ। हास्य प्रायः संक्रमणशील प्रवृत्ति वाला होता है। मानव के स्वभाव के अनुसार इस के 6 भेद आचार्य भरत ने बताए।

3. **करुण**- करुण रस का स्थायी भाव शोक है। बंधुओं के नाश और अर्थ के नाश से करुण रस की प्रतीति होती है। इसमें निर्वेद जैसे संचारी भाव होते हैं।

4. **रौद्र**- रौद्र रस का स्थायी भाव 'क्रोध' है। अंग, वाक्य और रचना के आधार पर यह भी तीन प्रकार के होते हैं।

5. **वीर**- वीर रस का स्थायी भाव 'उत्साह' है। इसमें धृति, स्मृति जैसे संचारी भाव मुख्य रूप से विद्यमान होते हैं। इसके मुख्यतः तीन प्रकार बतलाए गए हैं- दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर।

6. **भयानक**- भयानक रस का स्थायी भाव 'भय' है। इसमें स्तंभ, वेद जैसे व्यभिचारी भाव होते हैं। यह दो स्वरूप वाला होता है स्वाभाविक और कृत्रिम। नीच पुरुष और कम उम्र के पात्रों में स्वाभाविक और उत्तम प्रकृति के व्यक्तियों में कृत्रिम भय रहता है।

7. **वीभत्स**- वीभत्स रस का स्थायी भाव 'जुगुप्सा' है। इसमें अपस्मार, उद्वेग जैसे संचारी भाव होते हैं। यह शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार का होता है।

8. **अद्‌भुत**- अद्‌भुत रस का स्थायी भाव 'विस्मय' है। इसमें स्तंभ अश्रु जैसे संचारी भाव होते हैं। इसके दो भेद हैं- दिव्य और आनंद से उत्पन्न।

9. **शांत**- नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में शांत रस को लेकर भी विचार किया गया है। आचार्य वामनभट्ट ने जो कि नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार थे। उन्होंने शांत रस को नौवें रस के रूप में स्वीकार किया है। अभिनवभारती में यह उल्लेख मिलता है कि शांत रस सभी रसों का मूल है या प्रमुख रस है। आचार्य भरत ने 8 रसों को ही स्वीकार

टिप्पणी

किया है। वो रंगमंच पर शांत रस के प्रदर्शन को असंभव मानते हैं इसीलिए वह इसकी चर्चा नाट्यशास्त्र में नहीं करते किंतु कालांतर में शांत रस को नौवें रस के रूप में स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार 9 प्रकार के रसों की चर्चा हमें साहित्य और कला जगत में मिलती है।

भाव

आचार्य भरत के अनुसार विभाव, अनुभाव और संचारी भाव का संयोग स्थायी भाव से होता है तब रस की निष्पत्ति होती है। रस और भाव का गहरा संबंध है। रस के बिना भाव का कोई औचित्य नहीं है और भाव के बिना रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती। भाव मन में उठते लहरों की तरह हैं। इन भावों को साहित्यकार अथवा अभिनेता अपनी रचनाओं के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। आचार्य भरत ने मुख्यत: भावों को चार वर्गों में विभक्त किया है-स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव।

स्थायी भाव प्रेक्षागृह में बैठे दर्शकों के हृदय में स्थायी रूप से विद्यमान होता है इसीलिए इन्हें स्थायी भाव कहा जाता है। प्रत्येक रस का अपना एक स्थाई भाव होता है जैसे- शृंगार का रति, हास्य का हास, रौद्र का क्रोध आदि।

विभाव का संबंध उन कारणों से हैं जिनके परिणाम स्वरूप स्थायी भाव की उत्पत्ति होती है। यह दो प्रकार के होते हैं- आलंबन और उद्दीपन। आलंबन का अभिप्राय उन चरित्रों वस्तुओं आदि से है जिन पर स्थाई भाव पूरी तरह केंद्रित होता है। इसके दो भेद होते हैं- एक आश्रय, जिस व्यक्ति के मन में भाव जागृत हो रहे हैं वह आश्रय है। और विषय वह है जिसे देखकर आश्रय के मन में भाव जागृत हो रहे हैं। इसी प्रकार उद्दीपन के अंतर्गत सभी वस्तुएं या चेस्टाएँ समाहित हैं जो भावों को बढ़ाने या उद्दीप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

अनुभाव का संबंध आश्रय की बाहय शारीरिक क्रियाओं के अनुभावन से है। इसके चार प्रकार बतलाए गए हैं- कायिक, मानसिक, आहार्य और सात्विक। इसी प्रकार आश्रय के मन में परिस्थिति के अनुरूप उठने और तिरोहित होने वाले अस्थिर मनोभावों को संचारी भाव कहा गया है। ये भाव सदैव ही हृदय में विद्यमान होते हैं। अवसर पाकर ये पानी के बुलबुले की तरह बनते-बिगड़ते रहते हैं। इनकी संख्या 33 बतलाई गई है।

इस प्रकार जब दर्शक नाट्य प्रदर्शन का आस्वादन करता है तो उसके हृदय में स्थित स्थायी भावों का मंचस्थ पात्रों के द्वारा किये जारहे प्रदर्शन में उपस्थित विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का अनुभव किया है। इस प्रकार रस की यह प्रक्रिया सम्पन्न होती है।

नाट्यशास्त्र में अभिनय और रस

अभिनय की सृष्टि और अनुभूति में रस बहुत ही महत्वपूर्ण है। कोई भी नाट्य प्रस्तुति तभी सफल होती है जब दर्शक रस की अनुभूति कर पाता है। रस की प्रक्रिया में भावों का विशेष

योगदान है। अभिनेता अक्सर इन भावों का प्रदर्शन करता है। इस भाव प्रदर्शन में अंग, उपांग और प्रत्यंग महत्वपूर्ण होते हैं। विशेषकर- दृष्टि और हस्ताभिनय। भरत ने दृष्टि के आठ भेद बताए हैं। नाट्यशास्त्र में इन दृष्टि भेदों को दर्शन भेद कहा गया है और साथ ही निर्देश दिया गया है कि विभिन्न रसों तथा भावों के अनुसार उनका प्रयोग करना चाहिए। आचार्य भरत ने दृष्टि अभिनय के अंतर्गत रस, स्थायी और संचारी तीनों को मिलाकर छत्तीस प्रकार बताए हैं।

आचार्य भरत ने दृष्टियों (आँख) को रस और भावों का वाहक माना है। इस हेतु उन्होंने रसज्ञा दृष्टि की 08, स्थायी भावज्ञा दृष्टि की भी 08 और संचारी भावज्ञा दृष्टि की संख्या 20 मानी है। रसज्ञा दृष्टियों के आठ प्रकारों- कांता, भयानका, हास्या, करूणा, अद्‌भुता, रौद्रा, वीरा और वीभत्सा का उल्लेख मिलता है। यह आठ दृष्टियाँ आठ रसों की अभिव्यक्ति करती हैं। स्थायी भावों की अभिव्यंजक दृष्टियों में -स्निग्धा, हृष्टा, दीना, दृप्ता, भयान्विता, जुगुप्सिता, क्रुद्धा तथा विस्मिता की चर्चा है। साथ ही बीस प्रकार की संचारी भावजा दृष्टियों के लक्षण व उनके विनियोग का वर्णन है- शून्या, मलिना, भ्रांता, लज्जान्विता, ग्लाना, शंकिता, विषण्या, मुकुला, कुचिता, अभितप्ता, जिह्मा, सुललिता, वितर्किता, अर्धमुकुला, विभ्रांता, विलुप्ता, अकेकरा, विकोशा, त्रस्ता और मदिरा। इस प्रकार दृष्टि की कुल 36 भंगिमाओं के प्रयोग की चर्चा की गई है। इन दृष्टियों का व्यवहारिक प्रयोग कब और कैसे किया जाना चाहिए, इसके संबंध में भरत ने निश्चित निर्देश दिये हैं।

नेत्र के तीन प्रत्यंग माने गये हैं- पुत्तलिका, पलक और भौंह। इन प्रत्यंगों की क्रियाओं के साथ दृष्टि अभिनय का प्रदर्शन संभव होता है। अतएव भरत ने इन प्रत्यंगों की क्रियाओं का भी विस्तार से वर्णन किया है। पुत्तलियों और पलकों की गतियों के साथ होने वाली भौंह की क्रियाओं की संख्या सात बताई गई है। इस प्रकार पुत्तलिका, पलकों और भौंह के एक साथ संचालन के साथ दृष्टि अभिनय संपन्न होता है।

हमारे सिर के उपांगो में नेत्र के अलावा नसिका, कपोल, अधर, चिबुक और मुख भी होते हैं जो मुखज अभिनय के महत्वपूर्ण माध्यम हैं। हमारे सिर के उपांगो में नेत्र के अलावा नसिका, कपोल, अधर, चिबुक और मुख भी होते हैं जो मुखज अभिनय के महत्वपूर्ण माध्यम हैं। भरत ने नसिका चेष्टाओं के लक्षण बतलाते हुए विभिन्न भाव प्रदर्शन में इनके प्रयोग की भी चर्चा की है। आगे वे कपोल (गाल) मुद्रा के लक्षण का वर्णन करते हुए दुख, प्रसन्नता, उत्साह एवं अभिमान, क्रोध एवं प्रसन्नता, रोमांच, स्पर्श, ठंडक, भय एवं ज्वर की अवस्था में कपोल के प्रयोग की बात कही है। साथ ही ओष्ठ कर्म के लक्षण व उनका प्रयोग मिलता है। दाँत, ओष्ठ एवं चिबुक के संदर्भ में में चिबुक चेष्टा के सात चेष्टाओं के लक्षण बताए गए हैं। इसके अनंतर वे मुख चेष्टा के लक्षण व उनके प्रयोग बतलाते हैं।

रस भावों के संदर्भ में मुख के रंग का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि शाखा, अंग, डपांगो के साथ किया हुआ अभिनय चाहे कितना भी भव्य हो बिना मुखराग के वह पूर्ण नहीं बनता। स्थिति के अनुसार मुख के चार वर्ण बताए गए हैं- 1 स्वाभाविक, 2 प्रसन्न, 3 रक्त एवं 4

टिप्पणी

श्याम। आचार्य भरत ने सहज अवस्था एवं राग शून्यता के अभिनय में सहज मुखवर्ण, अद्‌भुत, हास्य एवं श्रृंगार रस के अभिनय में प्रसन्न, वीर, रौद्र एवं करुण रस के प्रदर्शन में रक्तवर्ण तथा भयानक व वीभत्स रस के अवसर पर मुख के श्याम वर्ण के प्रयोग का उल्लेख किया।

आचार्य भरत ने हस्तमुद्राओं की सामान्य विधियाँ बतलाते हुए कहा है- अभिनेता के द्वारा हस्तमुद्राओं को उनकी आकृति, गतिविधि, चिन्ह तथा जाति को स्वयं के अनुभव से देखकर प्रयुक्त करना चाहिए। संसार में ऐसा कोई हाथों का कार्य ही नहीं जो किसी अर्थ को न बतलाता हो किंतु जिस हस्त का जो स्वरूप (या कार्य) अनेक बार देखा गया है, उसे ही मैने यहाँ बतलाया है। इनके अतिरिक्त जो अन्य अर्थों से सम्बद्ध लोक सामान्य हस्त हों उन्हें भी रस तथा भावों की सूचक चेष्टाओं के साथ स्वेच्छानुसार प्रयुक्त करना चाहिए। ये हस्तमुद्राएँ पुरुषों तथा विशेषत: स्त्रियों के द्वारा देश, काल, प्रयोग तथा योग्यता को देखकर प्रयुक्त किया जाय। नाट्यप्रदर्शन के अवसर पर रस तथा भावों के संदर्भ में हाथ की 20 चेष्टाओं का भी उल्लेख आचार्य भरत ने विस्तार से किया है।

उपर्युक्त विवरण से यह बात स्पष्ट है कि एक अभिनेता रस को ही लक्ष्य करके अपने शारीरिक अभिनय, वाचिक अभिनय, आहार्य और अन्य अभिनय तत्वों को साधता है। आचार्य भरत भी अभिनय की चर्चा इसी रस को ध्यान में रखकर करते हैं। अक्सर अभिनेता द्वारा किये जाने वाले सभी अभिनय अभ्यास नवरस को ध्यान में ही रखकर किये जाते हैं।

पाठगत प्रश्न 16.1

1. रस क्या हैं?

   ....

2. नाट्यशास्त्र में कितने प्रकार के रसों की चर्चा की गई है?

   ....

3. रस की निष्पत्ति कैसे होती है?

   ....

4. स्थायी भाव क्या है?

   ....

5. संचारी भाव क्या है?

   ....

टिप्पणी

6. अभिनय का मुख्य लक्ष्य क्या है?

....

7. नौ रस कौन-कौन से हैं?

....

16.2 नवरस साधना

वास्तव में नवरस साधना का संबंध अभिनेताओं के लिए विकसित एक अभिनय पद्धति की प्रणाली से है। रस भारतीय परंपरा की एक ऐसी देन है जिसे साधकर कुशलतापूर्वक अपने अभिनय से दर्शकों को सौंदर्य अनुभूति की प्रक्रिया में डुबोकर आनंद का अनुभव कराया जा सकता है। माना जाता है कि तमिल व्याकरण और काव्यशास्त्र पर एक प्रारंभिक पुस्तक तोल्काप्पियाम, तोल्काप्पियार द्वारा लिखी गई थी। तोल्काप्पियम में वास्तव में तीन पुस्तकें हैं-एझुट्टादिकारम, सोलादिकारम और पोरुलादिकारम। पुस्तक संगम युग के समाज को ब्राह्मणों, राजाओं, व्यापारियों और किसानों के रूप में चार जातियों में विभाजित करती है, इसकी तीसरी पुस्तक पोरुलादिकरम है। यह तमिल भाषा को सेंटामिल और कोडुंटामिल में भी विभाजित करता है। सेंटामिल के प्राचीन व्याकरण पाठ तोलकाप्पियम में भी मन की आठ भावनाओं को मिप्पतु एस अर्थात शरीर के द्वारा अभियक्त किये जाने के रूप में चर्चा की गई है। जैसे-नकाई (हास्य), अलुकाई (दुःख), इलीवरल (विनम्रता), मरुलकाई (आश्चर्य), अक्कम (भय), पेरुवितम (वीर) आदि।

केरल की नाट्य परंपरा में कई सैकड़ों वर्षों से अभिनय के प्रशिक्षण के लिए स्थाई भावों जिन्हें भावएस कहा जाता था। इनका प्रयोग किया जाता था। कुड़ियट्टम जोकि संस्कृत नाट्य के आखिरी अवशेष माने जाते हैं इनमें रस के प्रशिक्षण प्रक्रिया का एक लंबा इतिहास मिलता है। आठ रसों को कैसे प्रदर्शित किया जाए, इनके प्रयोग और इनकी व्याख्या की परंपरा रही है। इन्हीं को ध्यान में रखकर अभिनय की तकनीक विकसित की गई थी। कोडुंगलुर कोविलकम से जुड़े हुए विद्वानों ने नवरस को लेकर प्रयोग और खोजें भी की थीं। ये प्रायः कुड़ियाट्टम और कथकली के कलाकारों के लिए कलारी का आयोजन करते थे। नवरस साधना के माध्यम से अभिनेता अपने बुनियादी भावों को रोजमर्रा के अभ्यास के माध्यम से साधते थे।

नवरस साधना की तकनीक के संबंध में जी.वेणु का नाम अत्यंत महत्वपूर्ण है। उनका जन्म वर्ष 1956 में हुआ था। उन्होंने 11 वर्ष की उम्र में ही कला साधना की शुरुआत की। डेढ़ से भी अधिक दशक उन्होंने प्रदर्शन के लिए उपयुक्त नाट्य मुद्राओं हेतु स्वयं को तैयार किया। अगले तीस वर्ष उन्होंने लुप्त होती कलाओं के उत्थान में लगाये। उन्होंने कक्कारिसी नाटकम्, कुड़ियाट्टम, मुदियट्टू, पदायनी, थोलपावकुत्थु को लेकर विशेष कार्य किया। इस प्रक्रिया में

टिप्पणी

उन्होंने स्वयं को एक कुड़ियाट्टम अभिनेता के रूप में प्रशिक्षित किया। उन्होंने बाद के वर्षों में एक कुड़ियाट्टम अभिनेता के रूप में कार्य किया। कुड़ियाट्टम के अभिनेता के रूप में उन्होंने युरोपीय देशों की कई यात्राएँ भी कीं।

कोडुंगलुर कलारी से जी. वेणु का परिचय तीस वर्ष पहले हुआ था। कोडुंगलुर के शाही परिवार के सदस्य भागवतार कुंजूनि थमपुरन संगीत और अभिनय के विद्वान थे। वे अपनी अभिनय तकनीक को स्वरवायु कहा करते थे। नतनकैराली में इस स्वरवायु तकनीक को आगे बढ़ाते हुए 'अभिनय कलारी' नामक एक प्रशिक्षण केंद्र का आरंभ किया था। जी.वेणु भी इस तकनीक से गुजरे थे।

2010 के बाद उन्होंने प्रदर्शन छोड़ दिया क्योंकि उन्होंने यह महसूस किया कि बढ़ती उम्र के साथ वे पहले पहले की तरह क्रिया कर पाने में सक्षम नहीं। इसी दौर में उन्होंने एक शिक्षक का कर्तव्य निभाना आरम्भ किया। नेत्र और हाथों पर दीर्घ कार्यशाला के आयोजन और कोडुंगलुर कलारी में शोध कर उन्होंने नवरस साधना की एक नवीन अभिनय प्रशिक्षण पद्धति विकसित की।

नेत्र और हस्त का अध्ययन व प्रयोग

वर्ष 2001 में जापान फाउंडेशन की एक कार्यशाला परियोजना को दिल्ली के सांस्कृतिक संगठन सांस्कृतिक प्रवाह के माध्यम से स्वीकृति मिली। इसका नेतृत्व विद्वान प्रेमलता पुरी ने किया था और जी. वेणु कार्यशाला के निदेशक थे। गुरु अम्मानूर माधव चक्यार इस परियोजना के नाट्याचार्य थे। प्रतिष्ठित कथक प्रतिपादक शोवना नारायणन और कला समीक्षक और विद्वान शांता सर्बजीत सिंह सलाहकार बोर्ड में थे।

इस परियोजना के तहत तीन साल तक जी. वेणु ने 'नेत्र और हस्त' प्रयोग (आंख और हाथ) का अध्ययन किया। उन्होंने केरल के सभी जीवित गुरुओं से संपर्क किया। कार्यशाला में भाग लेने के लिए कुछ गुरु नतनकैराली आए। इन तीन वर्षों के दौरान गुरुओं द्वारा कई कक्षाएँ आयोजित की गईं। कथकली के गुरु, कीझपदम कुमारन नायर, कलामंडलम रामनकुट्टी नायर और कवुंगल चतुन्नी पणिकर के सत्र आयोजित किए गए। कथकली कलाकार सदानम कृष्णनकुट्टी और वीपी रामकृष्णन नायर ने भी कक्षाएं लगाईं। तेय्यम के 'कन्नेझुथु' (आंख की मूवमेंट) पर लक्ष्मण पेरुवन्नन द्वारा गुरु अम्मनूर माधव चक्यार, किदंगूर राम चक्यार और अम्मनूर कुट्टन चक्यार के नेतृत्व में कुटियाट्टम में सत्र आयोजित किए गए थे। आचार्य गिरीश कुमार का श्रीविद्या से परिचय, श्रीविद्या की दास मुद्रा पर लक्ष्मणन गुरुक्कल द्वारा महीने भर चलने वाली प्रायोगिक कक्षाएँ, स्वामी हरिओम आनंद द्वारा 'योग-विद्या में नेत्र और मुद्रा' पर कक्षाएं और आयुर्वेद में आंखों की सुरक्षा पर सत्र स्वामी राधाकृष्ण चौतन्य द्वारा रचित ये सभी तीन साल की इस लंबी खोज का हिस्सा थे।

तीन साल की इस लंबी परियोजना के समापन को चिह्नित करने के लिए आयोजित एशियाई

संगोष्ठी में थाईलैंड के प्रतिष्ठित नर्तक जेसी फांको, जापानी फॉर्म कामिगाता माई के कलाकार कीन योशिमुरा और नर्तक डॉ पद्मा सुब्रह्मण्यम ने भाग लिया। समापन समारोह के साथ कुटियाट्टम, कथकली, मुडियेट्टू, मोहिनीअट्टम और नांगियारकूथु के प्रदर्शन भी आयोजित किए गए।

नवरस साधना के अंतर्गत नेत्र और हाथ (नेत्र और हस्त) पर इस दीर्घकालिक कार्यशाला और कोडुंगल्लूर कलारी में जी. वेणु की खोज ने नवरस साधना के अभिनेता प्रशिक्षण पद्धति के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। वास्तव में नवरस साधन अभिनेताओं के प्रशिक्षण की एक प्रणाली नहीं है जो कोडुंगल्लूर कलारी में मौजूद थी। यह कुटियाट्टम का भी हिस्सा नहीं है। हालांकि, यह कुटियाट्टम की कुछ तकनीकों का स्वतंत्र उपयोग करता है। कुटियाट्टम के सिद्धांतों का कड़ाई से पालन करते हुए नवरस साधना का अभ्यास करना संभव नहीं है।

साधना की वर्तमान प्रणाली को एक तरह से संहिताबद्ध किया गया था ताकि विभिन्न विधाओं के कलाकार नौ रसों के अभ्यास को अपने नियमित अभ्यास में शामिल कर सकें। अब तक किसी ने भी नवरस पर कोई चर्चा नहीं की थी कि क्या नवरस साधना का अभ्यास करने से विभिन्न शैलियों के कलाकारों को अपने व्यक्तिगत रूपों की विशिष्टता को बनाए रखने में कोई समस्या होगी। कुटियाट्टम, भरतनाट्यम, कथक, कुचिपुड़ी, मोहिनीअट्टम, रंगमंच और सिनेमा सहित शैलियों के कलाकार अब तक नवरसा साधना प्रशिक्षण का हिस्सा रहे हैं।

पाठगत प्रश्न 16.2

1. सेंटामिल के किस प्राचीन व्याकरण में आठ भावों की चर्चा है?

   ....

2. भाव एस क्या है?

   ....

3. रस साधना का अभ्यास किस नाट्य परंपरा में मिलता है?

   ....

4. कोडुंगलुर कोविलकम क्यों महत्वपूर्ण है?

   ....

5. कलारी का आयोजन किसलिए किया जाता था?

   ....

6. जी.वेणु कौन हैं?

....

7. अभिनय कलारी क्या है?

....

8. नवरस साधना किस अंग पर केन्द्रित है?

....

9. नवरस साधना का वर्तमान प्रणाली से क्या संबंध है।

....

आपने क्या सीखा

- नाट्य प्रदर्शन में अभिनेता विभाव, अनुभाव, संचारी भाव और सात्विक भावों के द्वारा दर्शकों के हृदय में परिवर्तनशील रति आदि स्थायी भाव जागृत होते हैं उनका आस्वादन किया जाता है यही रस है।
- शारीरिक मुद्राओं से अभिप्राय शरीर की उन विशिष्ट भंगिमाओं से है जिनसे एक नियत भाव अथवा अर्थ प्रेक्षक तक संप्रेशित किया जाता है।
- नाट्यशास्त्र में रस को ध्यान में रखकर ही आंगिक अभिनय के अंतर्गत शरीर के मुख्य अंगों की क्रियाओं और मुद्राओं की विस्तार से चर्चा की है।
- रस के बिना भाव का कोई औचित्य नहीं है और भाव के बिना रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती।
- भाव मन में उठते लहरों की तरह हैं। इन भावों को साहित्यकार अथवा अभिनेता अपनी रचनाओं के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। आचार्य भरत ने मुख्यत: भावों को चार वर्गों में विभक्त किया है–स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव।
- मुखज अर्थात मुखमंडल के उपांगो–आँख, भवें, कान, अधर, कपोल और ठोड़ी आदि की विभिन्न चेष्टाओं एवं मुद्राओं के द्वारा ही मुखाभिनय की प्रक्रिया संपन्न होती है। रस साधना के अंतर्गत नेत्र पर विशेष रूप से अभ्यास किया जाता है।
- नवरस साधना में नेत्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नाट्यशास्त्र में भी इन दृष्टि भेदों को दर्शन भेद अर्थात देखने के तरीके कहा गया है। विभिन्न रसों तथा भावों के अनुसार उनका प्रयोग करना चाहिए। दृष्टि अभिनय के अंतर्गत रस, स्थायी और संचारी तीनों को मिलाकर छत्तीस प्रकार बतलाए गए हैं।

- सेंटामिल के प्राचीन व्याकरण पाठ तोलकाप्पियम में भी मन की आठ भावनाओं को मिप्पतु एस अर्थात शरीर के द्वारा अभियक्त किये जाने के रूप में चर्चा की गई है।
- कुड़ियट्टम जोकि संस्कृत नाट्य के आखिरी अवशेष माने जाते हैं इनमें रस के प्रशिक्षण प्रक्रिया का एक लंबा इतिहास मिलता है।
- कोडुंगलुर कोविलकम से जुड़े हुए विद्वानों ने नवरस को लेकर प्रयोग और खोजें भी की थीं। ये प्राय: कुड़ियाट्टम और कथकली के कलाकारों के लिए कलारी का आयोजन करते थे। नवरस साधना के माध्यम से अभिनेता अपने बुनियादी भावों को रोजमर्रा के अभ्यास के माध्यम से साधते थे।
- नवरस साधना की तकनीक के संबंध में जी.वेणु का नाम अत्यंत महत्वपूर्ण है।
- नवरस साधना के अंतर्गत नेत्र और हाथ (नेत्र और हस्त) पर इस दीर्घकालिक कार्यशाला और कोडुंगल्लूर कलारी में जी. वेणु की खोज ने नवरस साधना के अभिनेता प्रशिक्षण पद्धति के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

पाठान्त प्रश्न

1. रस से क्या अभिप्राय है?
2. भाव के विषय में बतलाइए?
3. जी.वेणु द्वारा किये गये नवरस साधना प्रयोग के विषय में बतलाइए?
4. नवरस साधना में नेत्र और हस्त पर चर्चा कीजिए?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

16.1

1. नाट्य प्रदर्शन को देखकर दर्शकों को जिस आनंद की अनुभूति होती है वहीं रस है।
2. नाट्यशास्त्र में आठ रसों की चर्चा की गई है।
3. जब दर्शक के हृदय में स्थित स्थायी भाव का विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से योग होता है तब रस की निष्पत्ति होती है।

4. वह भाव जो दर्शक के हृदय में स्थायी रूप से विद्यमान होते हैं।

5. आश्रय के मन में परिस्थिति के अनुरूप उठने और तिरोहित होने वाले अस्थिर मनोभावों को संचारी भाव कहा गया है। ये भाव सदैव ही हृदय में विद्यमान होते हैं। अवसर पाकर ये पानी के बुलबुले की तरह बनते-बिगड़ते रहते हैं।

6. अभिनय का मुख्य उद्देश्य रस सृष्टि है।

7. नौ रस हैं- श्रृंगार, हास्य, वीर, करुण, रौद्र, अद्‌भुत, वीभत्स, भयानक और शांत।

16.2

1. सेंटामिल के प्राचीन व्याकरण पाठ तोलकाप्पियम में भी मन की आठ भावनाओं की चर्चा है।

2. केरल की नाट्य परंपरा में कई सैकड़ों वर्षो से अभिनय के प्रशिक्षण के लिए स्थाई भावों जिन्हें भावएस कहा जाता था।

3. कुड़ियट्टम और कथकली की परंपरा में रस साधना का उल्लेख मिलता है।

4. कोडुंगलुर कोविलकम से जुड़े हुए विद्वानों ने नवरस को लेकर प्रयोग और खोजें भी की थीं। ये प्राय: कुड़ियाट्टम और कथकली के कलाकारों के लिए कलारी का आयोजन करते थे।

5. कोडुंगलुर कोविलकम प्राय: कुड़ियाट्टम और कथकली के कलाकारों के लिए कलारी का आयोजन करते थे। नवरस साधना के माध्यम से अभिनेता अपने बुनियादी भावों को रोजमर्रा के अभ्यास के माध्यम से साधते थे।

6. नवरस साधना की तकनीक के संबंध में जी.वेणु का नाम अत्यंत महत्वपूर्ण है।

7. नतनकैराली में स्वरवायु तकनीक को आगे बढाते हुए 'अभिनय कलारी' नामक एक प्रशिक्षण केंद्र का आरंभ किया था।

8. नवरस साधना में नेत्र और हस्त का विशेष योगदान है।

9. नवरस साधना की वर्तमान प्रणाली को इस तरह से नियोजित किया गया है कि विभिन्न विधाओं के कलाकार नौ रसों के अभ्यास को अपने नियमित अभ्यास में शामिल कर सकें।

17

मुद्राभिनय एवं मुखाभिनय

भारतीय रंगमंच में शारीरिक मुद्राएँ और मुखाभिनय पर गहन चर्चा की गई है। आचार्य भरत द्वारा रचित नाट्यशास्त्र में मुद्राभिनय और मुखाभिनय की विस्तृत चर्चा आंगिक अभिनय के अंतर्गत मिलती है। अंग, उपांग, प्रत्यंग द्वारा किया जाने वाला अभिनय आंगिक अभिनय कहा गया है। नाट्यशास्त्र में इसके तीन भेद बताए गए हैं-शारीरक अर्थात शरीर के प्रमुख अंग-सिर, हाथ, कटि, पार्श्व, पैर आदि की चेष्टाओं एवं मुद्राओं द्वारा प्रदर्शित अभिनय, मुखज अर्थात मुखमंडल के उपांगो-आँख, भवें, कान, अधर, कपोल और ठोड़ी आदि की विभिन्न चेष्टाओं एवं मुद्राओं द्वारा प्रदर्शित अभिनय तथा चेष्टाकृत का तात्पर्य है-पूरे शरीर द्वारा मनोगत भावों या बाह्य चेष्टाओं द्वारा किया जाने वाला अभिनय। आचार्य भरत ने तीनो प्रकार के आंगिक अभिनय भेदों का सूक्ष्म से सूक्ष्म वर्णन करते हुए शरीर के प्रमुख अंगों की विशिष्ट मुद्राओं का उल्लेख किया है। साथ ही इस बात पर भी मुख्य रूप से जोर दिया है कि इन मुद्राओं का प्रयोग कब और कैसे किया जाना चाहिए। इस अध्याय में हम इसी बात की चर्चा करेंगे।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप-

- मुद्राभिनय को जानते हैं;
- मुद्राभिनय का नाट्य प्रस्तुति में अनुप्रयोग को समझते हैं;
- मुद्राभिनय के नाट्य प्रस्तुति में महत्व को जानते हैं;
- मुखाभिनय के विषय में जानते हैं; और
- नाट्यप्रस्तुति में मुखाभिनय के महत्व को जानते हैं।

17.1 नाट्यशास्त्र में वर्णित शारीरिक क्रियाएँ व मुद्राएँ

शारीरिक मुद्राओं से अभिप्राय शरीर की उन विशिष्ट भंगिमाओं से है जिनसे एक नियत भाव अथवा अर्थ प्रेक्षक तक संप्रेषित किया जाता है। आज शारीरिक भाषा की समझ विकसित करने में प्राय: अभिनेताओं को नृत्य आदि का प्रशिक्षण इस उद्देश्य से भी दिया जाता है। इस संदर्भ में आचार्य भरत ने भी क्रमपूर्वक विचार किया है।

जैसा कि पूर्व में ही बताया गया है कि आचार्य भरत ने अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र में आंगिक अभिनय के अंतर्गत शरीर के मुख्य अंगों की क्रियाओं और मुद्राओं की विस्तार से चर्चा की है। उन्होंने शरीर के छ: अंग बतलाए गए हैं- मस्तक, हस्त, वक्षस्थल, कटि प्रदेश, कोख और पैर। इन छ: अंगो के अतिरिक्त कुछ आचार्यों के मत से ग्रीवा को भी अंगो में परिगणित किया गया है।

शिराभिनय

आंगिक अभिनय में सबसे पहले शिर की तेरह मुद्राओं की चर्चा की गई है-आकम्पित, कम्पित, धुत, विधुत, परिवाहित, आधूत, अवधूत, अचित, निहचित, परावृत्त, उत्क्षिप्त, अधोगत और लोलित। यहाँ वे इन तेरह प्रकारों का वर्णन करते हुए सिर की गतियों और अभिनय में उसके प्रयोग का विधान भी बतलाते हैं। इसके साथ ही उन्होंने शिराभिनय की दो स्थितियों का उल्लेख किया है-ऋजु और स्वभाव। ऋजु को उन्होंने संस्थान और स्वभाव को प्राकृत नाम से भी कहा गया है। शिर की इन दोनो स्थितियों का प्रयोग मंगल वस्तुओं के दर्शन, अध्ययन, ध्यान, स्वाध्याय और विजय आदि कार्यों तथा भावों के प्रदर्शन में किया जाता है। साथ ही आचार्य भरत ने उक्त तेरह प्रकारों के अतिरिक्त शिराभिनय के लोक प्रचलित मुद्राओं को भी स्वीकार करने का निर्देश दिया है।

ग्रीवाभिनय

आचार्य भरत ने शिर की क्रियाओं के अनुगामी ग्रीवाभिनय के नौ लक्षणों व उनके प्रयोग का उल्लेख किया है- समा (सहज अवस्था), नता (मुख को झुकाने पर ग्रीवा की स्थिति), उन्नता (ऊपर की ओर मुख करने पर ग्रीवा की स्थिति), त्र्यस्ता (पार्श्व की ओर मुड़ी हुई ग्रीवा), रेचिता (गर्दन को जोर से हिलाना या घुमाना), कुंचिता (सिर झुकाने पर ग्रीवा की स्थिति), अंचिता (सिर को पीछे की ओर घुमाने पर), वलिता (मुख को पार्श्व की ओर घुमा लेना) और विवृत्ता (सामने की ओर मुख होने पर ग्रीवा की स्थिति)। इनके अतिरिक्त आचार्य भरत ने लोकमानस के भावों के अभिव्यंजक ग्रीवा मुद्राओं को भी स्वीकार करने की बात कही है।

हस्त मुद्राएँ

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के नवें अध्याय में हस्ताभिनय का विशेष रूप से उल्लेख किया है। जिस प्रकार से हस्ताभिनय का विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन मिलता है उससे प्रतीत होता है कि यह आंगिक अभिनय का प्रमुख माध्यम रहा होगा। आचार्य भरत ने हस्ताभिनय के दो प्रकार बतलाए हैं- संयुत और असंयुत। असंयुत हस्तमुद्रओं की संख्या 24 व संयुत हस्तमुद्राओं की संख्या 13 है। ये असंयुत हस्तमुद्राएँ हैं- पताका, त्रिपताका, कर्तरीमुख, अर्धचंद्र, शुकतुण्ड, मुष्टि, शिखर, कपित्थ, खटकामुख, सूचीमुख, पद्मकोश, सर्पशिरा, मृगशीर्षक, कांगुल, अल्लपल्लव, चतुरमुद्रा, भ्रमरमुद्रा, हंसवक्त्र, हंसपक्ष, सन्दंश, मुकुल, ऊर्जनाभ और ताम्रचूड़। असंयुत के पश्चात वे संयुत हस्तमुद्राओं के 13 प्रकार बतलाते हैं- अंजलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, कटकावर्धमानक, उत्संग, निषध, दोल, पुष्पपुट, मकर, गजदंत, अवहित्थ एवं वर्धमानक।

इसके आगे आचार्य भरत ने हस्तमुद्राओं की सामान्य विधियाँ बतलाते हुए कहा है- अभिनेता के द्वारा हस्तमुद्राओं को उनकी आकृति, गतिविधि, चिन्ह तथा जाति को स्वयं के अनुभव से देखकर प्रयुक्त करना चाहिए। संसार में ऐसा कोई हाथों का कार्य ही नहीं जो किसी अर्थ को न बतलाता हो किंतु जिस हस्त का जो स्वरूप (या कार्य) अनेक बार देखा गया है, उसे ही यहाँ बतलाया है। इनके अतिरिक्त जो अन्य अर्थों से सम्बद्ध लोक सामान्य हस्त हों उन्हें भी रस तथा भावों की सूचक चेष्टाओं के साथ स्वेच्छानुसार प्रयुक्त करना चाहिए। ये हस्तमुद्राएँ पुरुषों तथा विशेषतः स्त्रियों के द्वारा देश, काल, प्रयोग तथा योग्यता को देखकर प्रयुक्त किया जाय।

नाट्यप्रदर्शन के अवसर पर रस तथा भावों के संदर्भ में हाथ की 20 चेष्टाओं का भी उल्लेख आचार्य भरत ने विस्तार से किया है। ये चेष्टाएँ हैं- उत्कर्षण (ऊपर खींचना), विकर्षण (जोर से खींचना), व्याकर्षण (बाहर निकालना), परिग्रह (किसी वस्तु को लेना), निग्रह (विनाश करना), आह्वान (बुलाना, संकेत करना), तोदन (ताड़न करना), संश्लेष (मिलना, मिलाना), वियोग (अलग होना), रक्षण (बचाना), मोक्षण (छुड़ाना), विक्षेप (फेंकना), धुनन (काँपना), विसर्ग (छोड़ना), तर्जन (मना करना), छेदन (काटना), भेदन (अंदर घुसाना), स्फोटन (खोलना), मोटन (संकोच करना) और ताड़न (पीटना)।

हस्तमुद्राओं के कार्य को रेखांकित करते हुए वे कहते हैं-'प्रयोक्ताजन इन हस्ताभिनयों का लोक व्यवहार के अनुसार प्रयोग करें तथा उसी समय इनके करण, कर्म, स्थान, प्रचार, युक्ति तथा क्रिया को देखकर प्रयोग निश्चित करें। हस्तप्रचार के संदर्भ में यह भी उल्लेख मिलता है कि उत्तम व्यक्तियों की हस्त क्रियाएँ प्रायः मस्तक (ललाट प्रदेश के समीप), मध्यवर्गीय लोगों की वक्ष स्थल के समीप एवं निम्न स्तरीय व्यक्तियों का हस्त संचालन शरीर के अधोभाग में होना चाहिए। ज्येष्ठ अभिनय मे इन हस्तमुद्राओं का प्रचार अल्प रहना चाहिए, मध्य में मध्यम प्रचार तथा अधम अभिनय में हस्तमुद्राओं का विपुलता से प्रचार रहना चाहिए। उत्तम तथा मध्यम पात्रों के द्वारा इन हस्तमुद्राओं का प्रयोग शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार अर्थाभिव्यक्ति करे परंतु अध

टिप्पणी

म पात्रों के द्वारा लोक क्रियाओं का हस्ताभिनय में अनुसरण किया जाय। परंतु जब कोई असामान्य प्रयोग या समय हो तो बुद्धिमान इन हस्तमुद्राओं के प्रयोग को वर्णित लक्षण से भिन्न स्वरूप में संयोजित करें या न भी करें। इसके आगे आचार्य भरत वर्णन करते हैं कि किन स्थितियों में हस्तप्रचारों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। जब कोई पात्र खिन्न, मूर्च्छित, लज्जित, घृणा तथा शोक से प्रपीड़ित, मलिन (ग्लान), सोया हुआ, लूला, बेहोश, तंद्रिल, जड़, बीमार, बुढ़ापे से त्रस्त, भय पीड़ित, ठंड से ठिठुरता हुआ या त्रस्त, मदमत्त पागल, चिंतित, तप करते हुए, बर्फ या वर्षा के कारण त्रस्त, कैद, जल या डोंगे में संचारशील, स्वप्न में बोलते हुए, भ्रांति युक्त तथा नखों से कुरेदने या पटकने वाला रहे तो ऐसी दशा में हस्त की योजना नहीं की जाय। नाट्य और नृत्त में अंग संचालन के तीन प्रकार बताए हैं-उत्तान, पार्श्वग और अधोमुख। इसके आगे आचार्य भरत ने नृत्त हस्त की 30 हस्त क्रियाओं व हस्तकरणों के चार प्रकारों की चर्चा करते हुए नर्तक व अभिनेताओं को हस्त संचालन संबंधी निर्देश दिये हैं।

उर, पार्श्व, उदर चेष्टाएँ

आचार्य भरत ने उर (वक्ष स्थल) चेष्टाओं व उनके अभिनय में प्रयोग की चर्चा करते हुए उर चेष्टाओं के 5 प्रकार बतलाए हैं- आभुग्न, निर्भुग्न, प्रकम्पित, उद्वाहित, सम। इसी के साथ पार्श्व चेष्टाओं के पाँच प्रकारों का उल्लेख मिलता है-नत, उन्नत, प्रसारित, विवर्तित, अपसृत। उदर चेष्टा के भेद, लक्षण एवं उनके विनियोग के अंतर्गत तीन प्रकार बताए गए हैं- क्षाम, खल्व और पूर्ण।

कटि चेष्आओं के पाँच प्रकार - छिन्ना, निवृत्ता, रेचिता, कम्पिता और उद्वाहिता के पश्चात वे उरु (पिण्डलियोंद्ध चेष्टाओं के पाँच प्रकारों का वर्णन किया हैं। ये उरु चेष्टाएँ हैं- कम्पन, वलन, स्तम्भन, उद्वर्तन एवं विवर्तन। उरु चेष्टाओं का ही वर्णन करते हुए भरत ने अन्य उरु चेष्आओं को लौकिक व्यवहार के अनुसार नाट्य प्रयोक्ता द्वारा ग्रहण करने की बात कही है।

इसी प्रकार जंघा की पाँच चेष्टाएँ ग्रहण की गई हैं-आवर्तित, नत, क्षिप्त, उद्वाहिता एवं परिवृत्त। इसके पश्चात भरत ने पादाभिनय की चर्चा की है। उन्होंने पैरों की पाँच चेष्टाओं का उल्लेख करते हुए उनके लक्षण एवं विनियोग बतलाए हैं- उद्घट्टित, सम पाद, अग्रतल संचर, अँचित तथा कुंचित। इस प्रकार आचार्य भरत ने दसवें अध्याय में उर, पार्श्व, उदर, कटि, उरु, जंघा एवं पाद चेष्टाओं का वर्णन किया है

पाठगत प्रश्न 17.1

1. मुखज अभिनय क्या हैं?

....

2. आचार्य भरत के अनुसार मानव शरीर को कितने अंगों में बांटा गया है?

....

3. सिर की कितनी क्रियाओं की चर्चा आचार्य भरत ने की है ?

....

4. नाट्यशास्त्र में ग्रीवा की कितनी क्रियाएँ बतलाई गई है?

....

5. संयुत और असंयुत हस्तमुद्राओं की संख्या कितनी है?

....

6. आचार्य भरत ने नाटक के प्रदर्शन में हाथ की कितनी क्रियाएँ बतलाई हैं?

....

7. उत्तम और मध्यम पात्रों के द्वारा किस प्रकार की चेश्टाएँ की जानी चाहिए?

....

17.2 मुखाभिनय

मुखज अर्थात मुखमंडल के उपांगो-आँख, भौहें, कान, अधर, कपोल और ठोड़ी आदि की विभिन्न चेष्टाओं एवं मुद्राओं के द्वारा ही मुखाभिनय की प्रक्रिया संपन्न होती है। आचार्य भरत ने बहुत ही सूक्ष्मता के साथ मुख के विभिन्न अंगों की क्रियाओं का वर्णन किया है।

उपांग छः माने गये हैं- नेत्र, भ्रू, नासा, अधर, कपोल और चिबुक। ये उपांग मुखज अभिनय में महत्वपूर्ण हैं। इनके अभाव में मुखाभिनय संभव नहीं। आँखों के फिर तीन प्रत्यंग माने गये हैं तारा अर्थात पुत्तलिका, पुट अर्थात पलकें और भ्रुकुटि। इस प्रकार आचार्य भरत ने पूर्ण शरीर को अंग, प्रत्यंग और उपांग में वर्गीकृत कर आंगिक अभिनय के प्रयोग की विधि बताई है।

दृष्टि अभिनय

भरत ने दृष्टि के आठ भेद बताए हैं- सम, साची, अनुवृत्त, आलोकित, विलोकित, प्रलोकित, उल्लोकित और अवलोकित। नाट्यशास्त्र में इन दृष्टि भेदों को दर्शन भेद कहा गया है और साथ ही निर्देश दिया गया है कि विभिन्न रसों तथा भावों के अनुसार उनका प्रयोग करना चाहिए। उन्होंने दृष्टि अभिनय के अंतर्गत रस, स्थायी और संचारी तीनों को मिलाकर छत्तीस

प्रकार बताए हैं।

आचार्य भरत ने यह स्वीकार किया है कि दृष्टियों के माध्यम से ही रस और भावों संप्रेशित होते है। उन्होंने रसज्ञा की 08, स्थायी भावज्ञा की भी 08 और संचारी भावज्ञा की संख्या 20 मानी है।

- रसज्ञा दृष्टियों के आठ प्रकारों-कांता, भयानका, हास्या, करूणा, अद्‌भुता, रौद्रा, वीरा और वीभत्सा का उल्लेख मिलता है। यह आठ दृष्टियाँ आठ रसों की अभिव्यक्ति करती हैं।
- स्थायी भावों की अभिव्यंजक दृष्टियों में-स्निग्धा, हृष्टा, दीना, दृप्ता, भयान्विता, जुगुप्सिता, क्रुद्धा तथा विस्मिता की चर्चा है।
- साथ ही बीस प्रकार की संचारीभावजा दृष्टियों के लक्षण व उनके विनियोग का वर्णन है-शून्या, मलिना, भ्रांता, लज्जान्विता, ग्लाना, शंकिता, विषण्या, मुकुला, कुचिता, अभितप्ता, जिह्वा, सुललिता, वितर्किता, अर्धमुकुला,, विभ्रांता, विलुप्ता, अकेकरा, विकोशा, त्रस्ता और मदिरा। इस प्रकार दृष्टि की कुल 36 भंगिमाओं को स्वीकृत किया गया है। इन दृष्टियों का व्यवहारिक प्रयोग कब और कैसे किया जाना चाहिए, इसके संबंध में भरत ने निश्चित निर्देश दिये हैं।

पुत्तलिका, पलक एवं भौंह की चेष्टाएँ

नेत्र के तीन प्रत्यंग माने गये हैं- पुत्तलिका, पलक और भौंह। इन प्रत्यंगों की क्रियाओं के साथ ही दृष्टि अभिनय का प्रदर्शन संभव होता है। इसीलिए भरत ने इनकी क्रियाओं का भी विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने पुत्तलिका की नौ चेष्टाओं व उनके अभिनय में प्रयोग की चर्चा की है। ये नौ चेष्टाएँ हैं-

1. भ्रमण (दोनों पलकों के मध्यगत भाग में घुमाना)
2. वलन (तिरछे चलाना)
3. पातन (नीचे ले जाना)
4. चलन (कंपाना)
5. सम्प्रवेशन (पलकों के अंदर ले जाना)
6. विवर्तन (तिरछे देखना)
7. समुद्रवृर्तन (ऊपर चढ़ाना)

टिप्पणी

8. निष्क्राम (बाहर की ओर निकालना) एवं

9. प्राकृत (सामान्य अवस्था)

पुत्तलिका संचालन के साथ पलकें भी सक्रिय होती हैं। इनकी नौ चेष्टाओं के लक्षण एवं विनियोग का उल्लेख है-

1. उन्मेष (पलकों का खुलना)

2. निमेष (बंद होना)

3. प्रसृत (खूब फैलना)

4. कुंचित (पलकों का सिकोड़ना)

5. सम (स्वाभाविक अवस्था)

6. विवर्तित (पलकों का उठाना)

7. स्फुरत (फड़कना)

8. पिहित (पलकों का निश्चेष्ट होना)

9. वितालित (आघात के भय से पलकों का बंद होना)।

पुत्तलियों और पलकों की गतियों के साथ होने वाली भौंह की क्रियाओं की संख्या सात बताई गई है-

1. उत्क्षेप (दोनों भवों को एक साथ अथवा एक-एक करके ऊपर उठाना)

2. पातन (एक साथ अथवा एक-एक करके नीचे गिराना)

3. भृकुटी (भवों के मध्य भाग को ऊपर उठाना)

4. चतुर (मृदुलता से ऊपर उठाना)

5. कुन्चित (धीरे-धीरे नीचे गिराना)

6. रेचित (एक ही भौं को लीला पूर्वक उठाना) और

7. सहज (प्राकृतिक अवस्था)।

टिप्पणी

इस प्रकार पुत्तलिका, पलकों और भौंह के एक साथ संचालन के साथ दृष्टि अभिनय संपन्न होता है।

नसिका, कपोल, ओष्ठ, चिबुक एवं मुख चेष्टा

नेत्र के अलावा नसिका, कपोल, अधर, चिबुक और मुख भी होते हैं जो मुखज अभिनय के महत्वपूर्ण माध्यम हैं। भरत ने नसिका चेष्टाओं के छः लक्षण बताए हैं-

1. नता (दोनों नथुनों का चिपका होना)
2. मन्दा (स्वाभाविक मुद्रा)
3. विकृष्टा (नथुनों को फुला लेना)
4. सोच्छवास (साँस अंदर खींचने पर नसिका की अवस्था)
5. विकूणता (नाक सिकोड़ना) एवं
6. समा (स्वाभाविक अवस्था)।

आचार्य भरत ने विभिन्न भाव प्रदर्शन में इनके प्रयोग की भी चर्चा की है। आगे वे कपोल (गाल) मुद्रा के छः लक्षण -

1. क्षाम (पिचके हुए)
2. फुल्ल (फूले हुए)
3. घूर्ण (फैले हुए)
4. कम्पित (कांपते हुए)
5. कुन्चित (सिकुड़े हुए) और
6. सम (नैसर्गिक अवस्था) बतलाते हैं।

इन लक्षणों का वर्णन करते हुए उन्होंने दुख में क्षाम, प्रसन्नता में फुल्ल, उत्साह एवं अभिमान में घूर्ण, क्रोध एवं प्रसन्नता में कम्पित, रोमांच, स्पर्श, ठंडक, भय एवं ज्वर की अवस्था में कुन्चित तथा शेष अवस्थाओं मे सम के प्रयोग की बात कही है।

साथ ही ओष्ठ कर्म के छः लक्षण व उनका प्रयोग मिलता है-

1. विवर्तन (ओंठ सिकोड़कर चोंच जैसा बनाना)

2. कंपन (ओठों को कंपाना)

3. विसर्ग (ओठों को फैलाना)

4. विनिगूहन (ओठों को अंदर की ओर सिकोड़ना)

5. संदष्टक (दाँत से ओठों को काटना) और

6. समुद्‌गक (सामान्य अवस्था)।

दाँत, ओष्ठ एवं चिबुक के संदर्भ में में चिबुक चेष्टा की सात चेष्टाओं के लक्षण बताए गए हैं- कुट्टन (ऊपर नीचे के दाँतों को परस्पर भींचना), खण्डन (दाँतों को रगड़ना), छिन्न (दाँत को परस्पर चिपकाना), चुक्कित (दाँत को दूर तक फैलाना), लेहित (जीभ से ओठ चाटना), सम (कुछ क्षण अलग होना) और दष्ट (दाँतों से निचला ओठ काटना)।

इसके अनंतर वे मुख चेष्टा के लक्षण व उनके प्रयोग बतलाते हैं। ये मुख चेष्टाएँ हैं- विनिवृत्त (खूब फाड़े हुए), विधुत (आयताकार खुला हुआ), निर्भुग्न (मुख का नीचे की ओर झुका होना), भुग्न (कुछ कुछ आयताकार खुले हुए), विवृत्त (ओठ खुले रहने पर) और उद्वाहि (आक्षिप्त मुख)। रस भावों के संदर्भ में मुख के रंग का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि शाखा, अंग, अपांगो के साथ किया हुआ अभिनय चाहे कितना भी भव्य हो बिना मुखराग के वह पूर्ण नहीं बनता। स्थिति के अनुसार मुख के चार वर्ण बताए गए हैं-1 स्वाभाविक, 2 प्रसन्न, 3 रक्त एवं 4 श्याम। आचार्य भरत ने सहज अवस्था एवं रागशून्यता के अभिनय में सहज मुखवर्ण, अद्‌भुत, हास्य एवं श्रृंगार रस के अभिनय में प्रसन्न, वीर, रौद्र एवं करुण रस के प्रदर्शन में रक्तवर्ण तथा भयानक व वीभत्स रस के अवसर पर मुख के श्याम वर्ण के प्रयोग का उल्लेख किया।

पाठगत प्रश्न 17.2

1. आचार्य भरत ने उपांग कौन-कौन से बतलाए है?

....

2. दृष्टियों का प्रयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए?

....

3. रसज्ञा दृष्टियाँ कितनी हैं?

....

4. स्थायी भावज्ञा दृष्टियाँ कितनी हैं?

....

5. दृष्टि के कुल कितने प्रकार बतलाए गए हैं?

....

6. मुखवर्ण कौन-कौन से हैं?

....

17.3 नाटक में मुद्राएँ और मुखाभिनय

यह एक विशिष्ट आंगिक संरचना होती है जो दर्शकों तक दृश्य संकेतों को संचारित करती है। किसी प्रस्तुति में जब नर्तक, अभिनेता जब कोई विशेष मुद्रा धारण करता है तो इसका तात्पर्य होता है कि वह कोई विशेष संकेत प्रदान करना या उस पर ध्यान आकर्षित करना चाहता है। उदाहरण के लिए छींकने का अभिनय करते हुए हथेली को नाक पर रखना। इसके अतिरिक्त छींक प्रदर्शित करने के लिए अन्य कोई मुद्रा संभव ही हो। इस प्रसंग में यह प्राथमिक मुद्रा है। यह छींक की शुरूआत से अंत तक की प्रक्रिया को स्पष्ट कर देता है। दूसरा है छींकना। जो कि असामयिक या एकाएक अवचेतन मास्तिष्क से की जाने वाली चेष्टा है। इस तरह प्रथम मुद्रायांत्रिक व द्वितीय मुद्रा साँस की समस्या से उत्पन्न विकार है। छींकने की यह चेष्टा दर्शकों तक यह संकेत संप्रेषित करती है कि छींकने वाले को ठंडी लगी है।

नाटक में प्रयुक्त मुद्राओं के प्रकार

आकस्मिक मुद्राः ऐसी मुद्राएँ जो जान बूझकर नही बनाई जाती बल्कि अचानक ही निर्मित हो जाती हैं उन्हें इस श्रेणी में रखा गया है। जैसे खाना खाने की मुद्रा, पानी पीने की मुद्रा, आदि।

भावपूर्ण मुद्राः यह वो मुद्रा है जो हमें पशुओं से विलग स्थित करती है। प्रायः इस मुद्रा का प्रयोग एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अपनी बातें रखने हेतु प्रयुक्त करता है। इसमें वह चेहरे के विविध भावों से सामने वाले व्यक्ति का ध्यान आकर्षित करता है। उदाहरण के लिए मुस्कुराना, उदास होना, रोना आदि।

अनुकरणिक मुद्राः इस मुद्रा में हम किसी अन्य व्यक्ति की नकल करते हैं। इस मुद्रा का प्रयोग प्रायः किसी अन्य व्यक्ति, वस्तु अथवा किसी पशु का प्रदर्शन करनें हेतु की जाती है। उदाहरण के लिए कुत्ते की नकल करते हुए तुरंत घुटने पर बैठकर हथेली सामने रखना व जीभ लपलपाना।

टिप्पणी

सांकेतिक मुद्रा

यह मुद्रा मुख्य रूप से भावना और विचारों के आदान प्रदान में की जाती है। अव्यक्त भावों की अभिव्यक्ति हेतु इसका प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य भी हैं, जैसे (तकनीकी मुद्रा), (कूट मुद्रा) आदि जो प्राय: प्रयुक्त की जाती हैं।

17.4 सांकेतिक मुद्रा : चित्राभिनय

मुद्राओं के संदर्भ में चित्राभिनय भी मुख्य है। इसका संबंध आंगिक अभिनय से ही है। भरत ने इसे पृथक से अभिनय रूप की संज्ञा नही दी है। चतुर्दिक अभिनयों के समन्वित रूप में आंगिक चेष्टाओं को प्रमुखता देते हुए ही उन्होंने चित्राभिनय' का निरूपण किया है। इसमे अंग विशेष की मुद्राओं का कुछ ऐसा संयोजन किया जाता है जिससे दर्शकों के हृदय में काल्पनिक चित्र उत्पन्न हो जाते हैं। इसके वर्णन में भरत ने प्रतीकात्मक मुद्राओं की चर्चा की है। जिससे किसी प्राकृतिक दृश्यों (दिन, रात), भूमिगत पदार्थों, सूर्य, अग्नि, मानवेतर प्राणी जैसे-सिंह, रीछ आदि वन्य पशु, विशेष गतियों, विशिष्ट मनोदशा आदि का ज्ञान कराया जा सकता है।

- विभिन्न प्राकृतिक परिदृश्यों का प्रभाव चित्राभिनय के माध्यम से दर्शकों की कल्पना में जगाने का विधान भरत बतलाते हैं। दोनों हाथों को पताक मुद्रा में सीधे स्वास्तिक करें, उद्वाहित रूप में मस्तक पर रखकर ऊपर विभिन्न दृष्टियों से देखने पर इनके द्वारा-प्रभाव, रात्रि, प्रदोष, ऋतुएं, बादल, वनांत प्रदेश, विस्तीर्ण जलाशय, दिशाएँ तथा ग्रह, नक्षत्र को बताया जा सकता है। इसी मुद्रा को मस्तक के नीचे झुकाकर रखने पर भूमि पर रखे वस्तु को दिखायाा जा सकता है। चांदनी, सुख, वायु, रस तथा सुगंध को बतलाने के लिए स्पर्श के साथ इसी मुद्रा वाले हाथ को ऊपर हिलाते हुए दिखा सकते हैं। इसी प्रकार क्रमश: सूर्य, अग्नि, दोपहरी का सूर्य, सुख-दुख देने वाले पदार्थ, गंभीर तथा उदात्त भाव, हार-माला, सर्वज्ञता के भाव, विद्युत उल्का आदि के प्रदर्शन की विशिष्ट मुद्राओं की चर्चा भरत ने की है।

- ऋतुओं को प्रदर्शित करने की भी विशिष्ट मुद्राएँ भरत बतलाते हैं। हेमंत ऋतु के संदर्भ में वे बताते हैं कि उत्तम तथा मध्यम पात्रों के द्वारा अपने अंगों को झुकाने सिकुड़ाने तथा सूर्य, आग के साग्रह सेवन करने के अभिनय द्वारा हेमंत ऋतु को प्रदर्शित किया जाय। इसी प्रकार वे क्रमश: शिशिर, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, वर्षा ऋतु की रात, सामान्य ऋतुओं के प्रदर्शन की विधियाँ बताते हैं।

- इसी क्रम में वे पुरुष तथा महिलाओं की अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार आंगिक क्रियाएँ करने की योजना बताते हैं। हर्ष, विषाद, क्रोध, भय, मद, आदि में की जाने वाली क्रियाओं का भी भरत निरूपण करते हैं। आगे वे पशु-पक्षी, भूत, पिशाच, पर्वत तथा ऊँचे वृक्ष, सागर, आदि के प्रदर्शन की भी विधियाँ बतलाते हैं।

17.5 नाटक में मुद्राभिनय और मुखाभिनय का महत्व

नाटक में पात्रों के संवाद और विविध कार्यकलाप होते हैं। जब अभिनेता द्वारा उन चरित्रों को मंच पर जीवंत किया जाता है तो ऐसे में अभिनेता का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह शारीरिक हाव-भाव, क्रियाओं, मुद्राओं और मुखाभिनय के द्वारा चरित्र का प्रदर्शन करे। रंगमंच पर भावों के संप्रेषण की मुख्य रूप से प्राधानता रहती है।

यदि गौर से देखें तो मंच पर संप्रेषण की यह प्रक्रिया दो रूपों में संपन्न होती है- शाब्दिक और अशाब्दिक। शाब्दिक संप्रेषण के अंतर्गत नाटक में अभिनेताओं द्वारा बोला जाने वाला संवाद और ध्वनियाँ होती हैं। अशाब्दिक संप्रेषण के अंतर्गत अभिनेता अपने हाव-भाव, शारीरिक मुद्रा, क्रियाओं आदि से अभिव्यक्ति करता है। संवादों के माध्यम से चरित्र की प्रस्तुति की अपेक्षा चरित्र के शारीरिक हाव-भाव, मुद्रा आदि के प्रयोग पर विशेष रूप से बल दिया जाता है। अशाब्दिक संप्रेषण में शारीरिक भाषा की महत्वपूर्ण भूमिका है। एक अभिनेता होने के नाते हमें मुद्राभिनय और मुखाभिनय का ज्ञान होना चाहिए। शारीरिक भाषा हाव-भाव, शारीरिक मुद्राओं और चेहरे के भावों से युक्त होती है।

भारतीय रंगमंच मुख्यत: नृत्य, संगीत आदि के कारण एक शैलीबद्ध रूप में प्रचलित रहा है। मुद्राभिनय और मुखाभिनय की संकल्पना इस संदर्भ में बहुत हद तक शैलीगत रूप में सामने आता है। नाट्यशास्त्र में वर्णित मुद्राएँ और मुखाभिनय एक शैली की ओर संकेत करते हैं। हालांकि आचार्य भरत द्वारा लोकधर्मी की ओर भी संकेत करते हुए कहा गया है कि नाट्य प्रयोक्ता लोक के स्वभाव के अनुरूप मुद्राओं आदि का प्रयोग करें। लोकधर्मी का यह संकेत मुद्राओं के लोकप्रचलित रूप के प्रयोग किये जाने को स्पष्ट करता है।

वर्तमान में मुद्राभिनय और मुखाभिनय के प्रयोग की जो परंपरा हमें दिखाई देती है वह अपेक्षाकृत अधिक यथार्थवादी है। नृत्य और संगीत प्रधान नाटकों को यदि छोड़ दें तो प्राय: इनका रूप सरल, सहज और जन अनुकूल है। इस दृष्टि से भी मुद्राओं और मुखाभिनय पर विचार किया जाना चाहिए।

पाठगत प्रश्न 17.3

1. आकस्मिक मुद्रा क्या है?

....

2. भावपूर्ण मुद्रा क्या है?

....

3. अनुकरणिक मुद्रा से क्या अभिप्राय है?

....

4. सांकेतिक मुद्रा क्या है?

....

5. चित्राभिनय क्या है?

....

आपने क्या सीखा

- आचार्य भरत द्वारा रचित नाट्यशास्त्र में मुद्राभिनय और मुखाभिनय की विस्तृत चर्चा आंगिक अभिनय के अंतर्गत मिलती है।
- शारीरिक मुद्राओं से अभिप्राय शरीर की उन विशिष्ट भंगिमाओं से है जिनसे एक नियत भाव अथवा अर्थ प्रेक्षक तक संप्रेषित किया जाता है।
- नाट्यशास्त्र में आंगिक अभिनय के अंतर्गत शरीर के मुख्य अंगों की क्रियाओं और मुद्राओं की विस्तार से चर्चा की है।
- जिस प्रकार से हस्ताभिनय का विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन मिलता है उससे प्रतीत होता है कि यह आंगिक अभिनय का प्रमुख माध्यम रहा होगा। आचार्य भरत ने हस्ताभिनय के दो प्रकार बतलाए हैं- संयुत और असंयुत। असंयुत हस्तमुद्रओं की संख्या 24 व संयुत हस्तमुद्राओं की संख्या 13 है।
- मुखज अर्थात मुखमंडल के उपांगो-आँख, भवें, कान, अधर, कपोल और ठोड़ी आदि की विभिन्न चेष्टाओं एवं मुद्राओं के द्वारा ही मुखाभिनय की प्रक्रिया संपन्न होती है।
- नाट्यशास्त्र में इन दृष्टि भेदों को दर्शन भेद अर्थात देखने के तरीके कहा गया है। विभिन्न रसों तथा भावों के अनुसार उनका प्रयोग करना चाहिए। दृष्टि अभिनय के अंतर्गत रस, स्थायी और संचारी तीनों को मिलाकर छत्तीस प्रकार बतलाए गए हैं।
- मुद्राओं के संदर्भ में चित्राभिनय भी मुख्य है। इसका संबंध आंगिक अभिनय से ही है। इसके वर्णन में भरत ने प्रतीकात्मक मुद्राओं की चर्चा की है। जिससे किसी प्राकृतिक दृश्यों (दिन, रात), भूमिगत पदार्थों, सूर्य, अग्नि, मानवेतर प्राणी जैसे-सिंह, रीछ आदि वन्य पशु, विशेष गतियों, विशिष्ट मनोदशा आदि का ज्ञान कराया जा सकता है।

- वर्तमान में मुद्राओं और मुखाभिनय की दो रीतियाँ प्रचलित हैं- यथार्थ और शैलीगत।

पाठान्त प्रश्न

1. मुद्राओं से क्या अभिप्राय है?
2. मुखाभिनय में उपांगों की क्रियाओं के विषय में बतलाइए?
3. मुद्राओं और मुखाभिनय के लोकधर्मी प्रयोग के विशय में बतलाइए?
4. नाट्यशास्त्र में वर्णित मुद्राओं और मुखाभिनय पर चर्चा कीजिए?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

17.1

1. मुखमंडल के उपांगों जैसे-नेत्र, भौंह, कान, होंठ, गाल, ठोड़ी आदि का भाव प्रदर्शन की दशा में प्रयोग।
2. छः अंग- मस्तक, हस्त, वक्ष, कटि अर्थात कमर, कोख और पैर।
3. तेरह
4. नौ
5. क्रमशः 13 और 24
6. 20 क्रियाएँ
7. शास्त्रीय लक्षण के अनुरूप

17.2

1. छः
2. रस और भाव के अनुरूप
3. कोमा शकराज की प्रेयसी है।
4. आठ प्रकार हैं।

टिप्पणी

5. आठ

6. स्वाभाविक, प्रसन्न, रक्त और श्याम।

17.3

1. ऐसी मुद्राएँ जो जान बूझकर नही बनाई जाती बल्कि अचानक ही निर्मित हो जाती हैं उन्हें इस श्रेणी में रखा गया है।

2. वह चेहरे के विविध भावों से सामने वाले व्यक्ति का ध्यान आकर्षित करता है।

3. इस मुद्रा में हम किसी अन्य व्यक्ति की नकल करते हैं।

4. यह मुद्रा मुख्य रूप से भावना और विचारों के आदान प्रदान में की जाती है। अव्यक्त भावों की अभिव्यक्ति हेतु इसका प्रयोग किया जाता है।

5. इसमे अंग विशेष की मुद्राओं का कुछ ऐसा संयोजन किया जाता है जिससे दर्शकों के हृदय में काल्पनिक चित्र उत्पन्न हो जाते हैं। इसके वर्णन में भरत ने प्रतीकात्मक मुद्राओं की चर्चा की है।

मॉड्यूल-6

लोकनाट्य का स्वरूप और प्रकार

इस मॉड्यूल में लोकनाट्य के स्वरूप और विभिन्न प्रकारों के साथ-साथ नाट्य में संगीत और नृत्य की भूमिका आदि से भी शिक्षार्थियों का परिचय करवाया गया है।

18. भारत के प्रमुख लोक नाट्य और लोक नृत्य

19. लोकनाट्य में संगीत की भूमिका

टिप्पणी

18

भारत के प्रमुख लोक नाट्य और लोक नृत्य

भारत में रंगमंच की सबसे लंबी और समृद्ध परंपरा रही है। भरत का नाट्यशास्त्र नाट्य पर लिखा गया सबसे प्राचीन और विस्तृत ग्रंथ है। हमारे देश में लोकनाट्यों की विविधता और बहुलता रही है जो विभिन्न क्षेत्रों के प्राचीन रीति-रिवाजों और मौसमी उत्सवों आदि से निकटता से जुड़ी हुई है। इस पाठ में हम भारतीय लोकनाट्यों और लोकनृत्यों के विविध प्रकारों पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप-

- लोकनाट्य के प्रकारों को जानते हैं;
- लोकनाट्यों के प्राचीन और समकालीन रूपों को जानते हैं;
- विभिन्न लोकनाट्यों की प्रमुख विशेषताओं को जानते हैं; और
- भारत के प्रमुख लोकनृत्यों को जानते हैं।

18.1 लोकनाट्यों का स्वरूप तथा प्रकार

लोकनाट्य लोकजीवन से जुड़े होते हैं। इस वजह से मुख्य तौर पर इनका मंचन विभिन्न उत्सवों, अवसरों और मांगिलक कार्यों के समय किया जाता है। इनकी भाषा क्षेत्रीय तथा सरल होती है। लोकनाट्य गद्यात्मक होते हैं परंतु इनके बीच-बीच में गीत भी गाए जाते हैं। कुछ लोकनाट्य गेयात्मक भी होते हैं। इनमें संवाद बहुत ही छोटे होते हैं जिन्हें सरस रूप में प्रस्तुत किया जाता है। क्षेत्रीय दर्शकों को ध्यान में रखकर इनमें लंबे कथोपकथनों का अभाव होता

है। लोकनाट्यों के कथात्मक मुख्य रूप से ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक या धार्मिक कथावस्तु पर आधारित होते हैं जैसे-

1. **धार्मिक आख्यान आधारित**- बंगाल का जात्रा और कीर्तन
2. **ऐतिहासिक अध्यान आधारित**- राजस्थान में अमर सिंह राठौर की ऐतिहासिक गाया
3. **पौराणिक आख्यान आधारित**- केरल राज्य का यक्षगान
4. **धार्मिक अध्यान आधारित**- उत्तर प्रदेश की रामलीला और रासलीला
5. **सामाजिक आख्यान आधारित**- उत्तर प्रदेश की नौटंकी, लोकनाट्य।

प्रारंभ में इन लोकनाट्यों में स्त्री पात्रों की भूमिका भी पुरुषों द्वारा ही निभाई जाती थी। हालांकि समकालीन लोकनाट्यों में स्त्री पात्र की भूमिका महिलाओं द्वारा भी निभाई जाने लगी है। इन पात्रों की वेशभूषा और प्रसाधन के साथ क्षेत्रीय होते हैं। अधिकतर लोकनाट्य खुले रंगमंच पर खेले जाते हैं। कहीं-कहीं मंदिर के चबूतरे या मंदिर प्रांगण में इनका मंचन किया जाता है। इस प्रकार लोकनाट्य अपने स्वरूप में सरल और सरस होते हैं।

किसी नाट्य को प्रस्तुत करने का तरीका या एक विशेष पहलू होता है। आचार्य भरत नाट्यशास्त्र में दो प्रकार के धर्मी का उल्लेख करते हैं। एक नाटक दुनिया के सुख-दु:ख को प्रस्तुत करता है। जो वास्तविकता के बहुत करीब हैं वे यथार्थवादी (लोकधर्मी) हैं और जो वास्तविक नहीं बल्कि पारंपरिक हैं वे नाट्यधर्मी (पारंपरिक) हैं। इस प्रकार भरत ने दो प्रकार की प्रथाओं (धर्मी) को परिभाषित किया है- लोकधर्मी और नाट्यधर्मी।

- लोकधर्मी (यथार्थवादी): जिसमें मंच पर मानव व्यवहार का की प्रस्तुति और वस्तुओं की प्राकृतिक प्रस्तुति शामिल है।
- नाट्यधर्मी (पारंपरिक): इसके अंतर्गत शैलीगत तरीकों और प्रतीकों के उपयोग के माध्यम से एक नाटक की प्रस्तुति की जाती है। इसे यथार्थवादी से अधिक कलात्मक माना जाता है।

पाठगत प्रश्न 18.1

1. आचार्य भरत ने कितने प्रकार के धर्मी का उल्लेख किया है।
2. नाट्यधर्मी क्या होता है?
3. लोकधर्मी किसे कहते हैं?

4. नाट्यशास्त्र ग्रंथ किसकी रचना हैं?

18.2 भारत के महत्वपूर्ण नाट्य रूप

हमारा देश विविध संस्कृतियों और परंपराओं का देश है। भारतीय लोक जीवन एवं आदिवासी समुदायों के लोकनाट्य बहुत ही सरल और आकर्षक होते हैं। ये लोकनाट्य लोक जीवन से जुड़े हुए किसी उत्सव या सार्वजनिक आयोजन के समय मंचित किए जाते हैं।

जीवन चक्र और ऋतुओं के वार्षिक चक्र के लिए अलग-अलग लोकनाट्य मंचित किए जाते हैं जिनमें लोकनृत्यों की भी महती भूमिका होती है। भारत में नृत्य, दैनिक जीवन और धार्मिक अनुष्ठानों का अंग है। समकालीन समय में परिवर्तित होती जीवन शैलियों के कारण नृत्यों की प्रासंगिकता विशिष्ट अवसरों से भी आगे पहुँच गई है।

नीचे भारत के विभिन्न प्रदेशों के प्रमुख लोकनाट्यों के विषय में संक्षिप्त में विवरण दिया जा रहा है।

स्वांग : राजस्थान, हरियाणा, मध्य प्रदेश और मालवा प्रदेश- स्वांग लोकनाट्य मुख्य रूप से राजस्थान, हरियाणा, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के मालवा क्षेत्र के आसपास का एक लोक नृत्य नाटक है। इसमें किसी प्रसिद्ध रूप की नकली रहती है। अर्थात् किसी रूप को स्वयं में आरोपित कर उसे प्रस्तुत किया स्वांग है। इसमें गीत और संवाद के साथ उपयुक्त नाटकीयता और मिमिक्री शामिल है। यह एक संवाद-उन्मुख लोकनाट्य है। धार्मिक कहानियों और लोक कथाओं को एक समूह द्वारा एक खुले क्षेत्र में खेला जाता है। इसके मुख्य विषय हैं- नैतिकता, लोक कथाएँ, प्रेरक व्यक्तियों का जीवन, भारतीय पौराणिक कथाओं की कहानियों और हाल के दिनों में स्वास्थ्य और स्वच्छता, साक्षरता आदि जैसे अधिक वर्तमान विषयों शामिल हैं। स्वांग की दो महत्वपूर्ण शैलियाँ रोहतक और हाथरस की हैं। रोहतक की शैली में हरियाणवी (बांगरू) तथा हाथरस की भाषा ब्रजभाषा है।

भवई : गुजरात और राजस्थान- भवई गुजरात के उत्तरी क्षेत्र और राजस्थान के दक्षिण प्रदेश का पारंपरिक नाट्य रूप है। भवई में कुछ रूप में मनोरंजनात्मकता होती है और आंशिक रूप से देवी अम्बा को दी जाने वाली एक अनुष्ठानिक है। माउंट आबू के पास अंबाजी मंदिर के प्रांगण में नवरात्रि उत्सव भवई प्रदर्शन के साथ मनाया जाता है। अम्बा भवई की अधिष्ठात्री देवी हैं।

नौटंकी: उत्तर प्रदेश, राजस्थान, पंजाब आदि- हिन्दी और क्षेत्रीय सिनेमा के उदय से पूर्व पूरे उत्तर भारत में यह सर्वाधिक लोकप्रिय मनोरंजन लोकनाट्य कला थी। आज भी इस लोक रंगमंच के सबसे लोकप्रिय केंद्र कानपुर, लखनऊ और हाथरस हैं। समकालीन समय में, नुक्कड़ नाटक नौटंकी के समान ही होते हैं। आम तौर पर, दो या तीन कलाकारों के बीच एक गहन मधुर आदान-प्रदान होता है; एक कोरस भी कभी-कभी प्रयोग किया जाता है।

पारंपरिक नौटंकी की कहानी पौराणिक और लोक कथाओं से लेकर समकालीन नायकों की कहानियों तक फैली हुई है।

(source:www.indianculture.gov.in)

राममन : उत्तराखंड- राममन उत्तराखण्ड राज्य का लोकनाट्य है। यह रंगमंच, संगीत, ऐतिहासिक पुनर्निर्माण और पारंपरिक मौखिक और लिखित कथाओं का संयोजन करने वाला एक बहुरूप सांस्कृतिक कार्यक्रम है। यह हर साल बैसाख महीने (अप्रैल) में उत्तराखंड के चमोली जिले में स्थित भूमियाल देवता के मंदिर के प्रांगण में मनाया जाता है। विशेष रूप से वहाँ के भंडारियों (क्षत्रिय जाति) द्वारा किया जाने वाला मुखौटा नृत्य। रमन को मानवता की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत की यूनेस्को प्रतिनिधि सूची में भी शामिल किया गया है।

टिप्पणी

(source:www.indianculture.gov.in)

भांड पाथेर : जम्मू-कश्मीर- यह नृत्य, संगीत और अभिनय के अनूठे संयोजन के साथ कश्मीर का एक पारंपरिक व्यंग्य नाट्य रूप है। व्यंग्य, हाजिरजवाबी और पैरोडी इस रूप की मुख्य विशेषता है। इस लोकनाट्य के अधिकांश कलाकार मुख्य रूप से कृषक समुदाय से हैं और इसलिए इस लोकनाट्य में उनके रहन-सहन, आदर्शों और संवेदनशीलता का प्रभाव देखा जा सकता है।

(source:www.indianculture.gov.in)

रासलीला : उत्तर प्रदेश– रासलीला उत्तर प्रदेश की प्रसिद्ध नाट्य विधा है। मुख्यत: यह भगवान कृष्ण की किंवदंतियों पर आधारित है। ऐसा माना जाता है कि कृष्ण के जीवन पर आधारित शुरुआती नाटक नंददास ने लिखे थे। गद्य में संवाद कृष्ण की लीलाओं के गीतों और दृश्यों के साथ बहुत ही खूबसूरती से संयुक्त थे।

(source:www.indianculture.gov.in)

माच : मध्य प्रदेश– यह मध्य प्रदेश का पारंपरिक और लोकप्रिय नाट्य रूप है। माच शब्द का प्रयोग मंच और नाटक के लिए भी किया जाता है। इस नाट्य रूप में संवादों के बीच में गीतों को प्रमुखता दी जाती है। इस रूप में संवाद के लिए शब्द बोल है और कथन में तुकबंदी को वनाग कहा जाता है। इस नाट्य रूप की धुनों को रंगत के नाम से जाना जाताहै।

जात्रा : बंगाल– जात्रा में ऐतिहासिक एवं पौराणिक प्रसंगों को प्रस्तुत किया जाता है। दुर्गापूजा के समय इसका आयोजन अधिक किया जाता है। इसमें हारमोनियम, झांझ, मृदंग, ढोलक, तबला, मंजीरा एवं विगुल वाद्यों का प्रयोग किया जाता है। जात्रा एक प्रकार का संगीत नाट्य है जो देवताओं के सम्मान या धार्मिक अनुष्ठानों और समारोहों के अवसर पर मेलों में किया जाता है। यह नृत्य-नाटक बंगाल प्रदेश का प्रसिद्ध लोकनाट्य है। चौतन्य के प्रभाव से कृष्ण जात्रा विशेष रूप से लोकप्रिय हुई। समयान्तराल में सांसारिक प्रेम कहानियों को भी जात्रा में जगह मिली है। पूर्व में जात्रा संगीतमय अधिक था। लेकिन बाद में संवादों को भी प्रमुखता दी जाने लगी। जात्रा लोकनाट्य में अभिनेता स्वयं दृश्य के परिवर्तन और स्थान आदि का वर्णन करते हैं।

(source:www.indianculture.gov.in)

भाओना : असम– भाओना धार्मिक संदेशों के साथ संगीत रंगमंच का एक पारंपरिक और लोकप्रिय नाट्य रूप है। यह असम में किया जाता है 16वीं शताब्दी के आरम्भ में रचित यह महापुरुष शंकरदेव की अनुपम सृष्टि है। श्रीमन्त शंकरदेव और माधवदेव द्वारा रचित नाटसमूह को श्अंकीया नाटश नाम दिया गया। और हम इस नृत्य नाटक में असम, बंगाल उड़ीसा, मथुरा और बृंदावन की संस्कृति की झलक देख सकता है। इस रूप में, सूत्रधार नामक कथाकार कहानी शुरू करता है। अभिनेताओं को भौरिया कहा जाता है। अंकीया नाट का अभिनय श्भाओनाश कहलाता है। भाओना प्रायः सत्रों में मंचित होता है। भाओना प्रायः असमिया तथा ब्रजावली भाषाओं में लिखा गया है।

तमाशा : महाराष्ट्र– तमाशा महाराष्ट्र का बहुत ही प्रसिद्ध पारंपरिक लोक नाट्य रूप है। यह गोंडल, जागरण और कीर्तन जैसे लोक रूपों से विकसित हुआ है। अन्य रंगमंच रूपों के विपरीत, तमाशा में महिला अभिनेत्री नाटक में नृत्य आंदोलनों की प्रमुख प्रतिपादक होती है। उसे मुरकी के नाम से जाना जाता है। शास्त्रीय संगीत, बिजली की गति से चलने वाले फुटवर्क, और विशद हावभाव नृत्य के माध्यम से सभी भावनाओं को चित्रित करना संभव बनाते हैं।

(source:www.indianculture.gov.in)

दशावतार : गोवा और कोंकण प्रदेश– दशावतार कोंकण और गोवा क्षेत्रों का एक अत्यधिक लोकप्रिय नाट्य रूप है। इसमें भगवान विष्णु के दस अवतारों को चित्रित किया जाता हैं। शैलीबद्ध श्रृंगार के अलावा, दशावतार कलाकार लकड़ी और कागज की लुगदी के मुखौटे पहनते हैं।

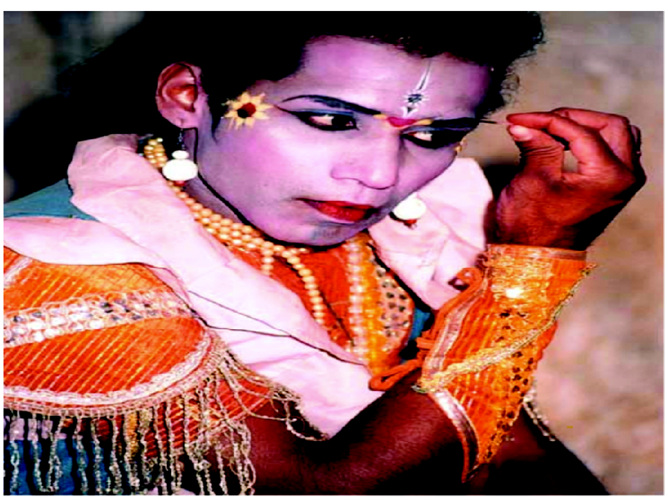

(source:www.indianculture.gov.in)

कृष्णाट्टम : केरल- कृष्णाट्टम केरल का एक लोकप्रिय लोक नाट्य है। प्रारंभ में यह यह 17वीं शताब्दी में कालीकट के राजा मनवादा के संरक्षण में अस्तित्व में आया था। कृष्णाट्टम लगातार आठ दिनों तक किए गए आठ नाटकों का एक एक नाट्य है जिसमें भगवान कृष्ण की कहानी प्रस्तुत की जाती है। इं अंकों के नाम हैं- अवतारम, कालियामंदना, रस क्रीड़ा, कामसवधा, स्वयंवरम, बाना युधम, विविध वधम और स्वर्गारोहण।

मुड़ियेट्टु : केरल- मुडियेट्टु केरल की एक आनुष्ठानिक नृत्य नाटिका है। यह जो देवी काली और दानव दारिका के बीच युद्ध की पौराणिक कहानी पर आधारित है। यह एक सामुदायिक अनुष्ठान है जिसमें गांव के लगभग सभी लोग भाग लेते हैं। यह फसल कटाई के मौसम के बाद फरवरी और मई के बीच केरल के देवी मां के मंदिरों में किया जाता है। देवी काली की एक विशाल छवि बनाते हैं जिसे कलाम कहा जाता है। चलक्कुडी पूझा, पेरियार और मूवाट्टुपुझा नदियों के किनारे बसे विभिन्न गांवों में देवी के मंदिरों में श्भगवती कावसश में प्रतिवर्ष मुडियेट्टु का प्रदर्शन किया जाता है। अनुष्ठान में सभी लोगों का आपसी सहयोग और सामूहिक भागीदारी होती है। मुड़ियेट्टु के सात पात्रः शिव, नारद, दारिका, दानवेंद्र, भद्रकाली, कुली और कोइम्बिदर (नंदीकेश्वर) हैं। इसके प्रचार प्रसार की जिम्मेदारी बुजुर्गों और वरिष्ठ कलाकारों की होती है। इसके प्रदर्शन के दौरान युवा पीढ़ी को प्रशिक्षु के रूप में शामिल किया जाता है । मुडियेट्टू अगली पीढ़ी तक समुदाय के पारंपरिक मूल्यों, नैतिकता, नैतिक संहिताओं और सौंदर्य संबंधी मानदंडों के प्रसारण के लिए एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक स्थल के रूप में कार्य करता है। वर्ष 2010 में मुदियेट्टू को मानवता की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत की यूनेस्को की प्रतिनिधि सूची में शामिल किया गया है। यह इस सूची में शामिल होने वाली 'कूडियाट्टम' के बाद केरल की दूसरी कला है।

(source:www.indianculture.gov.in)

थेय्यम : केरल- थेय्यम केरल का एक पारंपरिक और बेहद ही लोकप्रिय लोक नाट्य है। आचार्य भरत के ग्रंथ श्नाट्यशास्त्रश पर आधारित होने के कारण यह बहुत ही पारंपरिक और लोक-प्रचलित नाट्य रूप है। श्थेय्यमश शब्द संस्कृत शब्द श्दैवम्श से लिया गया है जिसका अर्थ होता है- ईश्वर। इसलिए इसे भगवान का नृत्य भी कहा जाता है। थेय्यम लोगों द्वारा अपने पूर्वजों तथा लोक नायकों की आत्माओं को प्रसन्न करने और उनकी पूजा करने के लिए किया जाता है। अधिकांश विषय प्राचीन पौराणिक विषयों के आसपास होते हैं, अधिकांश प्रदर्शन मंदिर परिसर के अंदर देखे जा सकते हैं; एक ही समय में दो या दो से अधिक पात्र मंच पर होते हैं, जिसमें चक्कियार पुरुष कलाकार प्रदान करते हैं और नांगियार महिला भूमिकाएँ निभाते हैं। बाद वाले झांझ बजाते हैं और संस्कृत में छंदों का पाठ करते हैं, जबकि पृष्ठभूमि में नांबियार मिजावु, एक बड़ा तांबे का ड्रम बजाते हैं। इन्हें प्रदर्शन करने में 6 से 20 दिन तक का समय लग सकता है। जो लोग इस खूबसूरत कला रूप को देखने में रुचि रखते हैं, वे इरिंजलक्कुडा में कुडलमानिक्यम मंदिर और त्रिशूर में वडक्कुमनाथ मंदिर जा सकते हैं, जहां आज भी इसकी कुछ सबसे प्रसिद्ध प्रस्तुतियां देखी जा सकती हैं।

कूडियाट्टम : केरल- कूडियाट्टम संस्कृत रंगमंचीय परंपराओं पर आधारित है। यह केरल का सबसे पारंपरिक रंगमंच रूपों में से एक है। चाक्यार या अभिनेता, नांबियार, वादक और नांग्यार इस नाट्य रूप के पात्र हैं। ये महिलाओं की भूमिका निभाते हैं। सूत्रधार या कथावाचक और विदूषक नायक होता हैं। विदुषक ही हैं जो संवादों का उच्चारण करते है। हाथ के इशारों और आंखों की हलचलों पर नृत्य इस रंगमंच को अद्वितीय बनाता है। मानवता की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत की यूनेस्को की प्रतिनिधि सूची में शामिल किया गया है

(source:www.indianculture.gov.in)

टिप्पणी

यक्षगान : कर्नाटक- यक्षगान कर्नाटक का पारंपरिक नाट्य रूप है। यह पौराणिक कथाओं और पुराणों पर आधारित है। इसके अंतर्गत सबसे लोकप्रिय कथा महाभारत में द्रौपदी स्वयंवर, सुभद्रा विवाह, अभिमन्यु वध, कर्ण-अर्जुन युद्ध और रामायण में राम राज्याभिषेक, लव-कुश युद्ध, बाली-सुग्रीव युद्ध और पंचवटी कथा आदि हैं। यक्षगान की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। यह नृत्य नाट्य (डांस ड्रामा) है जिसमें गीतबद्ध संवादों का प्रयोग किया जाता है। इसमें वर्णन का प्राद्यान्य होता है। इसकी कथावस्तु मुख्यतः रामायण, महाभारत और भागवत से ली जाती है।

थेरुकुथु : तमिलनाडु- थेरुकुथु का शाब्दिक अर्थ नुक्कड़ नाटक होता है। यह तमिलनाडु के सभी लोक नाटयों में सबसे लोकप्रिय नाट्य प्रयोग है। यह मरिअम्मन देवी जो कि वर्षा देवी होती है को प्रसन्न करने के लिए खेला जाता है। यह मुख्यतः मंदिर उत्सवों के अवसर पर मंचित किया जाता है। द्रौपदी के जीवन पर आधारित थेरुकुथु के व्यापक प्रदर्शनों के केंद्र में आठ नाटकों का एक की एक श्रंखला होती है।

(source:www.indianculture.gov.in)

वीथिनाटक : आंध्र प्रदेश और तेलंगाना- तेलुगु भाषा में 'वीथि' का अर्थ है- सड़क या खुली जगह। यह आंध्र प्रदेश का सबसे लोकप्रिय लोक नाट्य रूप है। चूँकि पर भगवान आधारित ये नाटक एक खुले स्थान पर किए जाते थे इसलिए उन्हें वीधिनाटक कहा जाता था। इन नाटकों का प्रदर्शन भगवान के भक्तों द्वारा किया जाता था, इसलिए उन्हें कभी-कभी वीथि भागवत भी कहा जाता था। इस नाटक में एक या दो ही पात्र रंगमंच पर आते हैं। स्त्रियां भी समूह में नृत्य प्रस्तुत करती हैं।

हरिकथा : आंध्रप्रदेश, कर्नाटक और तमिलनाडु- हरिकथा आंध्र प्रदेश, कर्नाटक और तमिलनाडु के ग्रामीण अञ्चल का एक प्रसिद्ध लोकनाट्य है। यह एक कथात्मक लोकनाट्य है जिसमें प्रार्थना, एकल नाटक, नृत्य, गीत, कविताएँ आदि शामिल हैं। बुराकथा सुनाने वालों को बुडगजंगलु कहा जाता है। इसका विषय हिंदू पौराणिक कहानी पर आधारित होता है। वर्तमान में इसमें समकालीन सामाजिक समस्या आधारित कहानियों का प्रयोग भी इसमें होने लगा है। हरीकथा ने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान लोगों को संदेश देने और उन्हें जगाने में प्रभावी भूमिका निभाई।

पाठगत प्रश्न 18.2

1. स्वांग की दो महत्वपूर्ण शैलियाँ कौन-सी हैं?

2. भवई लोकनाट्य किस प्रदेश का है?

3. नौटंकी की कहानियों का आधार क्या होता है।
4. उत्तराखंड का कौनसा लोकनाट्य यूनेस्को प्रतिनिधि सूची में शामिल है?
5. भाँड़ पाथेर लोकनृत्य के कलाकार मुख्य रूप से किस समुदाय के हैं?
6. रासलीला किस प्रदेश का लोकनाट्य है।
7. माच लोकनाट्य में तुकबंदी को क्या कहा जाता है?
8. जात्रा लोकनाट्य में कौन दृश्य के परिवर्तन और स्थान आदि का वर्णन करते हैं
9. भाओना किस प्रदेश का लोकनाट्य है?
10. तमाशा किस राज्य का लोकनाट्य है?
11. यक्षगान के विषय में टिप्पणी कीजिए।
12. 'थेय्यम' शब्द संस्कृत के कौन-से शब्द से लिया गया है?

18.3 भारतीय प्रमुख लोक नाट्य और लोक नृत्य

भारत में प्राचीन समय से ही अनेक अवसरों पर नृत्य की परम्परा चली आ रही हैं। हमारे यहाँ प्रत्येक राज्य के अपने लोक नृत्य और लोक

नाट्य हैं। लोक नृत्य और लोकनाट्य ही हैं जो विभिन्न प्रदेशों की क्षेत्रीय संस्कृति प्रदर्शित करते हैं। एक प्रदेश के एक से अधिक लोक नृत्य भी हो सकते है। नीचे भारत के विभिन प्रदेशों के लोक नाट्य और लोक नृत्य दिए जा रहे हैं।

भारत के राज्य	**लोक-नृत्य/लोक नाट्य**
आंध्र प्रदेश	घंटामरदाला, वीथिनाटक, हरिकथा, कुचीपुड़ी, ओट्टम थेडल, वेदी नाटकम।
असम	बीहू, महारास, कालिगोपाल, बागुरुम्बा, बीछुआ, नटपूजा,नागा नृत्य, खेल गोपाल, ताबाल चोनग्ली, कानोई, झूमूरा होबजानाई।
बिहार	बक्खो- बखैन, जाटख्र जाटिन, पनवारिया, सामा चकवा, डोमकट बिदेसिया।
गुजरात	डांडिया रास,गरबा, टिप्पनी जुरुन, भावई।
हरियाणा	फाग, डाफ, झूमर, धमाल, लूर, खोर, गुग्गा, जागोर।

भारत के प्रमुख लोक नाट्य और लोक नृत्य

हिमाचल प्रदेश	झाली, झोरा, छारही, धामन, छापेली, महासू, नटी, डांगी।
जम्मू और कश्मीर	हीकत, रऊफ, कूद डांडी नाच,मंदजात, दमाली।
कर्नाटक	हुट्टारी, यक्षगान, हरिकथा, सुग्गी, कुनीथा, करगा, लाम्बी।
केरल	ओट्टम थुलाल, कथकली (शास्त्रीय), मोहिनीअट्टम, काईकोट्टिकली।
महाराष्ट्र	नकाटा,लावणी, कोली, गाफा, लेजिम, दहीकला दसावतार या बोहादा।
ओडीशा	ओडिसि (शास्त्रीय), सवारी, घूमरा, पैंरास मुनारी, छाउ।
पश्चिम बंगाल	जात्रा, गंभीरा, बाउल, काठी, ढाली, मरासिया, महाल, कीरतन।
पंजाब	गिद्दा, भांगड़ा, दफ्फ, धामन, भांड, नकूला।
राजस्थान	घूमर, चाकरी, गणगौर, रामलीला, कृष्णलीला, झूलन लीला, झूमा, सुईसिनी, घपाल, कालबेलिया।
तमिलनाडु	भरतनाट्यम, कोलट्टम,कुमी, हरिकथा, थेरुकुथु, कवाडी।
उत्तर प्रदेश	नौटंकी, रासलीला, कजरी, झोरा, चाप्पेली, जैता।
उत्तराखंड	कुंमायुनी, गढ़वाली, कजरी, रासलीला, छाप्पेली।
गोवा	तरंगमेल, कोली, देक्खनी, फुग्दी, शिग्मो, घोडे, मोडनी, समायी नृत्य, जगर, रणमाले, गोंफ, टून्नया मेल।
मध्य प्रदेश	जवारा, मटकी, अडा, खाड़ा नाच, फूलपति, ग्रिदा नृत्य, सालेलार्की, सेलाभडोनी, मंच।
छत्तीसगढ़	गौर मारिया, पैंथी, राउत नाच, पंडवाणी, वेडामती, कपालिक, भारथरी चरित्र, चंदनानी।
झारखंड	अलकप, कर्मा मुंडा, अग्नि, झूमर, जनानी झूमर, मर्दाना झूमर, पैका, फगुआ, हूंटा नृत्य, मुंदारी नृत्य, सरहुल, बाराओ, झीटका, डांगा, डोमचक, घोरा नाच।
अरुणाचल प्रदेश	बुईया, छालो, वांचो, पासी कोंगकी, पोनुंग, पोपीर, बारडो छाम।
मणिपुर	डोल चोलम, थांग टा, लाई हाराओबा, पुंग चोलोम, खांबा थाईबी, नूपा नृत्य, रासलीला, खूबक इशेली, लोहू शाह।

मेघालय	का शाद सुक मिनसेइम, नॉन्गरेम, लाहो।
मिजोरम	छेरव नृत्य, खुल्लम, चौलम, स्वलाकिन, च्वांगलाईज्वान, जंगतालम, पर लाम, सरलामकई/ सोलाकिया, लंगलम।
नागालैण्ड	रंगमा, बांस नृत्य, जीलैंग, सूईरोलियंस, गीथिंगलिम, तिमांगनेतिन, हेतलईयूली।
त्रिपुरा	होजागिरी।
सिक्किम	छू फाट नृत्य, सिकमारी, सिंघई चाम या स्नो लायन डांस, याक छाम, डेनजोंग नेनहा, ताशी यांगकू नृत्य, खूखूरी नाच, चुटके नाच, मारूनी नाच।
लक्षद्वीप	लावा, कोलकाई, परीचाकली।

आपने क्या सीखा

- भरत ने दो प्रकार की प्रथाओं (धर्मी) को परिभाषित किया है– लोकधर्मी और नाट्यधर्मी।
- लोकधर्मी (यथार्थवादी): जिसमें मंच पर मानव व्यवहार का की प्रस्तुति और वस्तुओं की प्राकृतिक प्रस्तुति शामिल है।
- नाट्यधर्मी (पारंपरिक): इसके अंतर्गत शैलीगत तरीकों और प्रतीकों के उपयोग के माध्यम से एक नाटक की प्रस्तुति की जाती है। इसे यथार्थवादी से अधिक
- स्वांग लोकनाट्य मुख्य रूप से राजस्थान, हरियाणा, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के मालवा क्षेत्र के आसपास का एक लोक नृत्य नाटक है। इसमें गीत और संवाद के साथ उपयुक्त नाटकीयता और मिमिक्री शामिल है।
- भवई में कुछ रूप में मनोरंजनात्मकता होती है और आंशिक रूप से देवी अम्बा को दी जाने वाली एक अनुष्ठानिक है।
- आज भी नौटंकी लोक रंगमंच के सबसे लोकप्रिय केंद्र कानपुर, लखनऊ और हाथरस हैं। समकालीन समय में, नुक्कड़ नाटक नौटंकी के समान ही होते हैं।
- राममन उत्तराखण्ड राज्य का लोकनाट्य है। यह रंगमंच, संगीत, ऐतिहासिक पुनर्निर्माण और पारंपरिक मौखिक और लिखित कथाओं का संयोजन करने वाला एक बहुरूप सांस्कृतिक कार्यक्रम है।

- भांड पाथेर नृत्य, संगीत और अभिनय के अनूठे संयोजन के साथ कश्मीर का एक पारंपरिक व्यंग्य नाट्य रूप है। व्यंग्य, हाजिरजवाबी और पैरोडी इस रूप की मुख्य विशेषता है।

- थेय्यम केरल का एक पारंपरिक और बेहद ही लोकप्रिय लोक नाट्य है। आचार्य भरत के ग्रंथ श्नाट्यशास्त्रश पर आधारित होने के कारण यह बहुत ही पारंपरिक और लोक-प्रचलित नाट्य रूप है। श्थेय्यमश शब्द संस्कृत शब्द श्दैवम्श से लिया गया है जिसका अर्थ होता है- ईश्वर। इसलिए इसे भगवान का नृत्य भी कहा जाता है।

- कूडियाट्टम संस्कृत रंगमंचीय परंपराओं पर आधारित है। यह केरल का सबसे पारंपरिक रंगमंच रूपों में से एक है। चाक्यार या अभिनेता, नांबियार, वादक और नांग्यार इस नाट्य रूप के पात्र हैं। ये महिलाओं की भूमिका निभाते हैं। सूत्रधार या कथावाचक और विदूषक नायक होता हैं। विदुषक ही हैं जो संवादों का उच्चारण करते है। हाथ के इशारों और आंखों की हलचलों पर नृत्य इस रंगमंच को अद्वितीय बनाता है।

- भारत में अनेक प्रकार के नृत्य किए जाते हैं। नृत्य हमारे लोकनातकों में भी समाहित है।

पाठान्त प्रश्न

1. नौटंकी लोकनाट्य के विषय में टिप्पणी लिखिए।
2. भांड पाथेर लोकनाट्य की प्रमुख विशेषता को बताइए।
3. लोकणात्यों के प्रकारों के विषय में लिखिए।
4. भारत के लोकणात्यों के विभिन्न प्रकारों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
5. किन्ही पाँच राज्यों के प्रमुख लोक नृत्यों की सूची बनाइये।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

18.1

1. दो प्रकार के
2. नाट्यधर्मी शैलीगत तरीकों और प्रतीकों के उपयोग के माध्यम से एक नाटक की प्रस्तुति की जाती है।

3. लोकधर्मी (यथार्थवादी): जिसमें मंच पर मानव व्यवहार का की प्रस्तुति और वस्तुओं की प्राकृतिक प्रस्तुति शामिल है।

4. आचार्य भारत मुनि की

18.2

6. रोहतक और हाथरस

7. गुजरात के उत्तरी क्षेत्र और राजस्थान के दक्षिण प्रदेश का

8. नौटंकी की कहानी पौराणिक और लोक कथाओं से लेकर समकालीन नायकों की कहानियों तक फैली हुई है।

9. राममन

10. कृषक समुदाय के

11. उत्तर प्रदेश का

12. वनाग

13. अभिनेता स्वयं

14. आसाम का

15. महाराष्ट्र

16. यह पौराणिक कथाओं और पुराणों पर आधारित है। इसके अंतर्गत सबसे लोकप्रिय कथा महाभारत में द्रौपदी स्वयंवर, सुभद्रा विवाह, अभिमन्यु वध, कर्ण-अर्जुन युद्ध और रामायण में राम राज्याभिषेक, लव-कुश युद्ध, बाली-सुग्रीव युद्ध और पंचवटी कथा आदि हैं।

17. दैवम् से

19

लोकनाट्य में संगीत की भूमिका

भारतीय रंगमंच परंपरा की पूरी अवधारणा संगीत और नृत्य पर केन्द्रित है। गायन और वादन दोनों ही भारतीय नाट्य परंपरा के अभिन्न अंग रहे हैं। स्वयं आचार्य भरत ने संगीत के महत्व को रेखांकित करते हुए नाट्यशास्त्र में इसका विस्तृत विवेचन किया है। संस्कृत नाटकों की परंपरा में तो संगीत का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण ही था। संस्कृत नाटकों के बाद अस्तित्व में आए विभिन्न पारंपरिक लोक नाटकों के अत्यंत विकसित नाट्य रूपों में भी संगीत एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में विद्यमान रहा है।

यदि भारत के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित पारंपरिक लोकनाट्यों का अध्ययन करें तो हम पाएंगे कि उनमें संगीत, नाटक की संरचना को बेहद मजबूती के साथ बांधता हुआ दिखाई देता है। वह अभिनेताओं की गतियों के साथ पूरी तरह संबद्ध है। संगीत का संबंध नृत्य गतियों, कथा स्थितियों के भावों और अभिनेता की अंग-भंगिमाओं के साथ गहराई से जुड़ा हुआ है। यहाँ तक कि प्रत्येक नाट्य रूप में एक ऐसा ताल वाद्य होता है जो संगीत के रूपबंध का सहायक होता है और नृत्य गतियों की संगत करता है। इस अध्याय में हम लोकनाटकों में संगीत और नृत्य की भूमिका के बारे में चर्चा करेंगे।

अधिगम के प्रतिफल

इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप-

- लोकनाट्य और संगीत के विषय में जानते हैं;
- लोकनाट्य में संगीत के महत्व को जानते हैं;
- लोकनाट्य और नृत्य के संबंध को जानते हैं; और
- लोकनाट्य में नृत्य के महत्व को जानते हैं।

19.1 लोकनाट्य

मानव सभ्यता के आरंभ से ही संगीत और नृत्य विषेश रूप से विद्यमान रहे हैं। सभ्यता के विकास के साथ ही ये विकसित हुए और कालांतर में नाट्य में परिणित हुए। नाट्यशास्त्र में वर्णित विषय इस बात की पुष्टि करते हैं कि भारतीय शास्त्रीय परंपरा में यह एक अनिवार्य तत्व के रूप में विद्यमान था और नाट्य प्रस्तोता से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह संगीत के विषय में पर्याप्त ज्ञान रखे।

लोकनाट्य दो शब्दों से मिलकर बना है लोक और नाट्य अर्थात वह नाटक जो लोक द्वारा निर्मित है। प्रायः जब कोई नाट्यरूप लोक की सशक्त कथाओं को मंच पर प्रदर्शित करती है और एक व्यापक जन समूह द्वारा उस मंचन को स्वीकार कर पीढ़ी दर पीढ़ी एक परंपरा के रूप में स्थापित कर दिया जाता है तो उसे लोकनाट्य कहते हैं। लोकनाट्य की विशेषताओं में गीत, संगीत, नृत्य और संवाद मुख्य हैं। लोक नाटकों के मंचन के अवसर भी लोक संस्कार और लोक में प्रचलित उत्सवों से जुड़े हुए हैं। वास्तव में गीत, संगीत और नृत्य के बिना लोक नाटक की कल्पना ही नहीं की जा सकती है।

लोकनाट्य लोकमानस के उल्लास और उत्सव से अनुप्राणित होते हैं। लोकनाट्य ऐसे अवसरों पर प्रयोग किए जाते हैं जब लोक उत्साह की चरम स्थिति में होता है। वह आनंद उत्सव मना रहा होता है। गीत, संगीत और नृत्य इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इसे हम इस तरह से भी समझ सकते हैं कि जब हम कोई उत्सव मना रहे होते हैं तो हमारी वाणी में एक अलग ही उत्साह होता है। उसी तरह हमारे शरीर में भी उत्साह की अनंत लहरें उठ रही होती हैं। अपने उत्साह की अभिव्यक्ति हम कभी गाकर तो कभी नृत्य करके अभिव्यक्त करते हैं। ठीक इसी प्रकार लोक भी अपने भावों की अभिव्यक्ति, उत्साह की अभिव्यक्ति कभी गाकर तो कभी नृत्य कर प्रस्तुत करता है। लोक कला में लोकनृत्य, लोकगीत और लोक संगीत के विषय में हम जानते हैं। इसी प्रकार लोकनाट्य में भी किसी विशिष्ट क्षेत्र के लोकगीत, लोकसंगीत और लोक नृत्य का अनूठा संगम होता है।

यदि हम रंगमंच के इतिहास को ध्यान से देखें तो लोक नाटकों के अस्तित्व में आने का मुख्य कारण धार्मिक भावना दिखलाई देती है। इसी धार्मिक भावना के कारण मंदिरों में किए जाने वाले लोकनाट्य और लीला लोक नाट्य दिखलाई देते हैं। भारत में भिन्न-भिन्न आंचलिक क्षेत्रों के अपने अलग लोकनाट्य हैं। लोक नाटकों ने अपने निर्माण के लिए लोक मनोविज्ञान को स्वीकार किया है। लोक अपने वातावरण और रुचि के अनुरूप ही अपने मनोरंजन का साधन भी निकाल लेता है। नाट्य इन सभी साधनों में श्रेष्ठ है।

टिप्पणी

19.2 नाट्य और संगीत

ध्वनि की एक ऐसी व्यवस्थित श्रृंखला जो किसी नियत रस की उत्पत्ति कर दे, वह संगीत कहलाता है। संगीत में गायन, वादन और नर्तन तीनों का ही समावेश होता है। हर्ष, उल्लास आदि की अभिव्यक्ति मनुष्य इसी के माध्यम से करता आया है।

नाट्य के संदर्भ में संगीत के सोद्देष्य प्रयोग का उल्लेख हमें नाट्यशास्त्र में मिलता है। स्वयं ब्रम्हा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यर्जुवेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस तत्वों को ग्रहण कर नाट्य की उत्पत्ति की ऐसा उल्लेख इसके प्रथम अध्याय में प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि नाट्य के आरंभिक काल में संगीत एक अनिवार्य तत्व था जिसके बिना नाट्य की संकल्पना ही अधूरी थी। ऐसा माना गया है कि रंगमंच सभी कलाओं का समागम है। समस्त कलाओं के विकसित होने के बाद ही इस रंगमंच का प्रादुर्भाव हुआ है। जाहिर है कि संगीत भी उन विकसित कलाओं में से एक था।

वास्तव में रंगसंगीत का तात्पर्य किसी नाट्यप्रस्तुति में दृश्य-विशेष के लिए अथवा संपूर्ण नाटक के लिए तैयार की गई संगीतबद्ध रचना से है जिसमें गायन, वादन के साथ ध्वनि प्रभाव भी सम्मिलित हैं। कभी-कभी पूरा नाटक ही संगीत रचना पर आधारित होता है और कभी-कभी दृश्यों के आवश्यकतानुसार संगीत संयोजन किया जाता है। संगीत पार्श्व ध्वनि के माध्यम से दृश्य परिवर्तन करने आदि के लिए किया जाने लगा। इसका स्वरूप कभी लाइव तो कभी रिकॉर्डेड हुआ।

मध्ययुग में लोकनाट्य रूपों के उदय में भी भाषा संगीतक की विशेष भूमिका रही। संगीतक में नृत्य, गीत, वाद्य, संवाद ये सभी महत्वपूर्ण अवयव थे। प्रसिद्ध विद्वान जगदीशचंद्र माथुर का मत है कि जात्रा, माच, रासलीला, भागवतमेल, तमाशा, कृड़ियट्टम इत्यादि सभी संगीतक के परवर्ती रूप हैं। परम्पराशील नाट्यरूपों के प्रदर्शन का अवलोकन कर संगीत तत्व के महत्वपूर्ण पक्ष का आकलन किया जा सकता है। क्या नौटंकी को उसकी गायकी से विलग कर देख जा सकता है? क्या महाराष्ट्र के तमाशा से लावणी गायन आदि का विलोप कर इसकी कल्पना की जा सकती है? संभवतः नहीं। वास्तव में गायकी पद्धतियों ने ही इन कलारूपों को जीवंत बनाए रखने की कोशिश की है।

रंगमंच के प्रत्येक चरण में संगीत निहित है। वास्तव में संगीत भारतीय रंगमंच का प्राण तत्व रहा है जिसने रंगमंच को दर्शकों से बाँधे रखा। एक संपूर्ण थियेटर की अवधारणा पूर्व से लेकर आज तक विद्यमान है। ना केवल भारतीय रंगमंच अपितु पाश्चात्य रंगमंच के प्राचीन रंगमंच ग्रीक का आरंभ भी गीतों से होता है। यह भी आश्चर्य का विषय है। हम पाते हैं कि जनसमुदाय की आस्था ने संगीत के माध्यम से अपने ईश्वर का यशोगान किया और बाद में संगीत के साथ-साथ अभिनय की ओर उन्मुख हुए। उनकी आस्था और विश्वास को पोषित करने वाला संगीत ही था।

टिप्पणी

पाठगत प्रश्न 19.1

1. लोकनाट्य क्या है?

....

2. लोकनाट्य की मुख्य विशेषता क्या है?

....

3. लोकनाट्य किससे अनुप्राणित हैं?

....

4. संगीत में कौन-कौन से अवयव सम्मिलित हैं?

....

19.2 मंदिर आश्रित लोकनाट्य में संगीत

जगदीशचंद्र माथुर का मानना है कि पारंपरिक लोकनाट्यों का विकास भाषा संगीतकों से हुआ है। यहाँ संगीत और संगीतक में कुछ अंतर है। जैसे- संगीत का प्रयोग वाद्य यंत्रों के वादन के साथ किये जाने वाले गान के लिए किया जाता है जबकि संगीतक में सहगान और सहवादय वादन के अलावा नृत्य, गीत, संवाद भी होता है। संगीतकों का प्रदर्शन प्रेक्षागृह में दर्शकों के सम्मुख प्रदर्शित किया जाता था। हालांकि संगीत भी प्रेक्षागृह में प्रस्तुत होता था लेकिन संगीतक के लिए प्रेक्षागृह में प्रदर्शन मुख्य रूप से अनिवार्य है। इस प्रकार लोकनाट्य के उदय में यदि भाषा संगीत को का भी प्रभाव माना जाए तो संगीत यहां भी प्रमुख रूप से उपस्थित था।

संस्कृत रंगमंच के पतन के बाद जनता पर कला और साहित्य का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा। भागवत धर्म के प्रचार प्रसार के साथ जनता की आस्था भी बढ़ती चली गई और भागवत धर्म दक्षिण से लेकर उत्तर तक धीरे-धीरे पूरे देश में छाने लगा। इस परिस्थिति में मनोरंजन और धार्मिक आस्था दोनों एक साथ आकर जुड़ गए। कालांतर में इन संगीतकों ने दसवीं शताब्दी से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी तक प्रमुख भाषायी क्षेत्रों में अपना प्रभाव जमाया और धीरे-धीरे उन्हें स्थानीय नाम दिए जाने लगें। नाम और भाषा में अंतर के कारण धीरे-धीरे उन्हें भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की लोकनाट्य रूप में जाना जाने लगा।

टिप्पणी

लोकनाट्य में संगीत की भूमिका

लोकनाट्य रूपों के प्रवर्तकों ने लोक नाटक की रचना के लिए लोक प्रचलित नृत्य और गायन शैली का मुख्य रूप से प्रयोग किया। कुछ हद तक लोकनाट्य का संगीत, शास्त्र के अनुरूप था या फिर उन संगीतकों पर आश्रित था जो उस दौर में सामान्य जनता और अभिजात्य वर्ग में प्रचलित थें। यह भी बड़ा महत्वपूर्ण है कि लोकनाटयों के प्रवर्तक ना केवल साहित्य में बल्कि संगीत और नृत्य जैसी प्रदर्शन कलाओं में भी पारंगत थे वह कुशल नाट्य प्रयोक्ता भी थे।

कुड़ियाट्टम

कुड़ियट्टम की प्रस्तुति कई रातों में पूरी होती है। चाक्यार प्रस्तुति को इतनी सूक्ष्मता के साथ प्रस्तुत करते हैं कि कई रातों में पूर्व रंग ही सम्पन्न हो पाता है। इस लोकनाट्य में पुरुष और स्त्री दोनों ही भाग लेते हैं। सबसे पहले पूर्वरंग की प्रक्रिया संपन्न कराई जाती है। इस दौरान हमें संगीत का मनोहारी दृश्य दिखलाई देता है। मंच पर कई वाद्ययंत्र जैसे कि ढोल, मिझाबु, इडक्का, कोंमा (तुरही के आकार का एक वाद्य यंत्र), कुरुनकुझल या कुचल (बंशी) और शंख जैसे वाद्ययंत्रों के साथ उनके वादकगण मंच पर अपना स्थान लेते हैं। दो दीपक अभिनेताओं और दर्शकों के समक्ष जलाए जाते हैं। देवी और देवताओं पर पुष्प अर्पित किए जाते हैं। इसके बाद संगीत की प्रस्तुति होती है। नांग्यार के द्वारा मिझाबु का वादन किया जाता है और साथ ही गायन भी आरंभ होता है। इन गीतों में मुख्य रूप से गणपति, शिव, सरस्वती आदि देवताओं का आह्वाहन किया जाता है। पूर्वरंग की यह क्रिया 'अकिट्ट कुट्टक' कहलाती है।

इसके बाद नांब्यार प्रस्तुत की जाने वाली कथा का सारांश मलयालम भाषा में प्रस्तुत करता है। नांब्यार के बाद नांग्यार द्वारा ध्रुव पदों का गायन किया जाता है। इसी अवसर पर दो कलाकार रंग पट्टिका को लेकर मंच पर प्रवेश करते हैं और सहसा पटी के पीछे अभिनेता मंच पर उपस्थित होता है। वह नांग्यार के गीतों और वाद्य यंत्रों के वादन के साथ नृत्य प्रदर्शित करता है। चारी, करण और अंगहार की क्रियाएँ प्रस्तुत की जाती हैं। इस तरीके से कुड़ियट्टम के पूर्वरंग में संगीत और नृत्य की मुख्य भूमिका देखने को मिलती है। ऐसा नहीं है कि केवल पूर्वरंग में ही संगीत और नृत्य की मुख्य भूमिका होती है बल्कि अपने पूरे प्रदर्शन के दौरान अभिनय के मुख्य शैली नृत्य और संगीत पर ही आश्रित होती है। या यह कहें कि इसके बिना कुड़ियट्टम की प्रस्तुति ही संभव नहीं। नाटक के समाप्त होने पर भी नांग्यार आह्वाहन गीत प्रस्तुत करती है। चाक्यार नृत्य होता है। मिझावु का वादन किया जाता है। और अंत में मंच पर रखे हुए दीपक को बुझा कर प्रस्तुति समाप्त की जाती है।

कुड़ियट्टम की इस पूरी प्रस्तुति में संगीत और नृत्य शास्त्रीय परंपरा के अधिक निकट दिखाई देते हैं। नाटयशास्त्र में अभिनय के लिए जो चार प्रमुख भेद बतलाए गए हैं उनका मिलाजुला रूप कुड़ियट्टम में प्रयुक्त दिखाई देता है। इनके गीतों में चाक्यार द्वारा किए जाने वाले पाठ विशेष प्रभाव और रसों को अभिव्यक्त करने वाले समस्त अवयव विद्यमान होते हैं। नांब्यार का

स्वर संगीत अपनी अलग ही विशिष्टता लिए हुए होता है। प्रदर्शन में श्लोकों से संबंधित रागों में भिन्नता होती है और उससे पाठ भी भिन्न प्रकार का हो जाता है। नाटक के सभी पात्र अपने संवादों में एक संगीतात्मक विशिष्टता लिए हुए दिखाई देते हैं।

कुड़ियट्टम में प्रयुक्त नृत्य मुद्राओं में नेत्रों, भौंह, धड़ और हाथों का प्रदर्शन मुख्य रूप से किया जाता है। अभिनेता बड़ी ही कुशलता के साथ अपनी मुख मुद्राओं और हाथों के संचालन से चरित्र की स्थितियों और पूर्ण घटनाओं को दर्शकों के समक्ष प्रत्यक्ष कर देते हैं। नृत्य में कुछ विशिष्ट मुद्राओं का प्रयोग किया जाता है जिन्हें चेरियचोक्कम (प्रवेश गति के लिए) और 'कोलियुन्टि नाट' (सौम्य गति के लिए) कहा जाता है। गायन को अभिव्यक्त करने के लिए जो आंगिक अभिनय प्रयुक्त होता है उसे 'चाकीयट्टम' कहा जाता है। कुड़ियाट्टम का अभिनेता अपने नेत्रों और हस्तों का प्रयोग कर प्रत्येक पंक्ति, शब्द और अक्षर को अभिव्यक्त कर देते हैं। अभिनय में ऐसा भाव प्रदर्शन केरल के ही नृत्य कथकली में भी हम देख सकते हैं। संगीत और नृत्य में ऐसे निपुण कलाकार बचपन से ही तैयार किये जाते हैं।

प्रदर्शन की एक विशिष्ट परंपरा का अनुगमन करने के कारण यह शास्त्रीय होने के साथ ही साथ वैदिक कर्मकांड सा परिलक्षित होता है। यही इसकी विशेषता है। इस प्रकार कुड़ियट्टम में संगीत और नृत्य की परिकल्पना अनुष्ठानपरक है। यह मंदिर के कर्मकांडों से गहरे रूप से जुड़ी हुई है।

यक्षगान

यक्षगान कर्नाटक प्रदेश में प्रचलित लोकनाट्य है। इसका उद्भव 16वीं शताब्दी में हुआ था। यक्षगान के अस्तित्व में आने के प्रमुख स्रोत संस्कृत साहित्य, कन्नड़ साहित्य, कला और संगीत में पाए जाते हैं। केरल की लोकनाट्य कुड़ियट्टम का प्रभाव इस लोकनाट्य में विशेष रूप से देखा जा सकता है। जिस प्रकार से कुड़ियट्टम में शास्त्रीय परिपाटी का प्रयोग दिखता है वैसा यक्षगान में नहीं है। यक्षगान का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ है। इस शैली में संगीत और नृत्य की मार्गी शैली के स्थान पर देसी शैली के तत्वों का अधिकता से इस्तेमाल किया जाता है। इन में प्रयुक्त नृत्य और संगीत इन्हीं देसी शैलियों से निकल कर आते हैं।

आरंभ में यक्षगान का प्रदर्शन भी मंदिरों के भीतर किया जाता रहा है। इसके प्रदर्शन में जनता की भक्ति भावना मुख्य है। प्रायः जनता अपने संकटों से मुक्त होने के लिए देवताओं से मनौतियाँ मांगते हैं और यही मनौतियाँ भी यक्षगान की प्रस्तुतियों का प्रमुख कारण रही हैं। यह भी महत्वपूर्ण है कि अपने आरंभ में यक्षगान मंदिरों में हुआ करते थें लेकिन बाद में आम जनमानस के लिए एक आकर्षक प्रदर्शन होने के कारण धीरे-धीरे यह मंदिरों से निकलकर चौपालों और सार्वजनिक जगहों पर भी होने लगें। इनमें पारंपरिक नृत्य, संगीत के रूपों की भी उपेक्षा होने लगी।

यक्षगान में जो प्रदर्शन किया जाता है उसे 'आटा' कहते हैं। यह 'आटा' भागवत को केंद्र में रखकर बनाया जाता है। भागवत ही इस 'आटा' का निर्देशक होता है। इस नाटक के प्रसंग अधिकतर राम और कृष्ण से संबंधित होते हैं। यक्षगान में प्रसंग प्रदर्शित करने से पहले पूर्वरंग होता है। मंच पर भागवत अपनी वादन मंडली के साथ प्रवेश करता है, मद्दले और चेंडा वाद्य यंत्रों के साथ वंदना गीत गाता है। अपने आराध्य देवताओं के नाम गिनाता है और श्रुति के लक्षण बतलाता है। भागवत के बाद बाल गोपाल या फिर कृष्ण बलराम मंच पर प्रवेश करते हैं। भागवत के गीतों पर वे आकर्षक नृत्य करते हैं। यह नृत्य गीत अक्सर विष्णु की वंदना से ही संबंधित होते हैं। बाल गोपाल के नृत्य के बाद हनुमनायक अपनी कोडंगी सेना के साथ मंच पर प्रवेश करता है। नृत्य और संगीत से लिप्त यह पूरी प्रस्तुति दर्शकों के लिए बड़ी ही मनोरंजक होती है।

स्त्री वेशों से संबंधित गीतों में नंद के पुत्र कृष्ण की वंदना होती है और गीतों में उनके कामदेव से पीड़ित प्रियतम की पीड़ा की शांति की कामना की जाती है। तीसरे गीत में कृष्ण और माध व के प्रति अनुरक्त बालाओं की स्थिति की अभिव्यक्ति होती है। चौथे गीत में कृशण की उद्दंडता से डरी हुई गोपियां माता यशोदा से शिकायत करती हुई दिखाई देती हैं। स्त्री वेषों में गीत के साथ-साथ उनके भावों को अभिव्यक्त करते हुए नृत्य भी प्रस्तुत किए जाते हैं जिनमें अंग संचालन गति विन्यास और हस्त संचालन का अद्‌भुत प्रयोग किया जाता है। ये नृत्य मद्दले की थाप पर किए जाते हैं।

'वाड्डोलगा' से ही प्रसंग का आरंभ होता है। जैसा प्रसंग प्रस्तुत किया जाना है उसी के अनुरूप वाड्डोलगा होता है। अगर प्रसंग राम से संबंधित है तो राम लक्ष्मण का वाड्डोलगा होता है और अगर भागवत से रिलेटेड है तो पांडवों का वाड्डोलगा किया जाता है। वाड्डोलगा में रंगपटी के पीछे नृत्य करते हुए पात्र प्रवेश करते हैं और खड़े हो जाते हैं। पटी से उनका मुंह ढका होता है। भागवत उनके बारे में बताता है और वह नृत्य करते हुए दर्शक के सामने आते हैं। धीरे-धीरे पटी हटा ली जाती है। इस तरीके से यक्षगान में पात्रों के प्रवेश हेतु नृत्य भंगिमाओं का रोचक प्रयोग किया जाता है और यह नृत्य, संगीत के तालवाद्यों के साथ बंधे होते है।

वाड्डोलगा के साथ ही कथा आरंभ होती है। यक्षगान में प्रस्तुत किए जाने वाले प्रसंग गीतों में ही नियोजित किए जाते हैं। गीत भी अक्सर तीन सौ से लेकर पाँच सौ छन्दों में होते हैं। कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार गद्य का भी प्रयोग होता है। छंद इस तरह के होते हैं जिन्हें आसानी से याद किया जा सके और अच्छी तरह से गाया जा सके। ये गीत सामान्य प्रकृति के होते हैं ताकि प्रस्तुत करने के ढंग से दर्शकों में आकर्षण बनाया जा सके। यक्षगान का भागवत गीतों के रागों के विषय मे पर्याप्त ज्ञान रखता है।

यक्षगान में अक्सर युद्ध आदि के प्रसंग अधिकता से दिखाई देते हैं। रामायण और महाभारत के प्रसंग यक्षगान में प्रस्तुत किए जाते हैं जिनमें युद्ध का वर्णन होता है। युद्ध के प्रसंगों को

टिप्पणी

दिखाने के लिए यह आवश्यक होता है कि अभिनेता नृत्य में निपुण हों। जैसे यदि नायक किसी कारण से क्रोधित होता है तो वह अपने क्रोध को गीत अथवा वाद्यों की गति लय के साथ बहुत ही तेजी के साथ नृत्य के माध्यम से प्रकट करता है। गीतों और वाद्य यंत्रों की थाप पर वह अपने प्रतिद्वंदी को ललकारता है। ऐसे में वह वातावरण एकदम से आवेश पूर्ण हो जाता है। भागवत के ऊंचे स्वर में गायन, चेंडे और मद्दले की जोरदार थाप और तेजी से किया जाने वाला नृत्य दृश्य को और भी प्रभावी बना देते हैं।

इस प्रकार हम उपर्युक्त उदाहरणों देख सकते हैं कि मंदिर आश्रित लोकनाट्य में संगीत और नृत्य जन समुदाय की धार्मिक भावना को पुष्ट करने के साथ ही उनका मनोरंजन करते हुए भी दिखाई देते हैं। इनमें प्रयुक्त संगीत में चमत्कृत कर देने वाला आकर्षण होता है। इन्हीं के माध्यम से दर्शक और कलाकार अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति कर पाते हैं।

पाठगत प्रश्न 19.2

1. संगीतक से क्या अभिप्राय है?

....

2. कुड़ियट्टम किस प्रकृति का लोकनाट्य है?

....

3. कुड़ियट्टम के प्रमुख वाद्ययंत्र कौन-कौन से हैं?

....

4. चाकियट्टम क्या है ?

....

5. वाड्डोलगा क्या है?

....

6. यक्षगान में नृत्य हेतु किस तालवाद्य का प्रयोग किया जाता है?

....

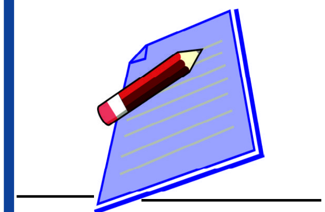

टिप्पणी

7. यक्षगान के प्रमुख वाद्ययंत्र कौन-कौन से हैं?

....

8. मंदिर आश्रित लोकनाट्यों में संगीत का क्या महत्व है?

....

9. स्त्री वेष में क्या होता है?

....

10. कुड़ियट्टम और यक्षगान में प्रयुक्त संगीत में क्या अंतर है?

....

19.3 लीला नाट्य में संगीत और नृत्य

भारत में मुख्य रूप से लीला नाटक के दो रूप प्रचलित है- रामलीला और रासलीला। रामलीला के कथानक का मुख्य आधार वाल्मीकि कृत रामायण महाकाव्य है और रासलीला का मुख्य आधार श्री कृष्ण की कथाएँ हैं। रामलीला के संदर्भ में प्राय: कहा जाता है कि इसका विकास राम कथा गायन की परंपरा से हुआ है। इसके प्रमाण स्वयं वाल्मीकि कृत रामायण में भी मिलते हैं। स्वयं लव और कुश के द्वारा रामायण कथा के गान का प्रसंग भी इसमें मिलता है। लीला नाट्य में भी संगीत और नृत्य मुख्य रूप से दर्शकों के श्री राम और श्री कृष्ण के प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति भाव को व्यक्त और पुष्ट करने में दिखाई देती है।

रामलीला

रामायण एक ऐसी महत्वपूर्ण रचना है जिसने देश के विभिन्न भाषी क्षेत्रों पर अपना प्रभाव डाला है। हिंदी भाषी क्षेत्र में रामलीला के मंचन की मुख्य प्रेरणा गोस्वामी तुलसीदास जी से मानी जाती है। यह अनुमान किया जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामकथा के रंगमंच पर प्रदर्शन का भी सूत्रपात किया था। रामलीला मुख्य रूप से हिंदी प्रदेश में प्रचलित है। उत्तर प्रदेश मध्य प्रदेश के साथ ही साथ समीपवर्ती हिंदी क्षेत्रों में भी रामलीला का मंचन बहुतायत से किया जाता है।

रामलीला में संगीत का मुख्य आधार गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित रामचरितमानस है। रामलीला के सूत्रधार के रूप में 'व्यास' पूरी लीला को निर्देशित करता है। व्यास के हाथ में परंपरा से चली आ रही एक पटकथा होती है। सभी संवाद, अभिनय और संगीत इसी पर आधारित होते हैं। रामलीला में सर्वप्रथम 'व्यास' प्रस्तुत की जाने वाली लीला से संबंधित राम कथा

का संगीतात्मक पाठ करता है और अभिनेता उसी पाठ को नाटक के रूप में प्रदर्शित करते हैं। रामनगर की रामलीला में कथा का गायन पूरी तरह से संगीत में होता है और इसके संगीत में मुख्य रूप से ढोलक और मंजीरा का वादन दिखाई देता है। संगीत के अनुरूप प्रदर्शन में नृत्य की भी उपस्थिति होती है किंतु अधिकतर अभिनेता अपने स्वर भंगिमा और स्वरों के उतार-चढ़ाव के साथ संवादों का वाचन करते हैं। संवादों में एक विशिष्ट लयात्मकता होती है। उसी के अनुरूप उनका आंगिक अभिनय होता है। रामलीला में भी संगीत मुख्य रूप से रामकथा को रुचिकर बनाने और दर्शकों की धार्मिक भावनाओं को पुष्ट करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

रासलीला

रासलीला का मुख्य रूप से संबंध श्री कृष्ण चरित्र से है। कृष्ण भारतवर्ष में एक ऐसा चरित्र है जो कवियों और लोक रचनाकारों में सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण रहा है। श्रीकृष्ण को लीला पुरुष के रूप में भी जाना जाता है। जयदेव, विद्यापति, सूर और रसखान जैसे कवियों ने अपनी रचनाओं में श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया है। रासलीला की उत्पत्ति विद्वानों ने 15 वी शताब्दी के आसपास स्वीकार किया है। मुख्य रूप से ब्रजमंडल इसके केंद्र में है। रासलीला में नृत्य, गीत और संगीत की प्रधानता होती है इसीलिए इसे संगीत-नृत्य नाटक के रूप में भी जाना जाता है। इस लीला नाट्य में श्री कृष्ण के अवतारों और उनकी लीलाओं को पूजा भाव के साथ प्रस्तुत किया जाता है। अपने नृत्य, गीत और संगीत संयोजन के साथ यह नाट्यरूप श्री कृष्ण के प्रसंगों को लयात्मक रूप में दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करता है।

चूँकि रासलीला को विकसित करने में भक्ति युग के कृष्ण भक्त कवियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अतः रासलीला में प्रयुक्त संगीत मुख्य रूप से इन्हीं की रचनाओं पर आधारित होता है। रासलीला के प्रथम आयोजन का श्रेय वल्लभाचार्य को जाता है। सबसे पहले उन्होंने ही रास को एक मंडलाकार नृत्य के रूप में आयोजित किया था। इस नृत्य में उन्होंने मथुरा के बालकों को कृष्ण का रूप दिया था और रास की संगीतात्मक प्रस्तुति आयोजित की थी।

रासलीला की प्रस्तुति पर ध्यान दें तो इस के आरंभ में मंडलाकार नृत्य की परंपरा आरंभ से चली आ रही है। गीत, संगीत से युक्त इस नृत्य को प्रायः रासलीला के पूर्वरंग में प्रस्तुत किया जाता है। इसमें सर्वप्रथम लीला मंडली का 'प्रधान' कृष्ण, राधा और गोपियाँ मंच पर स्थापित होने के बाद कृष्ण और गुरु की वंदना प्रस्तुत करता है। इसके बाद कृष्ण भक्ति से जुड़े हुए कई पदों का गायन किया जाता है। इसी क्रम में राधा कृष्ण की युगल छवि की आरती होती है। आरती तथा कृष्ण भक्ति से जुड़े गीतों के गायन के बाद गोपियां श्री कृष्ण से नृत्य के लिए पधारने की प्रार्थना करती हैं। कृष्ण निवेदन को स्वीकार करके रास स्थल में पधारते हैं और सखियों के साथ श्री कृष्ण युगल नृत्य करते हैं इस प्रकार से रास नृत्य पूर्ण होता है। इस नृत्य के पश्चात श्री कृष्ण से जुड़े हुए महत्वपूर्ण प्रसंगों को नाट्य रूप में प्रदर्शित किया जाता है।

लोकनाट्य में संगीत की भूमिका

वास्तव में मध्यकाल में ईश्वर की भक्ति के लिए मुख्य रूप से संगीत और नृत्य को ही माध्यम बनाया गया है। मीरा और अन्य भक्त कवियों के द्वारा इसी के माध्यम से अपने ईश्वर की साधना की गई। यह केवल ईश्वर की साधना ही नहीं बल्कि मनोरंजन और आत्म संतुष्टि से भी जुड़ा रहा है इसीलिए लीला लोकनाट्य में संगीत और नृत्य भी धार्मिक भावना मनोरंजन और अवसर के अनुरूप शिक्षण से गहरा जुड़ा हुआ है।

पाठगत प्रश्न 19.3

1. लीला नाट्य कौन-कौन से हैं?

   ....

2. रामलीला में संगीत का मुख्य आधार क्या है?

   ....

3. रासलीला किस प्रकृति का लोकनाट्य हैं?

   ....

4. रासलीला का आरंभिक नृत्य क्या कहलाता है ?

   ....

5. लीला नाट्यों में संगीत का क्या महत्व है?

   ....

19.3 लौकिक लोकनाट्य में संगीत और नृत्य

लौकिक लोकनाट्य का संबंध उन लोकनाट्य परंपराओं से है जिनकी विषय वस्तु लोक में प्रचलित आख्यान होती है। इसमें प्राय: धार्मिक भावना की अपेक्षा मनोरंजन तथा शिक्षण की विषिश्ट भूमिका होती है। इस प्रकार के लोकनाट्य में मुख्य रूप से प्रचलित लोकनाट्य हैं- ख्याल लावणी, माच, तमाशा, भवई, उत्तर प्रदेश में प्रचलित नौटंकी, स्वांग, नाचा इत्यादि। प्राय: लौकिक लोक नाट्यों में नृत्य की अपेक्षा गायकी की एक विशिष्ट परंपरा दिखाई देती है। नौटंकी, ख्याल, लावणी आदि में इस बात को देखा जा सकता है।

टिप्पणी

ख्याल लावणी

राजस्थान में ख्याल की परंपरा 300 वर्ष पुरानी है। यह खयाल गायकी राजस्थान की मूल उपज नहीं है। ऐसा माना जाता है कि आगरा के समीप ख्याल की परंपरा प्रारंभ हुई थी जो आरंभ में केवल काव्य रचना, किसी ऐतिहासिक व पौराणिक व्यक्ति से संबंधित रचना से ही थी। 18 वीं शताब्दी में राजस्थान में ख्याल रंगमंचीय रूप में परिवर्तित हुई और तब से लेकर अब तक यह राजस्थान के आम जनमानस का मनोरंजन कर रही है।

लावणी मुख्य रूप से गायन की विधा रही है लेकिन जब यह गायन खेल के प्रदर्शन में तब्दील होने लगा तो ख्याल नाम ज्यादा प्रचलित हुआ। इसलिए विद्वानों ने इसे ख्याल लावणी कहा है। ख्याल मुख्य रूप से एक गाया जाने वाला काव्य है और इसकी रचना इसी गेयता को ध्यान में रखकर की जाती है। लावणी गायन में तुर्रा और कलंगी दोनों संप्रदायों का गहरा प्रभाव है। आरंभ में लावणी का मुख्य विषयवस्तु इन्हीं पर आधारित था। इसके साथ ही साथ इसमें उपदेशात्मक, ऐतिहासिक, रोमांटिक और अन्य कथाएं भी सम्मिलित की गई। लावनी में सबसे अधिक प्रेम के विषय में लिखा गया है। यह प्रेम अलौकिक भी था और पारलौकिक भी। तुर्रा और कलंगी दोनों ही संप्रदायों ने प्रेम पर काफी कुछ लिखा है। लावणी में इसे महत्वपूर्ण स्थान दिया गया।

वास्तव में ख्याल लावणी की गायन परंपरा का अपना एक अलग काव्यशास्त्र है। लावणी का अपना पिंगल शास्त्र है जिसमें कई प्रकार के छंद हैं। प्रारंभिक छंद 'राधा' है जिसमें 22 मात्राएँ होती हैं। इसे लावणी भी कहते हैं। लावणी के निर्माणकर्ताओं ने शिष्य परंपरा में निरंतर छंद ज्ञान दिया और यही छंद ज्ञान एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में चलता चला गया। इस परंपरा को लावणीकार 'रंगत की पट्टी पढ़ाना' कहते हैं। इन रंगतों में हिंदी, उर्दू तथा संस्कृत के वृत्त और लोक छंद आते हैं।

यदि हम गायकी की ओर देखें तो बाइस मात्राओं पर 'राधा छंद' 'छोटी रंगत' में आता है। तीस मात्राओं का ताटंक छंद 'बड़ी रंगत' कहलाता है। बहरेतवील संस्कृत का शृंगविणि छंद ही है। उर्दू की गजलें, शेर भी लावणी में सम्मिलित किए गए। जहाँ गजलें हैं उन्हें 'रंगत गजलों' का नाम दिया गया। शेर को खमसा या खमचा नाम दिया गया। और जब भी अनेक प्रकार के छंदों को उल्टा सीधा करके बनाया गया उसे बची रंगत नाम दिया गया।

ख्याल में दंगल की परंपरा रही है। इसके कई सोपान भी हैं। ख्याल के प्रदर्शन में सबसे पहले साखी दौड़ होता है। इसमें एक पक्ष अपने इष्ट देवता की वंदना करता है और फिर अपने दल की प्रशंसा करता है। इसके बाद दूसरा पक्ष अपना गायन शुरू करता है। वंदना और मंगलाचरण के समय संयम बरतने का रिवाज है लेकिन कभी-कभी कोई पक्ष इस समय भी फटकेबाजी का कार्यक्रम शुरू कर देता है। दूसरी परंपरा इसमें लड़ने की है। इसमें चौक से चौक लड़ाये जाते हैं। मतलब एक पक्ष जब कोई टेक बोलता है तो दूसरे पक्ष की ओर से वैसे ही टेकें

बोली जाती हैं। ख्यालों के बीच-बीच में दो दो लाइन की पंक्तियाँ पाई जाती हैं। जब लगातार टेकों का लड़ाना चलता रहता है। कभी-कभी पूरे ख्याल के जवाब में ख्याल चलने लगता है तो उसे जवाबी गाना कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजस्थान के इस लोकनाट्य में कथानक को अभिव्यक्त करने का मुख्य माध्यम लावणी गायकी है और इस प्रदर्शन में अभिनय करने वाले अभिनेता के लिए भी अत्यंत आवश्यक है कि उसे गायकी के विषय में पता हो।

इसमें गायकी की मुख्य विशेषता है लड़ना। आरंभ में भी तुर्रा और कलंगी संप्रदाय इस गायकी में अपनी दार्शनिक व्याख्या किया करते थें। लेकिन बाद में जो परंपरा चली उसमें फटकेबाजी का जो दौर विकसित हुआ उसमें दार्शनिक सिद्धांत लुप्त होता चला गया और केवल यह दोनों संप्रदाय एक दूसरे को नीचा दिखाने उत्तेजित करने या फिर व्यंग युक्ति करने के लिए प्रयोग करने लगे।

नौटंकी

लौकिक लोकनाट्य में नौटंकी एक महत्वपूर्ण लोकनाट्य है जो कि मुख्य रूप से अपनी गायकी पद्धति और नक्कारा के प्रयोग के लिए जानी जाती है। नौटंकी में गायकी के लिए मुख्य रूप से छंद, दोहा, चौबोला, दौड़ और बहरेतबील का बहुतायत में प्रयोग किया जाता है। इसके अलावा गजल, लावणी, ठुमरी और कव्वाली का भी प्रयोग होता है। दोहा और चौबोला छंद मुख्य कथा को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इन शब्दों में विशेष रुप से बहरेतबील अभिनय को नाटकीय बनाता है और गति प्रदान करता है। इसकी लय और उठान एक तरह से नौटंकी के गायकों के कंठ की परीक्षा है। नौटंकी का मुख्य वाद्य यंत्र नक्कारा है। यह भी माना जाता है कि नौटंकी के साथ नक्कारा वादन का कौशल मुख्य रूप से जुड़ा हुआ है। यह नक्कारा कलाकारों के छंद गायन में संगत ही नहीं करता बल्कि अपनी विशिष्ट टंकार के साथ गायन का साथ देता है और अभिनय को ऊर्जावान बना देता है। इसलिए नौटंकी में गायन या संवाद के बाद नक्कारे का एक विशिष्ट तरीके से कौशल प्रस्तुत किया जाता है। यह नौटंकी प्रदर्शन के पूरे समा को बांध लेता है और इसी के कारण दर्शक नौटंकी के दीवाने हो जाते हं। इसके साथ ही साथ ढोलक हारमोनियम और सारंगी की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

उपर्युक्त उदाहरणों से इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि लौकिक नाट्य परंपरा में भी संगीत का अपना विशिष्ट स्थान है। हम यह भी कह सकते हैं कि इन प्रदर्शनों का मुख्य आधार उनकी अपनी विशिष्ट गायकी परंपरा ही है।

पाठगत प्रश्न 19.4

1. लौकिक लोकनाट्य से क्या अभिप्राय है?

....

2. ख्याल लावणी क्या है?

....

3. ख्याल लावणी गायकी में 'छोटी रंगत' क्या है?

....

4. बची रंगत क्या है?

....

5. नौटंकी गायकी में प्रयुक्त छंद कौन-कौन से है?

....

6. नक्कारे के प्रयोग की क्या विषेशता है?

....

7. नौटंकी के प्रमुख वाद्ययंत्र कौन-कौन से हैं?

....

8. नौटंकी गीत प्रधान है अथवा नृत्य प्रधान?

....

आपने क्या सीखा

- लोकनाट्यों की संरचना में गीत, संगीत और नृत्य प्रमुख केन्द्रीय तत्व है।
- लोकनाट्यों को तीन प्रमुख श्रेणियों में बांटा जा सकता है-मंदिर आश्रित, लीला और लौकिक।

टिप्पणी

लोकनाट्य में संगीत की भूमिका

- लोकनाट्य दो शब्दों से मिलकर बना है लोक और नाट्य अर्थात वह नाटक जो लोक द्वारा निर्मित है। प्राय: जब कोई नाट्यरूप लोक की सशक्त कथाओं को मंच पर प्रदर्शित करती है और एक व्यापक जन समूह द्वारा उस मंचन को स्वीकार कर पीढ़ी दर पीढ़ी एक परंपरा के रूप में स्थापित कर दिया जाता है तो उसे लोकनाट्य कहते हैं।
- मध्ययुग में लोकनाट्य रूपों के उदय में भी भाशा संगीतक की विशेष भूमिका रही। संगीतक में नृत्य, गीत, वाद्य, संवाद ये सभी महत्वपूर्ण अवयव थें।
- जात्रा, माच, रासलीला, भागवतमेल, तमाशा, कृड़ियट्टम इत्यादि सभी संगीतक के परवर्ती रूप हैं।
- लोकनाटयों के प्रवर्तक ना केवल साहित्य में बल्कि संगीत और नृत्य जैसी प्रदर्शन कलाओं में भी पारंगत थे वह कुशल नाट्य प्रयोक्ता भी थें।
- कुड़ियट्टम में ढोल, मिझाबु, इडक्का, कोंमा (तुरही के आकार का एक वाद्य यंत्र), कुरुनकुझल या कुचल (बंशी) और शंख प्रमुख वाद्ययंत्र हैं।
- कुड़ियट्टम की इस पूरी प्रस्तुति में संगीत और नृत्य शास्त्रीय परंपरा के अधिक निकट दिखाई देते हैं।
- केरल की लोकनाट्य कुड़ियट्टम का प्रभाव इस लोकनाट्य में विशेष रूप से देखा जा सकता है। जिस प्रकार से कुड़ियट्टम में शास्त्रीय परिपाटी का प्रयोग दिखता है वैसा यक्षगान में नहीं है।
- यक्षगान का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ है। इस शैली में संगीत और नृत्य की मार्गी शैली के स्थान पर देसी शैली के तत्वों का अधिकता से इस्तेमाल किया जाता है।
- लीला लोकनाट्य में संगीत और नृत्य भी धार्मिक भावना मनोरंजन और अवसर के अनुरूप शिक्षण से गहरा जुड़ा हुआ है।
- लौकिक लोक नाट्यों में नृत्य की अपेक्षा गायकी की एक विशिष्ट परंपरा दिखाई देती है।

पाठान्त प्रश्न

1. लोकनाट्यों में भाषा सांगीतक की क्या भूमिका है?
2. मंदिर आश्रित लोक नाट्य में संगीत की प्रकृति के विषय में बतलाइए?
3. लीला नाट्यों में संगीत और नृत्य पर प्रकाश डालिए?
4. नाट्य में संगीत के प्रयोग के विशय में बतलाइए?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

19.1

1. लोकनाट्य दो शब्दों से मिलकर बना है लोक और नाट्य अर्थात वह नाटक जो लोक द्वारा निर्मित है।
2. लोकनाट्य की विशेषताओं में गीत, संगीत, नृत्य और संवाद मुख्य हैं।
3. लोकनाट्य लोकमानस के उल्लास और उत्सव से अनुप्राणित होते हैं।
4. गीत, संगीत और नृत्य

19.2

1. संगीतक में सहगान और सहवादय वादन के अलावा नृत्य, गीत, संवाद भी होता है।
2. मंदिर आश्रित नाट्य है जो शास्त्रीय परंपरा के सन्निकट है।
3. ढोल, मिझाबु, इडक्का, कोंमा (तुरही के आकार का एक वाद्य यंत्र), कुरुनकुझल या कुचल (बंशी) और शंख
4. गायन को अभिव्यक्त करने के लिए जो आंगिक अभिनय प्रयुक्त होता है उसे 'चाकीयट्टम' कहा जाता है।
5. 'वाड्डोलगा' से ही प्रसंग का आरंभ होता है। जैसा प्रसंग प्रस्तुत किया जाना है उसी के अनुरूप वाड्डोलगा होता है। अगर प्रसंग राम से संबंधित है तो राम लक्ष्मण का वाड्डोलगा होता है

6. मद्दले

7. चेंडा और मद्दले

8. मंदिर आश्रित लोकनाट्यों में संगीत का विषेश रूप से भक्तिपरक महत्व है। इनमें यह धार्मिक कर्मकांड का साधन है।

9. रंगपटी का प्रयोग

10. स्त्री वेषों में गीत के साथ-साथ उनके भावों को अभिव्यक्त करते हुए नृत्य भी प्रस्तुत किए जाते हैं जिनमें अंग संचालन गति विन्यास और हस्त संचालन का अद्‌भुत प्रयोग किया जाता है।

19.3

1. रामलीला एवं रासलीला

2. तुलसीदास कृत रामचरितमानस का पाठ

3. रासलीला नृत्य प्रधान नाट्य है।

4. रासलीला की प्रस्तुति के आरंभ में मंडलाकार नृत्य की परंपरा है। गीत, संगीत से युक्त इस नृत्य को प्राय: रासलीला के पूर्वरंग में प्रस्तुत किया जाता है।

5. लीला लोकनाट्य में संगीत और नृत्य भी धार्मिक भावना मनोरंजन और अवसर के अनुरूप शिक्षण से गहरा जुड़ा हुआ है।

19.4

1. लौकिक लोकनाट्य का संबंध उन लोकनाट्य परंपराओं से है जिनकी विषय वस्तु लोक में प्रचलित आख्यान होती है। इसमें प्राय: धार्मिक भावना की अपेक्षा मनोरंजन तथा शिक्षण की विशिष्ट भूमिका होती है।

2. यह मूलत: राजस्थान का लोकनाट्य है। ख्याल मुख्य रूप से एक गाया जाने वाला काव्य है और इसकी रचना इसी गेयता को ध्यान में रखकर की जाती है।

3. बाइस मात्राओं का 'राधा छंद' 'छोटी रंगत' कहलाता है।

4. अनेक प्रकार के छंदों को उल्टा सीधा करके बनाया गया उसे बची रंगत नाम कहा जाता है।

5. छंद, दोहा, चौबोला, दौड़ और बहरेतबील का बहुतायत में प्रयोग किया जाता है।

6. नौटंकी में गायन या संवाद के बाद नक्कारे का एक विशिष्ट तरीके से कौशल प्रस्तुत किया जाता है।

7. नक्कारा, ढोलक हारमोनियम और सारंगी

8. गीतप्रधान लोकनाट्य

राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान

पाठ्यचर्या (Curriculum)

नाट्यकला (385)

उच्चतर माध्यमिक स्तर

1. औचित्य (Rationale)

भारतीय ज्ञान विज्ञान की एक गौरवशाली परंपरा रही है। भारतवर्ष का इतिहास जीवन के दार्शनिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों में ज्ञान निर्माण में समृद्ध रहा है। भारतीय दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने राजनीति, अर्थव्यवस्था, वाणिज्य, खगोल विज्ञान, जहाज निर्माण से लेकर कला, संगीत, नाटक, नृत्य आदि विषयों तक जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में योगदान दिया है।

भारतीय परंपरा के अनुसार नाट्य के आद्य रचयिता स्वयं प्रजापति माने गए हैं और नाट्यशास्त्र को पञ्चम वेद कहकर नाट्यकला को विशिष्ट सम्मान प्रदान किया गया है। इतिहास पुराण नाट्य शास्त्रीय ग्रंथों एवं अन्य साहित्यिक रचना तथा ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा चुका है कि भारत में ईसा से कई सदियों पूर्व नाट्य कला विकसित हो चुकी थी जिसे नट, नर्तक, चारण आदि लोगों के द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी गायन, वादन, नर्तन इत्यादि नाटकीय प्रस्तुतीकरण के द्वारा हस्तांतरित किया गया।

वर्तमान समय में हमारी प्राचीन ज्ञान परंपरा के उदात्त तत्वों से वर्तमान पीढ़ी का साक्षात्कार करवाना तथा इस ज्ञान की धारा का संरक्षण और संवर्धन करना अत्यावश्यक है।

2. अधिकारी (Who is Eligible to Study This Course)

यह पाठ्य विषय संपूर्ण रूप से हिंदी भाषा में लिखा हुआ है। साथ ही संस्कृत भाषा का भी अनेक स्थानों पर प्रयोग किया गया है। परीक्षा हिंदी भाषा माध्यम से ही होगी। इसलिए इस पाठ का अधिकारी कौन होगा यह प्रश्न निश्चित रूप से उत्पन्न होता है। यहां पर वह छात्र अधिकारी है जो–

- नाट्यकला को समझने की जिज्ञासा रखता हो;
- नाट्यकला से सामान्य रूप से परिचित हो;
- सरल संस्कृत/हिंदी भाषा के सरल गद्यांश और पद्यांश को पढ़ और समझ सके;
- अपने भावों को संस्कृत/हिंदी भाषा में लिखकर प्रकट कर सके।

3. प्रयोजन/उद्देश्य (Purpose/Objectives)

उच्चतर माध्यमिक स्तर पर नाट्यकला पाठ्यक्रम के निम्न प्रयोजन है-

- शिक्षार्थी में मन में देश और संस्कृति के प्रति गौरव की भावना का विकास करना।
- संस्कृति की रक्षा के लिए उचित प्रयत्न करने वाले श्रद्धावान शिक्षार्थियों को प्रेरित करना।
- प्राचीन भारतीय ज्ञान, संपदा, वैज्ञानिकता, सभी मनुष्यों के प्रति उपकारिकता की भावना का गर्व से जगत में प्रचार-प्रसार कर पाने में सक्षम बनाना।
- हमारे देश की नाट्य परंपरा को सामान्य जन मानस के लिए सर्व-सुलभ बनाना।
- भारतीय नाटककारों तथा उनकी कृतियों के प्रति सम्मान की भावना का विकास करना।
- नाट्य के विविध तत्त्वों (कथावस्तु, पात्र, रस, अभिनय, रंगमंच) से शिक्षार्थियों को परिचित कराना।
- नाट्य निर्माण से संबंधित यथा- नाट्य चयन, नाट्य निर्माण, नाट्य क्रियान्वयन हेतु मंच सज्जा, प्रकाश-ध्वनि-प्रभाव आदि से अवगत कराना।
- यह पाठ्यक्रम शिक्षार्थी को एक उत्तम 'सहृदय' के रूप में परिवर्तित करने में भी सक्षम होगा।

4. स्व-अध्ययन सामग्री एवं विषयवस्तु संबंधी विवरण (Self Learning Material and Course Details

- मुद्रित पुस्तकें (सैद्धांतिक तथा प्रायोगिक पक्ष)
- एक शिक्षक अंकित-मूल्यांकन प्रपत्र दिया जायेगा। इसके साथ छात्रों के द्वारा एक परियोजना कार्य भी (प्रोजेक्ट) करना है।
- नाट्यकला का शिक्षण प्रायोगिक रूप से भी होगा।
- पाठ निर्माण में, संपर्क कक्षाओं में, अध्यापन काल में, छात्रों के जीवन कौशल का अच्छी प्रकार से विकास हो ऐसा ध्यान होना चाहिए। इससे उनमें अपने आप युक्ति समन्वित चिन्तन शक्ति का विकास होगा।
- राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान में प्रवेश के बाद इस पाठ्यक्रम को विद्यार्थी एक वर्ष से प्रारंभ कर अधिक से अधिक पांच वर्षों में पूर्ण कर सकते हैं।

5. परीक्षा और मूल्यांकन विधि (Examination and Evaluation System)

- प्रश्न पत्र (Theory Paper) सौ (100) अंक का है जिसमें से सैद्धांतिक 60 अंक का तथा प्रायोगिक 40 अंक का होगा। सैद्धांतिक प्रश्न पत्र की परीक्षा का समय 2 घंटे होगा।
- रचनात्मक (Formative) तथा योगात्मक (Summative) दो प्रकार से मूल्यांकन होगा।
- रचनात्मक मूल्याकन: सैद्धांतिक के बीस (20) प्रतिशत का शिक्षक-अंकित-मूल्यांकन पत्र (Tutor Marked Assignment) है। इस पत्र के अंक अंक पत्रिका (Marks Sheet) में अलग से उल्लेखित होंगे।
- योगात्मक मूल्याकन- वर्ष में दो बार (अप्रैल-मई मास में और अक्तूबर-नवंबर मास में) सार्वजनिक परीक्षा (Public Eñam) होगी।
- प्रश्नपत्र में ज्ञान (Knowledge), अवगम (Understanding), अभिव्यक्ति/अनुप्रयोग कौशल (Eñpression/ Application skill) युक्त प्रश्न निर्धारित अनुपात से पूछे जायेंगे।
- परीक्षाओं में बहुविकल्पीय (Multiple Choice Question), अतिलघूत्तरीय (Very Short Answer), लघूत्तरीय (Short Answer) और निबन्धात्मक (Essay Type Question) प्रश्नों का समावेश होगा।
- उत्तीर्णता मापदंड (Passing Criteria)- कुल पूर्णाङ्क का तैतीस प्रतिशत (33%) अंक उत्तीर्णता का मानदंड है।

6. अध्ययन योजना (Scheme of Study)

- निर्देश भाषा (Medium of instruction) - हिंदी ।
- स्वाध्याय काल अवधि (Self-Study Hours) 240 घंटे।
- कम से कम तीस (30) संपर्क कक्षा (Personal Contact Programme - PCP) अध्ययन केंद्र में होगी। प्रायोगिक (Practical) प्रायोगिक पक्ष हेतु 5 वैयक्तिक संपर्क कक्षा (Personal Contact Programme) अलग से आयोजित की जाएंगी।
- भारांश-
  - सैद्धांतिक (Theory)- 60%
  - प्रायोगिक (Practical)- 40%

7. पाठ्य विषय के उद्देश्य तथा अंक विभाजन (Objectives of the subject matter and division of marks)

क्रम सं. (S.n.)	मॉड्यूल शीर्षक (Title of Mudule)	उपागम (Approach)	अंक भारांश (Welghtage)
1.	नाट्यकला का परिचय	इस मॉड्यूल में भारत की नाट्य परंपरा का परिचय तथा इतिहास के विषय में शिक्षार्थियों को अवगत कराते हुए नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय भी प्रस्तुत किया जाएगा। साथ ही नाट्य का अन्य कलाओं से किस प्रकार से संबंध है, इस विषय को भी रेखांकित किया गया है। इसके अलावा नाट्य का सौंदर्यशास्त्र, नाट्य प्रयोजन, चतुर्विध अभिनय जैसे बिन्दुओं पर भी बल दिया गया है।	12
2.	नाट्यकला के प्रमुख अंग	इस मॉड्यूल में नाट्य के प्रमुख तत्त्वों-कथावस्तु, पात्र, रस तथा रंगमंच का सामान्य परिचय देकर शिक्षार्थियों में नाट्य विषय के प्रति ज्ञान वृद्धि का प्रयास किया गया है।	10
3.	रस-विमर्श	प्रस्तुत मॉड्यूल में रस की अवधारणा, रस-सूत्र का परिचय तथा विभिन्न मत और सहृदय की अवधारणा को प्रस्तुत किया गया है।	8
4.	भारतीय नाटकों का परिचय	इस मॉड्यूल में भारतीय नाटकों से प्रमुख नाटकों का चयन कर पूर्व में दिए गए सैद्धांतिक पक्ष के अनुप्रयोग को शिक्षार्थियों के सामने प्रस्तुत किया गया है।	12
5.	रंगमंच : तकनीक और अभिकल्पना	इस मॉड्यूल में रंगमंच तकनीक तथा अभिकल्पना से शिक्षार्थियों का परिचय करवाया गया है।	12
6.	लोकनाट्य का स्वरूप और प्रकार	इस माड्यूल में लोकनाट्य के स्वरूप और विभिन्न प्रकारों के साथ-साथ नाट्य में संगीत और नृत्य की भूमिका आदि से भी शिक्षार्थियों का परिचय करवाया गया है।	06 **महायोग = 60**
	प्रायोगिक पक्ष		
7.	अभिनय के प्रकार : प्रायोगिक पक्ष	इस मॉड्यूल में चतुर्विध अभिनय-आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक अभिनय पर विस्तार से चर्चा की गई है। इसके अंतर्गत हम अभिनय के प्रायोगिक पक्ष पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है।	25

8.	नाट्य का प्रायोगिक पक्ष	इस मॉड्यूल में रंगमंच की तकनीकों को बताया गया है, साथ ही मुद्रा राक्षस नाटक के प्रायोगिक पक्ष के माध्यम से नाट्य के प्रायोगिक पक्ष को बताया गया है।	15
		महायोग	**40**

8. पाठ्य-विषय विवरण (Course Description)

उच्चतर माध्यमिक कक्षा हेतु नाट्यकला के पाठ्यक्रम में निम्न विषयवस्तु सम्मिलित हैं। संपूर्ण पाठ्य विषय को सात भागों (मॉड्यूल) भाग में विभक्त किया गया है। प्रत्येक भाग में कुछ पाठ, पाठों के शिक्षण के अधिगम, स्वाध्याय के लिए कितने घंटे, सैद्धांतिक परीक्षा में कितना भारांश (अंक), प्रायोगिक परीक्षा में कितने अंश आदि विषय यहां दिए गए हैं।

क्र.सं. (S.N.)	मॉड्यूल (Module)	पाठ (Lesson) शीर्षक (Title)	अधिगम के प्रतिफल (Learning out come)	अंक (Marks)	स्व अध्ययन के लिए घंटे (Study Hours)
1.	नाट्यकला का परिचय	पाठ-1: भारत की नाट्य परंपरा: परिचय तथा इतिहास	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● नाट्यकला का सामान्य परिचय जानते हैं; ● भारत की नाट्य-परम्परा को जानते हैं; ● वेदों में नाट्य तत्त्वों के उल्लेख को जानते हैं; ● नाट्यकला के प्रयोजन को जानते हैं; ● नाट्यकला पर लिखे गए प्रमुख ग्रन्थों को जानते हैं; ● नाट्यकला से संबंधित कृतियों और उनके लेखकों को जानते हैं; ● नाट्य-रचनाओं के कालक्रम और इतिहास को जानते हैं; और ● संस्कृत के प्रमुख नाटककारों को जानते हैं।	12	40

		पाठ-2: "नाट्यशास्त्र" का संक्षिप्त परिचय	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● काव्य का सामान्य परिचय जानते हैं; ● नाट्यशास्त्र का रचनाकाल जानते हैं; ● नाट्यशास्त्र की परम्परा को जानते हैं; ● नाट्यशास्त्र के व्याख्याकारों को जानते हैं; ● नाट्यशास्त्र के स्वरूप को जानते हैं; ● नाट्यशास्त्र की विषयवस्तु को जानते हैं; ● नाट्यशास्त्र के प्रयोजन को जानते हैं; ● संस्कृत नाट्य के उद्भव-सिद्धांतों को जानते हैं; ● नाट्य में लोक के सर्वांग स्वरूप को समझते हैं; ● नाट्य की सार्ववर्णिकता को जानते हैं; ● नाट्य में लोक की प्रमाणिकता को जानते हैं; ● नाट्य शास्त्र में दिए गए नाट्य-सिद्धांतों को जानते हैं; और ● नाट्य की प्रकृति की दृष्टि से कथावस्तु के भेदों को जानते हैं।		
		पाठ-3: नाट्य तथा अन्य कलाएं	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● विभिन्न कलाओं तथा उनकी प्रासंगिकता को जानते हैं; ● भारत में विभिन्न कलाओं के विकास को जानते हैं; ● नाट्यकला का अन्य कलाओं से सम्बन्ध का जानते हैं; और ● नाट्य प्रस्तुति में अन्य विभिन्न कलाओं के योगदान को जानते हैं।		

		पाठ-4: नाट्य का सौंदर्य शास्त्र	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● सौन्दर्यशास्त्र का परिचय जानते हैं; ● नाट्य में सौन्दर्य के प्रमुख तत्त्वों के महत्व को जानते हैं; और ● नाट्य की विभिन्न विधाओं में सौन्दर्यात्मक एकात्मकता को जानते हैं।		
2.	नाट्यकला के प्रमुख अंग	पाठ-5: कथावस्तु परिचय	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● नाट्य के अंग- 'कथावस्तु' का सामान्य परिचय जानते हैं; ● कथावस्तु के भेदों को उदाहरण सहित जानते हैं; ● कथावस्तु में अर्थ प्रकृतियों को जानते हैं; ● कथावस्तु की पांच अवस्थाओं को जानते हैं; ● नाट्य में सन्ध्यंगों को जानते हैं; और ● नाट्य धर्म की दृष्टि से कथावस्तु के भेदों को जानते हैं।	10	30
		पाठ-6: पात्र-योजना	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● नाट्य के पात्रों की संकल्पना को जानते हैं; ● नाट्य में नायक एवं नायिका के भेदों को जानते हैं; और ● नाट्य के अन्य सहायक पात्रों को जानते हैं।		
		पाठ-7: अभिनय परिचय	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● अभिनय का विस्तृत परिचय जानते हैं; ● अभिनय भेद-चतुर्विध अभिनय को जानते हैं; और ● आधुनिक नाटकों में अभिनय के क्षेत्र में आए बदलावों को जानते हैं।		

3.	रस विमर्श	पाठ-8: रस की अवधारणा	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● रस की अवधारणा को जानते हैं; ● विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों को जानते हैं; ● रस के प्रकार और लक्षण को समझते हैं; और ● नाट्य में रस के महत्व और उसकी अनिवार्यता को जानते हैं।	08	20
		पाठ-9: रस सूत्र का परिचय तथा सहृदय की अवधारणा	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● रससूत्र विमर्श को समझते हैं; ● आचार्य भट्टलोल्लट एवं श्री शंकुक द्वारा की गई रस की व्याख्या को जानते हैं; ● आचार्य भट्टनायक, अभिनवगुप्त, आचार्य धनंजय, आचार्य विश्वनाथ, आचार्य जगन्नाथ के रस विषयक मतों को जानते हैं; ● रस के साधारणीकरण को समझते हैं; और ● सहृदय की अवधारणा को समझते हैं।		
4.	भारतीय नाटकों का परिचय	पाठ-10: अभिज्ञानशाकुंतल	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● महाकवि कालिदास के विषय में जानते हैं; ● महाकवि कालिदास की रचनाओं के विषय में जानते हैं; ● अभिज्ञानशाकुंतल की कथावस्तु को जानते हैं; ● अभिज्ञानशाकुंतल के पात्रों का चरित्र चित्रण जानते हैं; और ● अभिज्ञानशाकुंतल की नाट्यशैली को समझते हैं।	12	40

		पाठ-11: मृच्छकटिक	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● नाटककार शूद्रक के विषय में जानते हैं; ● मृच्छकटिक नाटक के विषय में जानते हैं; ● मृच्छकटिक की कथावस्तु को जानते हैं; ● मृच्छकटिक के पात्रों का चरित्र चित्रण जानते हैं; और ● मृच्छकटिक की रंग संभावनाओं को जानते हैं।		
		पाठ-12: ध्रुवस्वामिनी	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● ध्रुवस्वामिनी नाटक के विषय में जानते हैं; ● ध्रुवस्वामिनी नाटक के कथानक को जानते हैं; ● ध्रुवस्वामिनी नाटक के पात्रों का चरित्र चित्रण जानते हैं; और ● ध्रुवस्वामिनी मे प्रयुक्त नाट्ययुक्तियों को जानते हैं।		
		पाठ-13: प्रबोधचंद्रोदय	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● नाटककार श्रीकृष्ण मिश्र के विषय में जानते हैं; ● प्रबोधचंद्रोदय नाटक के कथानक को जानते हैं; ● प्रबोधचंद्रोदय के पात्रों का चरित्र चित्रण जानते हैं; और ● प्रबोधचंद्रोदय मे प्रयुक्त नाट्ययुक्तियों को जानते हैं।		

5.	रंगमंच: तकनीक और अभिकल्पना	पाठ-14: रंगमंच : परिचय तथा प्रकार	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● रंगमंच का सामान्य परिचय जानते हैं; ● रंगमंच के उद्‌भव और विकास को जानते हैं; ● नाट्यमंडप को जानते हैं; ● आदिकालीन रंगमंच के स्वरूप को जानते हैं; ● नाट्यशास्त्र में उल्लेखित रंगमंच को जानते हैं; ● रंगमंच के प्रकारों को जानते हैं; और ● समकालीन भारतीय रंगमंच को जानते हैं।	12	40
		पाठ-15: रंगसंगीत	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● रंगसंगीत का सामान्य परिचय जानते हैं; ● रंगसंगीत के प्रकारों को जानते हैं; ● रंगसंगीत का नाट्य मंचन में योगदान को समझते हैं; ● रंगसंगीत और रस को समझते हैं; ● नाट्य के साधारणीकरण में रंगसंगीत की उपादेयता को जानते हैं; और ● आधुनिक रंगसंगीत के विषय में जानते हैं।		
		पाठ-16: नवरस साधना	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● नवरस साधना को जानते हैं; ● नवरस साधना और नाट्य प्रस्तुति में भाव-भंगिमाओं की प्रस्तुति को समझते हैं; और ● नवरस साधना का नाट्य प्रस्तुति में महत्व को जानते हैं।		

		पाठ–17: मुद्राभिनय एवं मुखाभिनय	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● मुद्राभिनय को जानते हैं; ● मुद्राभिनय का नाट्य प्रस्तुति में अनुप्रयोग को समझते हैं; ● मुद्राभिनय के नाट्य प्रस्तुति में महत्व को जानते हैं; ● मुखाभिनय के विषय में जानते हैं; और ● नाट्यप्रस्तुति में मुखाभिनय के महत्व को जानते हैं।		
6.	लोकनाट्य का स्वरूप और प्रकार	पाठ–18: भारत के प्रमुख लोकनाट्य और लोक नृत्य	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● लोकनाट्य के प्रकारों को जानते हैं; ● लोकनाट्यों के प्राचीन और समकालीन रूपों को जानते हैं; ● विभिन्न लोकनाट्यों की प्रमुख विशेषताओं को जानते हैं; और ● भारत के प्रमुख लोकनृत्यों को जानते हैं।	06	20
		पाठ–19: लोकनाट्य में संगीत की भूमिका	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● लोकनाट्य और संगीत के विषय में जानते हैं; ● लोकनाट्य में संगीत के महत्व को जानते हैं; ● लोकनाट्य और नृत्य के संबंध को जानते हैं; और ● लोकनाट्य में नृत्य के महत्व को जानते हैं।		
	प्रायोगिक पक्ष				
7	अभिनय के प्रकार : प्रायोगिक पक्ष	पाठ–1: आंगिक अभिनय	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● आंगिक अभिनय का सामान्य परिचय जानते हैं; ● मुखजाभिनय को समझते हैं और स्वयं से अभिनय कर पाते हैं;	25	35

			● शरीराभिनय को समझते हैं और स्वयं से अभिनय कर पाते हैं; ● चेष्टाक्रियाभिनय को समझते हैं और स्वयं से अभिनय कर पाते हैं; ● सामान्याभिनय को जानते हैं और स्वयं से अभिनय कर पाते हैं; ● आभ्यंतराभिनय को जानते हैं और स्वयं से अभिनय कर पाते हैं; और ● बाह्याभिनय को समझते हैं और स्वयं से अभिनय कर पाते हैं;		
		पाठ–2: वाचिक अभिनय	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● वाचिक अभिनय का सामान्य परिचय जानते हैं; ● स्वर, स्थान, वर्ण, काकु, अलंकार तथा अंगों के विषय में जानते हैं तथा तद्नुरूप अभिनय कर पाते हैं और ● चित्राभिनय तथा सामान्याभिनय के प्रयोग में वाचिक अभिनय के महत्व को जानते हैं तथा तद्नुरूप अभिनय कर पाते हैं;		
		पाठ–3: आहार्य अभिनय	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● आहार्य अभिनय के विषय में जानते हैं; ● आहार्य अभिनय की प्रमुख विधियों को जानते हैं; ● पुस्त रचना के विषय में जानते हैं और पुस्त रचना का निर्माण कर पाते हैं; ● अलंकरण की विधियों को जानते हैं तथा उनका निर्माण कर पाते हैं; ● अंग रचना के विषय में जानते हैं तथा संयुक्त वर्णों का प्रयोग कर पाते हैं; ● संजीव के विषय में जानते हैं संजीव का निर्माण कर पाते हैं; और		

			● नाट्य में आहार्य अभिनय की उपयोगिता समझते हैं।		
		पाठ-4: सात्त्विक तथा चित्रभिनय	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● सात्विक अभिनय के विषय में जानते हैं; ● रस के विषय में जानते हैं और तद्नुरूप सात्विक अभिनय कर पाते हैं; ● भाव के विषय में जानते हैं; और ● अभिनय में सत्व के महत्व को जानते हैं।		
8.	नाट्य का प्रायोगिक पक्ष	पाठ-5: रंगमंच तकनीक: एक परिचय	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● रंगमंच तकनीक का सामान्य परिचय जानते हैं; ● रंगमंच की तकनीक की प्राचीन विधाओं को जानते हैं; ● रंगमंच तकनीक की आधुनिक विधाओं को जानते हैं; ● रंगसज्जा का नाट्य प्रस्तुति में महत्व को जानते हैं; ● नाट्यमंचन में प्रकाश और ध्वनि के महत्व को जानते हैं; और ● प्रकाश-ध्वनि प्रस्तुति के विभिन्न प्रकारों को जानते हैं;	15	15
		पाठ-6: मुद्राराक्षस	इस पाठ को पढ़ने के उपरांत आप: ● नाटककार विशाखदत्त के विषय में जानते हैं; ● मुद्राराक्षस नाटक के विषय में जानते हैं; ● मुद्राराक्षस नाटक की कथावस्तु को जानते हैं; ● मुद्राराक्षस नाटक के पात्रों का चरित्र चित्रण जानते हैं; और ● मुद्राराक्षस नाटक की रंगशैली को समझते हैं।		
			महायोग	**100**	**240**

प्रश्नपत्र प्रारूप

(Question Paper Design)

विषय- नाट्यकला (385) — उच्चतर माध्यमिक स्तर

परीक्षाकालावधि (Time)-2 घंटे — पूर्णाङ्क- 60

लक्ष्यानुसार अंक विभाजन

विषय	अंक	प्रतिशत	योग
ज्ञान (Knowledge)	15	25%	15
अवबोध (Understanding)	30	50%	30
अनुप्रयोग कौशल (Application Skill)	15	25%	15
महायोग	**60**		**60**

प्रश्न प्रकार अनुसार अंक विभाजन

प्रश्न प्रकार	प्रश्न संख्य	अंक	योग
दीर्घोत्तरीय प्रश्न (LA)	2	6	12
लघूत्तरात्मक प्रश्न (SA)	2	3	06
सुलघूत्तरीय प्रश्न (VSA)	6	2	12
बहुविकल्पीय प्रश्न (MCQ)	30	1	30
महायोग	**40**		**60**

पाठ्य विषय विभाग अनुसार भारांश

विषय घटक	अंक	स्वाध्यायाय के घंटे
1. नाट्यकला का परिचय	12	40
2. नाट्य के प्रमुख अंग	10	30
3. रस-विमर्श	08	20
4. भारतीय नाटकों का परिचय	12	40
5. रंगमंच : तकनीक और अभिकल्पना	12	40
6. लोकनाट्य का स्वरूप और प्रकार	06	20
महायोग	**60**	**190**

प्रश्नपत्र का काठिन्य स्तर

प्रश्न स्तर	अंक
कठिन (Difficult)	25
मध्यम (Medium)	50
सरल (Easy)	25

पाठ्य विषय विभाग अनुसार भारांश-प्रायोगिक (केवल प्रयोगिक प्रश्न पत्र हेतु)

विषय घटक	अंक	स्वाध्यायाय के घंटे
7. अभिनय के प्रकार : प्रायोगिक पक्ष	25	35
8. नाट्य का प्रायोगिक पक्ष	15	15
महायोग	**40**	**50**

नाट्यकला (385)

आदर्श प्रश्न पत्र

स्तर - उच्चतर माध्यमिक

अधिकतम अंक-60 समय अवधि: 2.00 घंटे

(अ) प्रश्न संख्या 1 से 30 बहुविकल्पीय प्रश्न हैं। **1×30=30**

1. रघुवंश महाकाव्य किसकी रचना है-

   क) कालिदास

   ख) भारवि

   ग) भर्तृहरि

   घ) भास

2. हमारे शास्त्रकारों द्वारा बताई गई वास्तुकला शैलियों में कौन-सी एक शामिल नहीं है-

   क) नागर

   ख) बेसर

   ग) द्राविड़

   घ) आगम

3. प्रतिमाओं की मुद्राओं के तीन प्रकारों में से इनमें कौन-सी शामिल नहीं है।

   क) हस्तमुद्रा

   ख) पादमुद्रा

   ग) शरीर मुद्रा

   घ) कटिमुद्रा

4. अभिलषितार्थ चिंतामणि में उल्लेखित चार प्रकार के चित्रों में से इनमें से कौन-सा एक प्रकार है-

   क) रस चित्र

   ख) मित्ति चित्र

   ग) पर चित्र

   घ) फलक चित्र

5. नाट्यशास्त्र में कितने प्रकार के पिण्डीबंध नृत्यों का विवेचन मिलता है?

   क) दस प्रकार

   ख) सत्रह प्रकार

   ग) इक्कीस प्रकार

   घ) दो प्रकार

6. इनमें से क्या वेदांग में शामिल नहीं है-

   क) शिक्षा

   ख) कल्प

   ग) रामायण

   घ) छंद

7. इनमें से कौन-सा नायक निश्िंचत, कलासक्त, सुखी और मृदुस्वभाव वाला होता है-

   क) धीरललित

   ख) धीर प्रशांत

   ग) धीरोद्धत

   घ) धीरोदत्त

8. मानवीय प्रकृति के आधार पर नायक के कितने भेद बताए गए हैं-

   क) तीन

   ख) पांच

   ग) चार

   घ) छः

9. धीरदृष्टि, धैर्ययुक्त गति और स्मितवचन का समावेश कहलाता है-

   क) शोभा

   ख) माधुर्य

   ग) गांभीर्य

   घ) विलास

10. अनेक विघ्नों के होते हुए भी विचलित न होना कहलाता है–

क) तेज

ख) ललित

ग) स्थैर्य

घ) औदार्य

11. राजा का सहचर जो अपनी वेशभूषा व वचनों से हास्यकारी होता है कहलाता है–

क) प्रतिनायक

ख) अनुनायक

ग) विदूषक

घ) विट

12. भरताचार्य के अनुसार रसों की संख्या है–

क) ग्यारह

ख) आठ

ग) दस

घ) नौ

13. आश्रय की शरीर संबंधी चेष्टाएं कौन-सा अनुभव कहलाती है–

क) आंगिक

ख) वाचिक

ग) आहार्य

घ) सात्विक

14. रौद्र रस का स्थायी भाव है–

क) उत्साह

ख) भय

ग) क्रोध

घ) जुगुप्सा

15. इनमें से कौन-सा रस का स्थायी भाव अशुद्ध है?

क) विभत्स रस - जुगुप्सा

ख) भयानक रस - भय

ग) वीर रस - उत्साह

घ) करुण रस - दास

16. कालिदास रचित तीन महाकाव्यों में कौन-सा एक शामिल नहीं है-

क) मेघदूत

ख) रघुवंश

ग) कुमारसंभव

घ) अभिज्ञानशाकुंतल

17. अभिज्ञानशाकुंतल नाटक का कथानक कितने अंकों में विभाजित है?

क) छः

ख) सात

ग) आठ

घ) दस

18. अभिज्ञान शाकुंतल का नायक है-

क) राम

ख) दुष्यंत

ग) नल

घ) विक्रमादित्य

19. अभिज्ञान शाकुंतल का नायक किस प्रकृति का है?

क) धीर ललित

ख) धीरोदात्त

ग) धीरोद्धत

घ) धीरप्रशांत

20. अभिज्ञान शाकुंतल नाटक की प्रधान विशेषता है-

क) राजनीति का ज्ञान

ख) प्रकृति चित्रण

ग) मायावी शक्तियों का उल्लेख

घ) हास्य का प्रदर्शन

21. कालिदास की किस रचना में अप्सरा उर्वशी और राजा पुरुरवा की प्रेम कथा का उल्लेख है?

क) विक्रमोर्वशीय

ख) अभिज्ञानशाकुंतल

ग) रघुवंशमहाकाव्य

घ) मालविकाग्निमित्र

22. नाट्यशास्त्र के किस अध्याय में वाद्यों के विषय में चर्चा की गई है-

क) 25वें

ख) 26वें

ग) 27वें

घ) 28वें

23. नाटक में गाए जाने वाले गीतों को कहते हैं-

क) ध्रुवगान

ख) साक्षेपिका

ग) प्रावेशिकी

घ) प्रासादिकी

24. आचार्य भरत ने ध्रुवगान की संख्या बताई है-

क) चार

ख) पांच

ग) छः

घ) सात

25. पारसी नाटक कम्पनियों पर कौन-से नाटकों का अधिक प्रभाव था-

    क) अंग्रेजी नाटकों का

    ख) संस्कृत के नाटकों का

    ग) हिन्दी भाषा के नाटकों का

    घ) मराठी नाटकों का

26. इनमें से कौन आधुनिक रंगमंच से नहीं जुड़ा है-

    क) हबीब तनवीर

    ख) मोहन उप्रेती

    ग) सतीश आलेकर

    घ) रविन्द्रनाथ टैगोर

27. इनमें से किस आधुनिक रंगमंचकार ने रंग-संगीत पर गहन चर्चा की है-

    क) हबीब तनवीर

    ख) मोहन उप्रेती

    ग) ब.व. कारत

    घ) सतीश अलेकर

28. आचार्य भरत ने कितने प्रकार के धर्मों का उल्लेख किया है-

    क) दो

    ख) तीन

    ग) चार

    घ) पांच

29. स्वांग किस प्रदेश का लोकनाट्य है?

    क) राजस्थान, हरियाणा और मध्यप्रदेश

    ख) गुजरात और महाराष्ट्र

    ग) उत्तर प्रदेश

    घ) जम्मु कश्मीर

30. राममन किस राज्य का लोकनृत्य है

  क) उत्तराखण्ड

  ख) हिमाचल

  ग) हरियाणा

  घ) पंजाब

(ब) प्रश्न संख्या 31 से 36 का उत्तर लगभग 25 शब्दों में दिया जाना है। **2×6=12**

31. भट्टलोल्लट के मतानुसार स्थायी भाव और रस में क्या अंतर है?

32. आचार्य भरत ने रस की उत्पत्ति किस प्रकार मानी है।

33. करुण और रौद्र रस के स्थायी भाव बताइए।

34. आचार्य भरत ने भावों को कितने भागों में विभक्त किया है? उनके नाम भी लिखिए।

35. स्थायी भाव क्या हैं?

36. आहार्य अभिनय क्या होता है?

(स) प्रश्न संख्या 37 से 38 का उत्तर लगभग 40-50 शब्दों में देना है। **3×2 = 6**

37. अभिनय के विभिन्न प्रकारों पर टिप्पणी लिखिए।

38. अभिनय में संगीत की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।

(द) प्रश्न संख्या 39 से 40 का उत्तर लगभग 150-200 शब्दों में दिया जाना है। **6×2=12**

39. नाट्य में सौंदर्य के रस तत्व पर विस्तार से चर्चा कीजिए। 5

40. मृच्छकटिक नाटक की कथावस्तु को विस्तारपूर्वक स्पष्ट कीजिए। 5

उत्तरमाला

1.	(क)	2.	(घ)	3.	(घ)	4.	(क)	5.	(ख)
6.	(ग)	7.	(क)	8.	(ग)	9.	(घ)	10.	(ग)
11.	(ग)	12.	(ख)	13.	(क)	14.	(ग)	15.	(घ)
16.	(घ)	17.	(ख)	18.	(ख)	19.	(ख)	20.	(ख)
21.	(क)	22.	(घ)	23.	(क)	24.	(ख)	25.	(क)
26.	(घ)	27.	(ग)	28.	(क)	29.	(क)	30.	(क)

31. भट्टलोल्लट के मतानुसार स्थायी भाव और रस का अन्तर यही है कि विभाव, अनुभाव आदि द्वारा परिपुष्ट हुआ स्थायी भाव ही रससंज्ञक होता है; किन्तु वे दोनों साक्षात् रूप से अनुकार्य राम आदि में रहते हैं और अनुकर्त्ता नट आदि में उनका अनुभव।

32. विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत ने अपने रससूत्र में रसानुभूति को रसनिष्पत्ति कहा है।

33. क्रोध और शोक

34. चार भागों में- स्थायी भाव, विभाव, अनुभव और संचारीभाव

35. स्थायी भाव प्रेक्षागृह में बैठे दर्शकों के हृदय में स्थायी रूप से विद्यमान होता है इसीलिए इन्हें स्थायी भाव कहा जाता है। प्रत्येक रस का अपना एक स्थाई भाव होता है जैसे- श्रृंगार का रति, हास्य का हास, रौद्र का क्रोध आदि।

36. आङ् उपसर्ग पूर्वक हृ धातु से ण्यत् प्रत्यय लगकर आहार्य शब्द बनता है, जिसका अर्थ है- शृंगार या आभूषा से संप्रेषित या प्रभावित। नाट्यदर्पणकार कहते हैं कि बाह्य वस्तुओं के द्वारा किया जाने वाला वर्ण आदि का अनुकरण आहार्य अभिनय कलाता है।

37. आंगिक आदि चार अभिनयों की स्वीकृति सभी नाट्याचार्यों ने प्रदान की है। इस दृष्टि से अभिनय के चार प्रकार सर्वग्राह्य हैं। वे हैं- आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। आंगिकादि चारों अभिनय नटराज शिव के चार रूप हैं, जिनके अधिष्ठाता स्वयं शिव ही हैं। चार प्रकार के अभिनय निम्न हैं-

    आंगिक-शरीर के विविध अंगों के द्वारा प्रदर्शित किया जाने वाला अभिनय।

    वाचिक-वाणी से सम्बन्धित अभिनय वाचिक अभिनय है। वाचिक अभिनय में वाणी के अभिनय की प्रधानता होती है।

आहार्य-आङ् उपसर्ग पूर्वक हृ धातु से ण्यत् प्रत्यय लगकर आहार्य शब्द बनता है, जिसका अर्थ है- शृंगार या आभूषा से संप्रेषित या प्रभावित। नाट्यदर्पणकार कहते हैं कि बाह्य वस्तुओं के द्वारा किया जाने वाला वर्ण आदि का अनुकरण आहार्य अभिनय कलाता है।

सात्त्विक-एकाग्र मन का नाम सत्त्व है तथा वह सत्त्व जिसका प्रयोजन अथवा हेतु है वह सात्त्विक होता है- अवहितं मनः सत्त्वं, तत् प्रयोजनं हेतुरस्येति सात्त्विकः। मन की स्थिरता न होने पर नट स्वरभेदादि का प्रदर्शन नहीं कर सकता है, इसलिए स्वरभेदादि अनुभावों का प्रदर्शन सात्त्विक अभिनय कहलाता है।

38. नाट्य के संदर्भ में संगीत के सोद्देष्य प्रयोग का उल्लेख हमें नाट्यशास्त्र में मिलता है। स्वयं ब्रम्हा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यर्जुवेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस तत्वों को ग्रहण कर नाट्य की उत्पत्ति की ऐसा उल्लेख इसके प्रथम अध्याय में प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि नाट्य के आरंभिक काल में संगीत एक अनिवार्य तत्व था जिसके बिना नाट्य की संकल्पना ही अधूरी थी। ऐसा माना गया है कि रंगमंच सभी कलाओं का समागम है। समस्त कलाओं के विकसित होने के बाद ही इस रंगमंच का प्रादुर्भाव हुआ है। जाहिर है कि संगीत भी उन विकसित कलाओं में से एक था। वास्तव में रंगसंगीत का तात्पर्य किसी नाट्यप्रस्तुति में दृश्य-विशेष के लिए अथवा संपूर्ण नाटक के लिए तैयार की गई संगीतबद्व रचना से है जिसमें गायन, वादन के साथ ध्वनि प्रभाव भी सम्मिलित हैं। कभी-कभी पूरा नाटक ही संगीत रचना पर आधारित होता है और कभी-कभी दृश्यों के आवश्यकतानुसार संगीत संयोजन किया जाता है। संगीत पार्श्व ध्वनि के माध्यम से दृश्य परिवर्तन करने आदि के लिए किया जाने लगा। इसका स्वरूप कभी लाइव तो कभी रिकॉर्डेड हुआ।

39. रस 'सौन्दर्यशास्त्र' का विशिष्ट भारतीय प्रमेय है। जिस प्रकार पाश्चात्य कला-चिन्तन की केन्द्रीय संकल्पना 'सौन्दर्य' है, जापान का कला-चिन्तन 'यूगेन' पर केन्द्रित है तथा चीनी कला-चिन्तन की मुख्य अवधारणा ध्वनि-बोधक है, उसी प्रकार भारतीय कला-चिन्तन का अपना विशिष्ट अन्वेषण रस है। काव्यानुभूति अथवा नाट्यानुभूति को संस्कृत वाङ्मय में 'रस' संज्ञा से अभिहित किया गया है।

आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा रस के स्वरूप-बोधक विशेषताओं का उल्लेख नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती टीका में किया गया है - चमत्कार, रसन, आस्वादन, भोग, लय, विश्रान्ति, समापत्ति आदि। इसके अतिरिक्त आचार्य विश्वनाथ द्वारा साहित्यदर्पण में रस का सत्वोद्रेक, अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, ब्रह्मस्वाद-सहोदर, लोकोत्तर, चमत्कार-प्राण, स्वाकारवत् अभिन्न, आस्वाद रूप आदि विशेषणों द्वारा निरूपिण किया गया है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में सर्वप्रथम काव्यशास्त्रीय रस-सिद्धान्त का सूत्रपात हुआ। यह एक व्यापक सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणा है जिसकी व्यापकता सम्पूर्ण काव्यशास्त्र में देखी जाती है। रस के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए नाट्यशास्त्र में वर्णित है कि रस के बिना कोई अर्थ प्रवर्तित हो ही नहीं सकता अर्थात् रस ही नाट्य का सारभूत तत्त्व है जिसको परवर्ती आचार्यों द्वारा काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया। भरत मुनि के अनुसार जिस प्रकार नाना व्यंजनों, औषधियों और द्रव्यों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है अथवा जिस प्रकार द्रव्यों, औषधियों या व्यंजनों में छः प्रकार के रस उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार कवि के हृदयगत स्थायीभाव विभिन्न प्रकार के भावों अर्थात् विभाव, अनुभाव, व्याभिचारिभाव के रूप को प्राप्त होने पर रसत्व को प्राप्त होते हैं। नाट्यशास्त्र के अर्न्तगत आठ रसों का उल्लेख किया गया है - श्रृंगार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्‌भुत। कालान्तर में अभिनवगुप्त आदि आचार्यों द्वारा शान्त को नौवें रस के रूप में सम्मिलित कर लिया गया। उनके मतानुसार रस का सम्बन्ध मानव जीवन के अन्तिम उनके मतानुसार

रस का सम्बन्ध मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष से हैं क्योंकि सभी प्रकार के काव्य (नाट्य) का आस्वादन अलौकिक है और ब्रह्मस्वाद के सदृश है, अतः शान्त रस को ही मूल रस मानना चाहिए। नाट्य का प्राणतत्त्व रस सौन्दर्यशास्त्र का भी प्रमुख तत्त्व है। वस्तुतः रस और सौन्दर्य एक दूसरे के पूरक हैं तथा नाट्य में रस की निष्पत्ति अथवा आस्वादन सौन्दर्य का चरम लक्ष्य माना जाता है। भारतीय नाट्य-परम्परा में नाटकों के अन्तर्गत एक अंगी अर्थात् प्रधान रस तथा अन्य गौण रस होते हैं जिसकी निष्पत्ति नाट्य के सौन्दर्य का चरमोत्कर्ष रूप होती है। यथा-अभिज्ञानशाकुन्तल नाट्य में कालिदास द्वारा श्रृंगार रस की प्रधानता निरूपित कर सौन्दर्यानुभूति एवं रसास्वादन का महानतम् उद्धरण प्रस्तुत किया गया है जो वर्तमानकालिक पाठकों एवं सहृदयों पर भी प्रभावशाली छाप अंकित करता दिखाई देता है।

40. मृच्छकटिकम् नाट्यशास्त्र में वर्णित रूपक के दस प्रकारों में से एक प्रकरण है। इस प्रकरण में कुल दस अंकों में कथानक को विभाजित किया गया है। मृच्छकटिक का नायक चारुदत्त है जो कि अत्यंत गुणी ब्राम्हण है और निध ेन है। इसकी नायिका वसंतसेना है जो कि रूपवती और गुणों से संपन्न परिगणिका है। मृच्छकटिक का मूल कथानक चारुदत्त और वसंत सेना के प्रणय कथा के इर्द-गिर्द बुना गया है। इसी प्रेम कथा में शूद्रक अपनी कल्पना से राज्य में एक नई क्रांति की दूसरी कथा को भी कुशलतापूर्वक जोड़ देते हैं। इस पूरे प्रकरण में वर्णित कथानक में एक महत्वपूर्ण घटना है जिसके आधार पर इस प्रकरण का नाम मृच्छकटिकम् रखा गया है-वसंतसेना द्वारा बालक की मिट्टी की गाड़ी में अपने स्वर्ण आभूषण को रखा जाना।

मृच्छकटिक की कथावस्तु के दो भाग हैं। पहले भाग में चारुदत्त और वसंत सेना की प्रेम कथा है और दूसरे भाग में राजविप्लव और आर्य को राज्य की प्राप्ति की कथा है। किसी भी प्रकरण का कथानक अलौकिक अथवा कवि की कल्पना से उत्पन्न होता है। इसका मुख्य रस श्रृंगार होता है। नायक ब्राह्मण, मंत्री अथवा व्यापारी में से कोई एक हो सकता है जो की धीरप्रशांत और विपरीत परिस्थितियों में भी धर्म, अर्थ और काम परायण होता है। प्रकरण की नायिका सामान्य स्त्री अथवा गणिका होती है। धूर्त, जुआरी, विट और चेट से भरा होता है। बाकी सारी बातें नाटक की ही तरह होती हैं। इस आधार पर यदि मृच्छकटिकम् का आंकलन करें तो इसकी कथावस्तु भी लोक आश्रित और कवि द्वारा कल्पित है। प्रधान रस श्रृंगार है। नायक चारुदत्त ब्राह्मण है किंतु दरिद्रता के कारण धर्म, अर्थ और काम की क्रिया में लगा हुआ है। वसंतसेना गणिका है तथा कुलस्त्री धूता है। यह दोनों ही नायिकाएँ हैं और बड़ी ही कुशलता के साथ शूद्रक ने इसमें धूर्त, जुआरी, विट और चेट की योजना की है।

विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्

राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान

(शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार के अंतर्गत एक स्वायत्त संस्थान)

ए-24-25, संस्थागत क्षेत्र, सेक्टर- 62, नोएडा - 201 309 (उत्तर प्रदेश)

वेबसाइट : www.nios.ac.in निर्मूल्य दूरभाष- 18001809393 आईएसओ 9001: 2008 प्रमाणित